सरल
गुरु ग्रंथ साहिब
एवं
सिख धर्म

जगजीत सिंह

विद्या विहार, नई दिल्ली

अकाल पुरुष को

अपनी बात

'गुरु ग्रंथ साहिब' पर सरल परिचयात्मक पुस्तक सुधी पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करने में मुझे एक आध्यात्मिक सुख और संतोष का अनुभव हो रहा है। 'गुरु ग्रंथ साहिब' कोई जीवनी या कथा अथवा घटनाप्रधान ग्रंथ नहीं है, बल्कि यह सिर्फ ईश्वर और जीवन-सिद्धांत की बात करनेवाली एक शुद्ध आध्यात्मिक कृति है। सिख गुरुओं के उल्लेख के बिना 'गुरु ग्रंथ साहिब' का कोई भी उल्लेख अधूरा है। अत: इस पुस्तक में मैंने 'गुरु ग्रंथ साहिब' की संरचना, स्वरूप, संगीत, सिद्धांत और दर्शन को गुरुवाणी के उद्धरणों सहित सारगर्भित रूप में प्रस्तुत करने के प्रयास के साथ-साथ दस सिख गुरुओं और इस पवित्र कृति के वाणीकार अन्य संतों-भक्तों का संक्षिप्त परिचय देकर तथा साथ ही सिख धर्म के बारे में बुनियादी जानकारी प्रदान करके प्रस्तुत पुस्तक को किंचित् ठोस रूप देने का प्रयास किया है। अंतिम अध्याय में मैंने गुरुवाणी-सागर से कुछ चुनिंदा रत्न सरल शब्दार्थ सहित विषयवार प्रस्तुत किए हैं, जिनसे जिज्ञासु पाठकों को और अधिक सरलता से 'गुरु ग्रंथ साहिब' के सिद्धांत को समझने में मदद मिलेगी। पुस्तक के लिए चित्र आदि उपलब्ध करवाने के लिए मैं दिल्ली गुरुद्वारा प्रबंधक समिति का आभारी हूँ। पुस्तक के आवरण के लिए अपने मित्र श्री इंद्रजीत और संदर्भ-सामग्री जुटाने में सहयोग के लिए श्री जे.पी. सिंह आनंद का भी मैं आभारी हूँ। विषय की गूढ़ता तथा गंभीरता के कारण पुस्तक में कतिपय त्रुटियाँ अथवा अशुद्धियाँ रह गई होंगी। आशा है, सुधी पाठक उनकी ओर ध्यान दिलाकर मेरा मार्गदर्शन करेंगे।

५९, कैलाश हिल्स, ईस्ट ऑफ कैलाश,
नई दिल्ली-११००६५

—जगजीत सिंह

ੴ

अनुक्रम

सिख धर्म का सिद्धांत, स्वरूप और व्यवहार

धर्म चाहे कोई भी हो, हर मनुष्य का धर्म उसके जीवन का आधार होता है। धर्म मनुष्य को न केवल शुद्ध, सात्त्विक और सार्थक जीवन जीने की युक्ति सिखाता है बल्कि सांसारिक समस्याओं का आध्यात्मिक समाधान भी प्रस्तुत करता है। दु:ख और संकट की घड़ी में धर्म मनुष्य को आत्मिक बल प्रदान करता है। इसी बल के बल पर धार्मिक मनुष्य बड़ी-से-बड़ी विपत्ति का सामना करते हुए खरे सोने की तरह तपकर बाहर निकलता है। बेशक विभिन्न धर्मों में ईश्वर के नाम और पूजा-पाठ के तरीके अलग-अलग हैं; लेकिन सभी धर्मों का उपदेश और उद्देश्य एक है—शुद्ध कर्म और नाम सुमिरन द्वारा ईश्वर की प्राप्ति। पाँचवें सिख गुरु और 'गुरु ग्रंथ साहिब' के संकलनकर्ता गुरु अर्जनदेवजी अपनी वाणी 'सुखमनी' में कहते हैं—

'सरब धरम महि स्रेस्ट धरमु।
हरि को नामु जपि निरमल करमु॥'

—अर्थात् हरि के नाम का जाप और शुद्ध कर्म करना ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है।

विश्व के सभी धर्मों में अति आधुनिक और अनूठा है सिख धर्म। यह धर्म सिर्फ एक ईश्वर में आस्था रखता है, इसलिए एकेश्वरवादी है। 'सिख' नाम संस्कृत के 'शिष्य' शब्द से ग्रहण किया गया। सिद्धांत और स्वरूप से सिख धर्म को माननेवाले व्यक्ति भारत की कुल आबादी का दो प्रतिशत से भी कम हैं; लेकिन गतिशीलता और उद्यमशीलता के अपने जन्मजात गुणों के कारण भारत के अलावा एक सौ बीस से अधिक देशों में बसे-फैले हुए हैं सिख।

स्थापना और पहचान चिह्न

सिख धर्म की नींव पंद्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में रखी गई। श्री गुरु नानकदेवजी इसके संस्थापक एवं दस सिख गुरुओं में पहले गुरु थे। आठवें गुरु श्री गुरु हरिकृष्ण को छोड़कर, जो बाल्यावस्था में गुरु बने और बाल्यावस्था में ही परलोक सिधार गए, दसवें गुरु श्री गुरु गोबिंद सिंह तक सभी नौ गुरुओं ने सामाजिक एवं गृहस्थ जीवन जीते हुए अध्यात्म के उच्चतम स्तर को प्राप्त

किया। सन् १६९९ की बैसाखी के दिन गुरु गोबिंद सिंह ने आनंदपुर साहिब में संगत से लिये पाँच प्यारों को अमृत की दीक्षा देकर खालसा पंथ सजाया और सिख धर्म को एक नई पहचान दी।

सिख की विशेष पहचान 'क' वर्ण से शुरू होनेवाले पाँच ककारों (धार्मिक चिह्न) से है। ये ककार हैं—केश, कंघा, कच्छा, कड़ा और कृपाण। गुरु गोबिंद सिंह द्वारा प्रत्येक सिख के लिए निर्धारित इन ककारों का अपना विशेष महत्त्व है। केश परमात्मा की देन और गुरु की निशानी हैं। इसलिए सिख के लिए केश काटना या कतरना वर्जित है। कंघा केशों की प्रतिदिन सफाई के लिए निर्धारित किया गया। कच्छा शरीर के गुप्तांगों को ढकने और सिख को सदा शुद्ध-सात्त्विक जीवन जीने का स्मरण करवाने के लिए है। चौथा ककार कड़ा हमेशा दाएँ हाथ में पहना जाता है। चूँकि हम सभी काम दाएँ हाथ से करते हैं, अत: दाएँ हाथ में पहना हुआ कड़ा सिख को सदा अच्छे कर्म करने की प्रेरणा और बुरे कर्मों से बचने की चेतावनी देता है। कृपाण आत्मरक्षा के साथ-साथ असहाय, दुर्बल और पीड़ितों की अत्याचार से रक्षा के लिए है।

अमृतपान

हर सिख के लिए अमृतपान करना अनिवार्य है। अमृतपान करने के लिए कोई न्यूनतम या अधिकतम आयु निर्धारित नहीं है। कोई भी व्यक्ति या सिख किसी भी उम्र में अमृतपान कर सकता है। इसे आम बोलचाल में 'अमृत छकना' कहते हैं। अमृतपान की रस्म अनिवार्य रूप से 'गुरु ग्रंथ साहिब' की हुजूरी में होती है। संगत में से कोई भी पाँच सिख, जिन्होंने पहले अमृतपान किया हुआ हो और जो पाँच प्यारे कहलाते हैं, अभिलाषी सिख को अमृत छकाने की रस्म पूरी करा सकते हैं। सिख धर्म के बुनियादी सिद्धांतों को माननेवाला, किसी भी देश या जाति का कोई भी स्त्री या पुरुष अमृत छक सकता है। अमृतपान के इच्छुक सिख पूर्ण स्नान करने के बाद ऊपर बताए गए पाँच ककार धारण करके 'गुरु ग्रंथ साहिब' की हुजूरी में पाँच प्यारों के सम्मुख हाजिर होते हैं और अमृत की याचना करते हैं। ये पाँच प्यारे लोहे के एक विशेष पात्र, जिसे 'बाटा' कहते हैं, में 'खांडा' (एक तरह की दुधारी कृपाण) चलाते हुए जल और बताशे का अमृत तैयार करते हैं और इस दौरान पवित्र गुरुवाणी का पाठ भी करते जाते हैं। अमृत तैयार होने के बाद अमृतपान की रस्म की अरदास होती है। उसके बाद अमृत छकाने की रस्म आरंभ होती है। अभिलाषी सिख वीर आसन की मुद्रा में पाँच प्यारों के सामने बैठते हैं। पाँच प्यारे पाँच-पाँच बार अमृत सिख के मुँह, आँखों तथा केशों में डालते हैं और उसे हर बार कहते हैं—'बोल, वाहेगुरुजी का खालसा, वाहेगुरुजी की फतह।' इसे अमृतपान करनेवाला सिख दोहराता है।

इसके बाद अमृतपान करनेवाले अर्थात् अमृतधारी सिख मूल मंत्र का पाठ करते हैं—

'एक ओंकार सतिनामु करता पुरखु निरभउ निरवैरु।
अकाल मूरति अजूनी सैभं गुर प्रसादि॥'

तत्पश्चात् पाँच प्यारों में से कोई एक सिख अमृतधारी सिखों को सिख धर्म के बुनियादी सिद्धांत बताता है। उन्हें बताया जाता है कि आज से आपकी पिछली जाति, कुल, गोत्र, मजहब समाप्त हुआ। अब आपके धार्मिक पिता गुरु गोबिंद सिंह और धार्मिक माता साहिब कौर हैं। आपका जन्म-स्थान केशगढ़ साहिब है और आप आनंदपुर के वासी हुए। आप सभी एक ही पिता के पुत्र होने के नाते आपस में और सभी अमृतधारी सिखों के धार्मिक भाई हैं। एक अकाल पुरुष के अलावा आप किसी भी अन्य देवी-देवता, अवतार या पैगंबर की पूजा नहीं करेंगे। प्रतिदिन नियम से इन वाणियों का पाठ करेंगे—जपुजी, जाप साहिब, सवैये, सोदर रहिरास एवं सोहिला। अमृतधारी सिखों को यह आदेश भी दिया जाता है कि वे पाँच ककार हमेशा धारण करेंगे और चार कठोर वर्जित बातों (कुरहितों) का सख्ती से पालन करेंगे। ये हैं—

१. केश नहीं काटने।

२. हलाल (कुठा) नहीं खाना।

३. पराई स्त्री या पराए पुरुष का गमन नहीं करना।

४. तंबाकू का सेवन नहीं करना।

उक्त नियमों में से सिख के हाथों जाने-अनजाने में अगर किसी नियम का उल्लंघन हो जाए तो वह पुन: पाँच प्यारों के समक्ष हाजिर होकर की गई या हुई गलती के लिए क्षमा की याचना कर सकता है। पाँच प्यारे आपस में मंत्रणा करके प्रार्थी सिख को उपयुक्त दंड लगाते हैं, जिसे 'तंखाह लगाना' कहते हैं। इसमें गुरुद्वारे के लंगर में जूठे बर्तन माँजने, पानी पिलाने आदि जैसी सेवा से लेकर आर्थिक दंड तक, जो गुरुद्वारे की गुल्लक में जाता है, कोई भी दंड हो सकता है। सजा पूरी कर लेने पर अरदास करके उसकी भूल बख्श दी जाती है और भविष्य में ऐसी कोई भी भूल दोबारा न करने की चेतावनी दी जाती है।

सिख का जीवन

सिख का जीवन दो प्रकार का माना गया है—१. वैयक्तिक और २. पंथिक।

वैयक्तिक जीवन

प्रत्येक सिख के लिए यह आवश्यक है कि वह प्रात:काल पौ फटने से पहले जागकर स्नान करे और एक अकाल पुरुष का सुमिरन करते हुए 'नितनेम' (दैनिक नियम) की वाणियों का पाठ

करे। इन वाणियों में 'जपुजी', 'जाप साहिब' और 'सवैये' (कुल दस) प्रातःकाल पढ़ी जानेवाली वाणियाँ हैं। 'सोदर रहिरास' की वाणी का पाठ शाम को सूरज ढलने के बाद और 'सोहिला' का पाठ रात को सोते समय करने का विधान है।

वाणियों का पाठ संपूर्ण करने के बाद सिख के लिए खड़े होकर और (जहाँ 'गुरु ग्रंथ साहिब' मौजूद है वहाँ ग्रंथ साहिब के समक्ष) दोनों हाथ जोड़कर 'अरदास' करना अनिवार्य है। अरदास सिख की प्रार्थना का नाम है। सिख की अरदास '**इक ओंकार श्री वाहेगुरुजी की फतह**' से आरंभ होती है और '**नानक नाम चढ़दी कला, तेरे भाणे सरबत दा भला**' वाक्य से समूची मानव जाति के कल्याण की कामना के साथ समाप्त होती है। हर दैनिक अरदास में सभी दस गुरुओं, पाँच प्यारों, गुरु गोबिंद सिंह के चार साहिबजादों, ऋषियों, शहीदों इत्यादि को याद किया जाता है। अरदास सिख की आँखों के सामने उसके धर्म के गौरवपूर्ण इतिहास की संक्षिप्त झाँकी पेश करती है और यह बताती है कि किस प्रकार गुरुओं और उनके प्यारे शहीदों ने सबकुछ कुरबान करके अपने धर्म की रक्षा की और हमें स्वाभिमान के साथ जीने की प्रेरणा दी। अरदास का सिख के जीवन में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। कोई भी शुभ कार्य आरंभ करने से पहले उसकी सफलता और निर्विघ्न समाप्ति के लिए अरदास की जाती है। सिख अपनी अरदास खुद कर सकता है।

केवल एक गुरु

सिख दस गुरुओं और उनकी जागती ज्योति 'गुरु ग्रंथ साहिब' के अलावा अन्य किसी देहधारी व्यक्ति को गुरु नहीं मानता। वह जात-पाँत, छुआछूत, तंत्र-मंत्र, शकुन-अपशकुन, तिथि-मुहूर्त, व्रत, श्राद्ध, तर्पण इत्यादि में विश्वास नहीं रखता। सिर्फ गुरुद्वारे के अलावा सिख किसी मठ, मसाण (श्मशान), समाधि इत्यादि में पूजा के लिए नहीं जाता। वह गुरु के उपदेश '**मन नीवां मति उच्ची**' को सदा ध्यान में रखता है और मन से विनम्र रहते हुए मस्तिष्क में हमेशा उच्च विचार रखता है।

सिख धर्म का मूल सिद्धांत है—नाम जपो, किरत्त करो और वंड छको अर्थात् हमेशा प्रभु का नाम जपो, जीवन-व्यवसाय में मेहनत से काम करो और अपनी कमाई का एक हिस्सा गरीबों तथा जरूरतमंद लोगों के लिए दान करो। गुरु नानकदेवजी परिश्रम की कमाई और उसमें से दिए गए दान की महिमा तथा महत्त्व का बखान करते हुए कहते हैं—'**घाल खाइ किछु हथहु देइ, नानक राहु पछाणहि सेइ।**' इसका मतलब है कि जो व्यक्ति परिश्रम करके खाता है और अपनी नेक कमाई का कुछ हिस्सा दूसरों की मदद के लिए निकालता है वह ईश्वर-प्राप्ति के मार्ग को पा लेता

है। सिख के लिए अपने वैयक्तिक जीवन में गुरु की इस शिक्षा तथा सिद्धांत पर अमल करना आवश्यक है।

गुरु, गुरुद्वारा और गुरुवाणी

गुरु—सिख धर्म और उसके अनुयायी प्रत्येक सिख के जीवन में 'गुरु' का सर्वोच्च स्थान है तथा वह 'सतिगुरु' के नाम से भी जाना तथा पूर्ण आदर-सम्मान के साथ संबोधित किया जाता है। सिख के लिए गुरु-सतिगुरु इष्ट भी है, आराध्य भी। गुरु कृपा का सागर भी है और भवसागर से मुक्ति दिलानेवाला दाता भी। गुरु सिख की शुभ इच्छाएँ भी पूरी करता है और उसके लिए वह शक्ति का स्रोत भी है। उसके लिए गुरु सुखदाता भी है और दु:ख तथा भय का नाश करनेवाला भी। गुरु का अनुयायी सिख कभी किसी भ्रम, अंधविश्वास तथा विषय-वासना का शिकार नहीं होता। गुरु पर अटल और अडिग विश्वास रखनेवाला सिख किसी भी संकट या चुनौती से नहीं डरता या घबराता। बल्कि 'चढ़दी कला' (ऊँचा मनोबल) में रहकर हिम्मत, दृढ़ता एवं बहादुरी के साथ हर संकट या चुनौती का डटकर सामना करता है। गुरु की इन्हीं विशेषताओं के कारण सिख की आत्मा गुरु के दर्शन के लिए चात्रिक (चकवा) की तरह तड़पती है। आध्यात्मिक तृष्णा और प्यास नहीं बुझती, मन शांत नहीं होता और हर पल गुरु के दर्शन-दीदार के लिए लालायित रहता है। गुरु के दर्शन से मन-तन ही प्रसन्न नहीं होता बल्कि जन्म-मरण के दु:ख भी समाप्त हो जाते हैं; क्योंकि गुरु ही उसे आध्यात्मिक ज्ञान और परम सत्ता को प्राप्त करने का मार्ग दिखाता है।

दस शरीर एक ज्योति—दृश्य रूप से सिख धर्म में भले ही दस गुरु हैं, लेकिन सिद्धांत की दृष्टि से सभी दस गुरुओं में अखंड और अलौकिक ज्योति एक ही है। यह ज्योति गुरु नानकदेव की है, जो बारी-बारी से उनके बाद के गुरुओं में प्रविष्ट और प्रदीप्त होती रही। सिख धर्म में व्यक्ति-गुरु की परंपरा सन् १४६९ में गुरु नानकदेव के प्रकाश (जन्म) से शुरू होकर गुरु गोबिंद सिंह तक अनवरत रूप से जारी रही। सन् १७०८ में परलोक गमन से पूर्व गुरुजी ने ग्रंथ साहिब को शाश्वत (स्थायी) गुरु की पदवी प्रदान की और व्यक्ति-गुरु की दो सौ उनतालीस वर्ष पुरानी परंपरा को समाप्त कर दिया। सिखों को गुरु गोबिंद सिंह ने स्पष्ट आदेश दिया—

'आगिआ भई अकाल की, तभी चलाइओ पंथ।
सब सिखन को हुकम है, गुरु मानिओ ग्रंथ॥
गुरु ग्रंथ जी मानिओ, प्रगट गुरां की देह।
जो प्रभि कउ मिलबो चहै, खोज शबद मे लेह॥'

—अर्थात् सभी सिखों को आदेश है कि (हमारे बाद) वे 'गुरु ग्रंथ साहिब' को ही प्रकट गुरु मानें

और जो सिख प्रभु को मिलना चाहे वह 'गुरु ग्रंथ साहिब' के शबद (पवित्र वाणी) में प्रभु की खोज कर ले।

गुरुद्वारा

शाब्दिक रूप से गुरुद्वारा का अर्थ है—गुरु का द्वार अथवा गुरु का घर। गुरुवाणी का पवित्र कथन है—'**जित्थे जाए बहे मेरा सतिगुरु सु थान सुहावा**', अर्थात् वह हर स्थान पवित्र है जहाँ मेरे गुरु के चरण पड़े! सिख गुरुओं का जिस स्थान पर जन्म हुआ, अपने जीवन काल में महान् गुरु जहाँ-जहाँ गए और संगत को उपदेश दिया, गुरुओं ने जहाँ-जहाँ किसीका उद्धार किया, जहाँ-जहाँ गुरुओं ने अपने जीवन का अंतिम समय बिताया और जहाँ-जहाँ वे स्वर्ग सिधारे वे सभी स्थान गुरुओं की याद से जुड़कर पवित्र और सिखों के लिए पूज्य हो गए। पर उस समय ऐसे सभी स्थानों को 'गुरुद्वारा' नहीं, 'धर्मशाला' कहा जाता था। इसी प्रकार गुरु नानकदेव के समय में धर्म के प्रचार के लिए जो केंद्र स्थापित किए गए, वे केंद्र भी धर्मशाला कहलाए। गुरु गोबिंद सिंह द्वारा सन् १७०८ में 'गुरु ग्रंथ साहिब' को गुरु की पदवी देने के बाद जिस किसी स्थान पर भी इस पवित्र ग्रंथ का प्रकाश (स्थापना) हुआ, वह स्थान गुरुद्वारा हो गया।

आज गुरुद्वारा से तात्पर्य सिखों के उस धार्मिक केंद्र से है जहाँ 'गुरु ग्रंथ साहिब' का प्रकाश
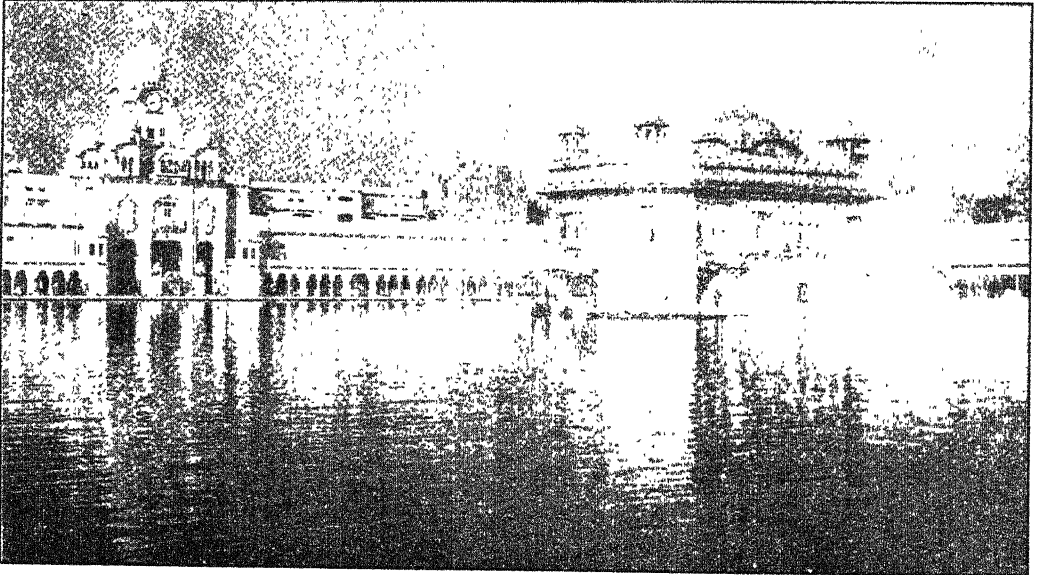
स्वर्ण मंदिर—सारी मानव जाति का महान् तीर्थ

होता है, सुबह-शाम 'गुरु ग्रंथ साहिब' का पाठ, कथा और कीर्तन होता है। गुरुओं के प्रकाश उत्सव, शहीदी दिवस, परलोक गमन दिवस मनाए जाते हैं तथा बेसहारों को सहारा दिया जाता है।

सिखों के अनेक गुरुद्वारों के साथ सिख धर्म का इतिहास जुड़ा हुआ है। ऐसे गुरुद्वारों को ऐतिहासिक गुरुद्वारे कहा जाता है। इनका प्रबंधन कानूनी रूप से बनी हुई समितियाँ चलाती हैं। जैसे—पंजाब के ऐतिहासिक गुरुद्वारों की प्रबंध व्यवस्था शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी (एस.जी.पी.सी.) और दिल्ली के ऐतिहासिक गुरुद्वारों की प्रबंध व्यवस्था दिल्ली गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी (डी.जी.पी.सी.) करती है।

भारत तथा भारत से बाहर अन्य देशों में जहाँ-जहाँ सिख गुरु गए, उनकी याद में वहाँ भव्य गुरुद्वारे कायम हैं। इनमें सबसे प्रसिद्ध तथा प्रमुख है अमृतसर का हरिमंदिर साहिब, जो पूरे विश्व में स्वर्ण मंदिर (गोल्डन टेंपल) के नाम से जाना जाता है। इसका निर्माण पाँचवें गुरु श्री गुरु अर्जनदेव ने करवाया। संवत् १६४० विक्रमी में गुरुजी ने हरिमंदिर साहिब की नींव एक मुसलमान पीर साँई मियाँ मीर से रखवाकर सर्वधर्म समभाव की एक आदर्श और अनूठी मिसाल कायम की। धर्मनिरपेक्षता की दूसरी मिसाल गुरु अर्जनदेव ने कायम की हरिमंदिर साहिब की चारों दिशाओं में चार द्वार बनवाकर। ये चार द्वार इस बात के प्रतीक थे कि हरि के इस मंदिर के चारों दरवाजे चारों वर्णों (यानी क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और ब्राह्मण) के लोगों के लिए खुले रहेंगे और धर्म, जाति, भाषा, वर्ण आदि के नाम पर यहाँ किसीके साथ कोई भेदभाव नहीं होगा। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में महाराजा रणजीत सिंह ने हरिमंदिर साहिब को सोने से मढ़वाया। तभी से यह पवित्र स्थल 'स्वर्ण मंदिर' के नाम से लोकप्रिय हो गया।

सिख धर्म के कुछ अन्य प्रसिद्ध ऐतिहासिक गुरुद्वारे हैं—ननकाणा साहिब (पाकिस्तान में गुरु नानकदेव का जन्म-स्थान), डेरा साहिब (लाहौर में गुरु अर्जनदेव का शहीदी स्थान), गुरु की वडाली (अमृतसर में छठे गुरु श्री गुरु हरिगोबिंद का जन्म-स्थान), गुरु के महल (अमृतसर में नौवें गुरु श्री गुरु तेगबहादुर का जन्म-स्थान), शीशगंज (दिल्ली में गुरु तेगबहादुर का शहीदी स्थान), गुरुद्वारा रकाबगंज (दिल्ली, गुरु तेगबहादुर के धड़ का अंतिम संस्कार यहीं हुआ), फतेहगढ़ साहिब (सरहिंद, गुरु गोबिंद सिंह के दो छोटे साहिबजादों—बाबा जोरावर सिंह और बाबा फतेह सिंह—को यहाँ जिंदा दीवार में चिनवा दिया गया) और बाला साहिब (दिल्ली, बाला प्रीतम के नाम से पूज्य आठवें गुरु गुरु हरिकृष्णजी के पार्थिव शरीर का अंतिम संस्कार यहीं हुआ)।

पाँच तख्त

फारसी भाषा के शब्द 'तख्त' का अर्थ है शाही सिंहासन। सिख धर्म के पाँच तख्त हैं—

अकाल तख्त, तख्त श्री पटना साहिब, तख्त श्री केसगढ़ साहिब, तख्त श्री हुजूर साहिब तथा तख्त श्री दमदमा साहिब।

सभी पाँचों तख्तों में सर्वोच्च अकाल तख्त अमृतसर में स्वर्ण मंदिर के ठीक सामने स्थित है। इसका निर्माण छठे गुरु श्री गुरु हरिगोबिंद ने संवत् १६६५ में आरंभ करवाया। गुरुजी ने भक्ति के साथ शक्ति को जोड़ने के लिए अकाल तख्त को शक्ति की प्रेरणा देनेवाला केंद्र बनाया। सिख धर्म की सभी महत्त्वपूर्ण समस्याओं का फैसला अकाल तख्त पर होता है। इस पवित्र स्थल से जारी किए गए हुक्मनामे (धार्मिक आदेश) पूरे सिख पंथ पर लागू होते हैं। बिहार की राजधानी पटना में स्थित तख्त श्री पटना साहिब दूसरा तख्त व गुरु गोबिंद सिंह का जन्म-स्थान है। आनंदपुर साहिब में स्थित केसगढ़ साहिब तीसरा तख्त है। इसी स्थान पर सन् १६९९ में गुरु गोबिंद सिंह ने पाँच
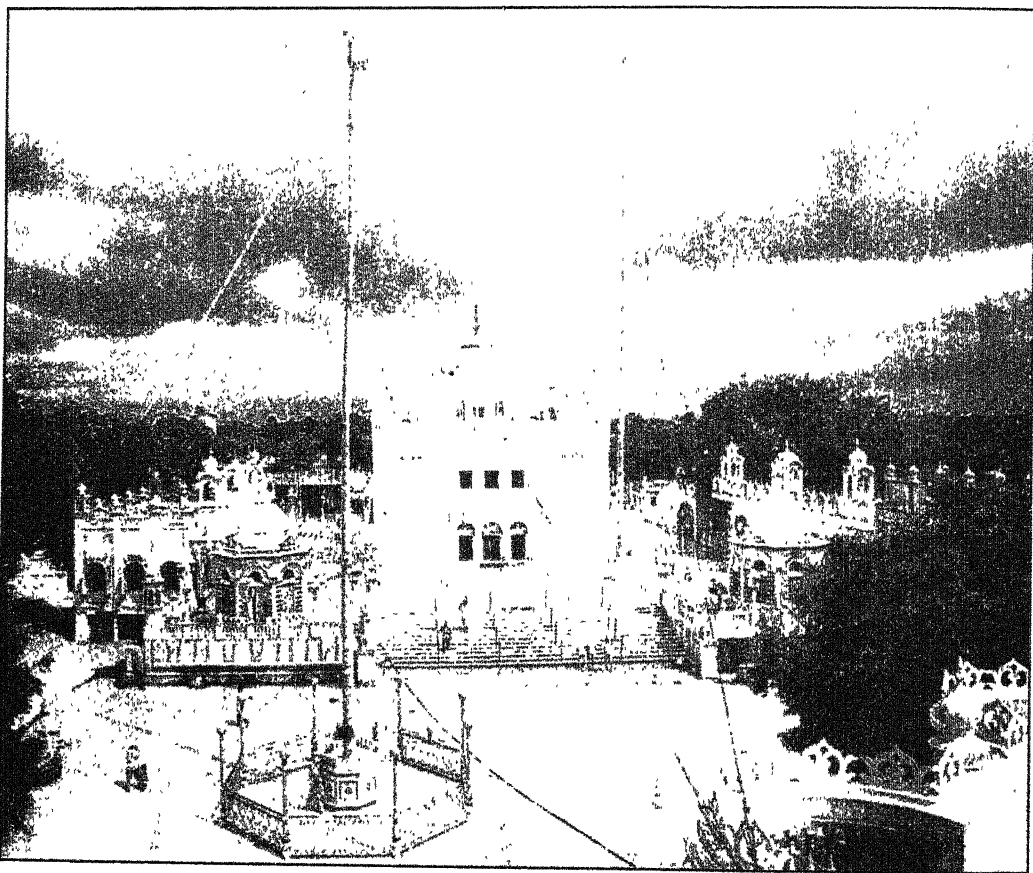
तख्त श्री हुजूर साहिब (नांदेड़, महाराष्ट्र) जहाँ गुरु गोबिंद सिंह परलोक सिधारे
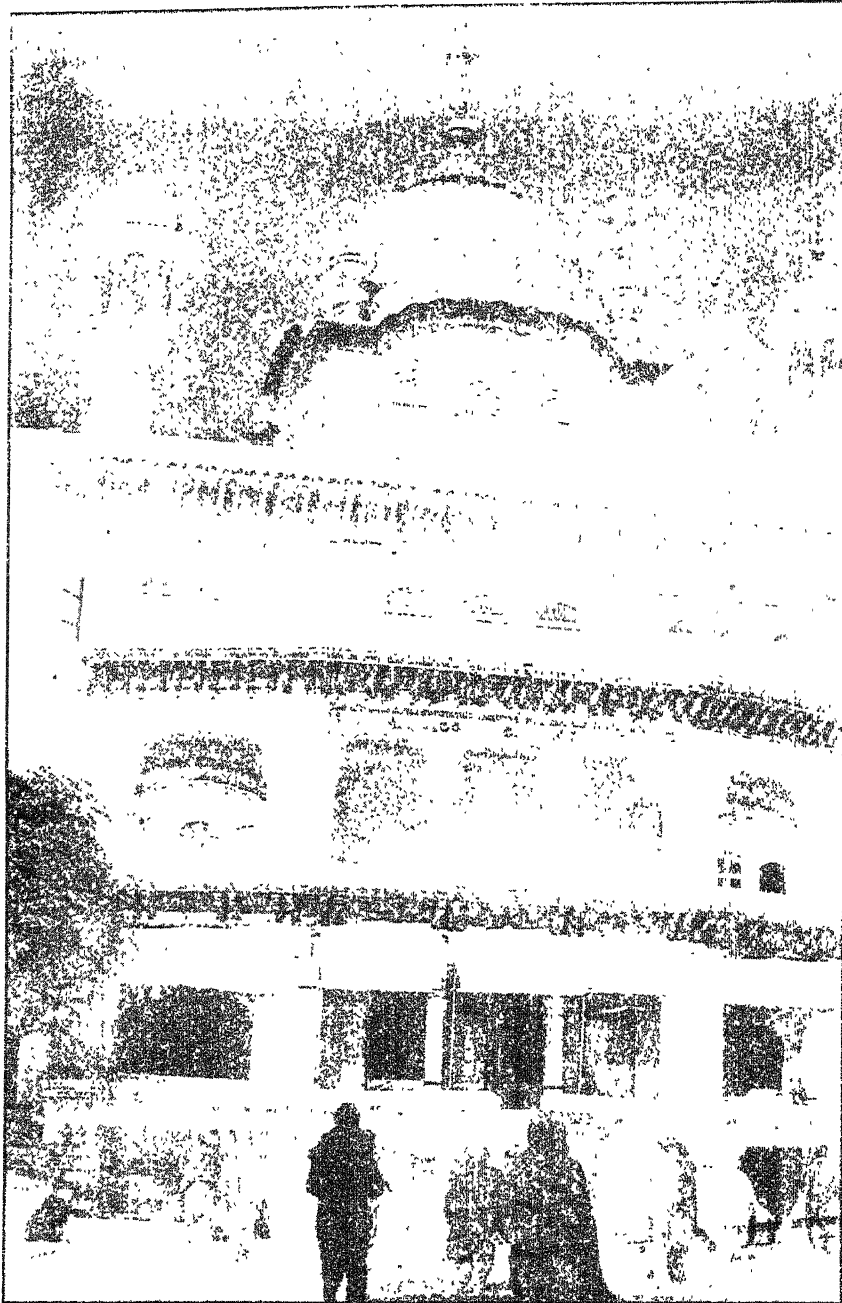
अकाल तख्त साहिब : सिख पंथ का सर्वोच्च तख्त
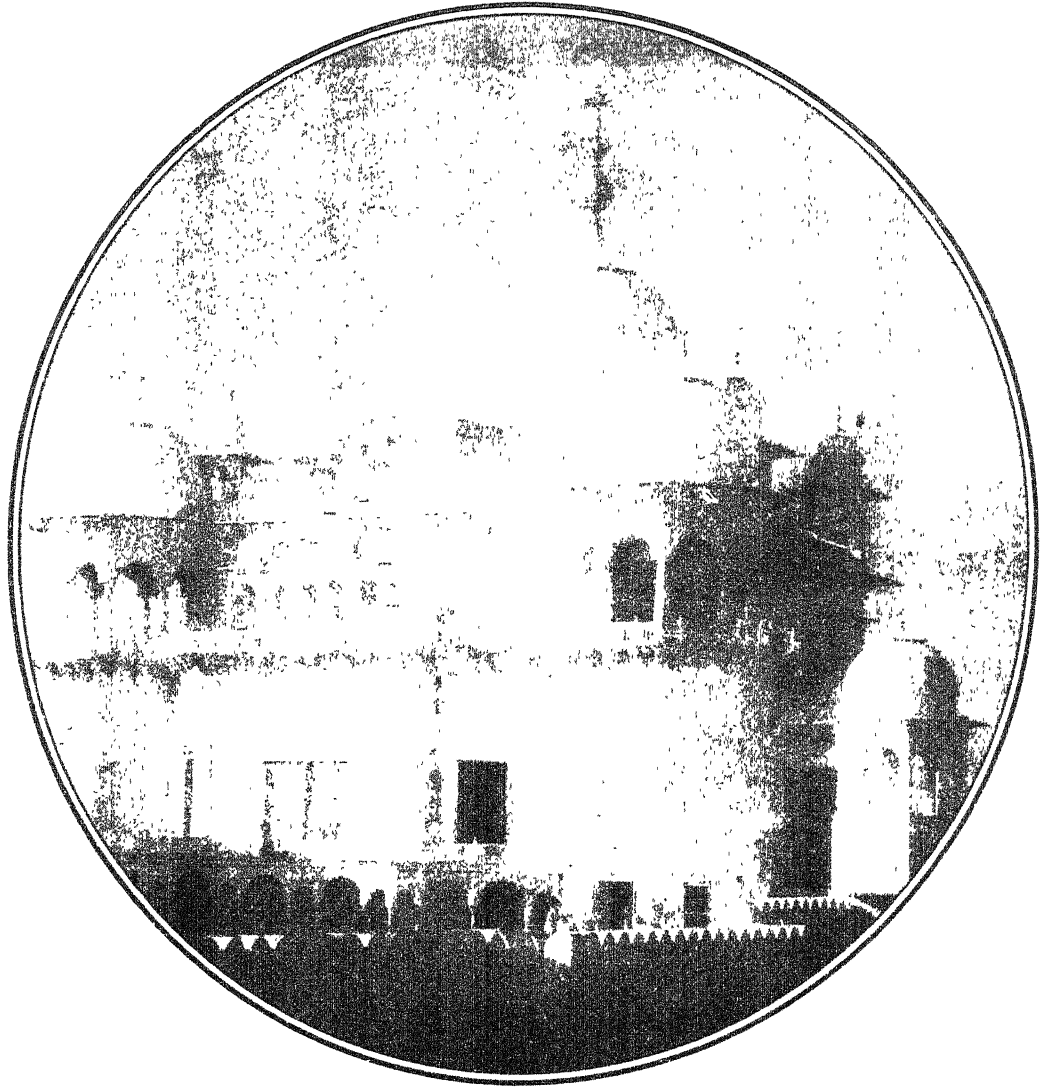
तख्त केसगढ़ साहिब, जहाँ सन् १६९९ में खालसा पंथ की स्थापना हुई

प्यारों को अमृतपान करवाकर खालसा पंथ की स्थापना की थी और सिख पंथ को नई दिशा दी। सुदूर महाराष्ट्र में नांदेड़ में गोदावरी नदी के किनारे पर स्थित हुजूर साहिब सिख धर्म का चौथा तख्त है। इसी स्थान पर सन् १७०८ में गुरु गोबिंद सिंह परलोक सिधारे और परमज्योति में विलीन हुए। यह तख्त सचखंड तथा अबचल नगर के नाम से भी जाना जाता है। पाँचवाँ तथा अंतिम तख्त दमदमा साहिब जिला भटिंडा, पंजाब में स्थित है और 'साबो की तलवंडी' के नाम से भी जाना जाता है। इस स्थान पर गुरु गोबिंद सिंह ने भाई मनी सिंह के सहयोग से गुरु तेगबहादुर की वाणी को 'गुरु ग्रंथ साहिब' में दर्ज करके इस पवित्र ग्रंथ को अंतिम रूप दिया था।

गुरुवाणी

गुरु के पवित्र मुख से उच्चरित वाणी ही 'गुरुवाणी' है। सिख धर्म में गुरुवाणी का ही दूसरा नाम 'शबद' (सबद) या 'गुरु-शबद' है। गुरुवाणी वह तत्त्व ज्ञान है जो गुरुओं ने अकाल पुरुष परमपिता परमात्मा के साथ अपनी आत्मा को जोड़कर तथा एकाकार होकर प्राप्त किया। 'गुरु ग्रंथ साहिब' में इस तत्त्व ज्ञान को 'ब्रह्म विचार' कहा गया है। ब्रह्म विचार इसलिए, क्योंकि यह कोई साधारण गीत या काव्य नहीं, जो किसी व्यक्ति या व्यवस्था (राजतंत्र आदि) को रिझाने के लिए लिखा गया हो। गुरुवाणी ऐसा काव्य भी नहीं है जिसकी रचना आम सांसारिक काव्यों की तरह कल्पना के आधार पर की गई हो, बल्कि यह तो वह शबद (सबद) है जो सीधे परमात्मा लोक से आया। ये शबद (सबद) प्रभुपिता परमात्मा के अपने विचार हैं। प्रभु ने ये विचार गुरुओं के श्रीमुख से कहलवाए या प्रकट किए, जैसाकि गुरु अर्जनदेव फरमाते हैं—

'हउ आपहु बोलि न जाणदा।
मै कहिआ सभु हुकमाउ जीउ॥'

इसी प्रकार गुरु नानकदेवजी भी फरमाते हैं कि ये वचन या शबद (सबद) हमारे अपने नहीं, बल्कि ये तो 'खसम' (ईश्वर) की वाणी हैं। हम तो केवल उसके आदेश का पालन करते हुए उनका उच्चारण मात्र कर रहे हैं—

'जैसी मै आवै खसम की बाणी।
तैसड़ा करि गिआनु वे लालो॥'

सिख गुरुओं ने केवल वाणी का उच्चारण या रचना ही नहीं की बल्कि वाणी को अपने जीवन में भी ढाला, उसपर अमल करके दिखाया। उदाहरण के तौर पर, गुरुवाणी में अनेक जगह 'सेवा' का उच्च महत्त्व बताते हुए मनुष्यमात्र को सेवा का उपदेश तथा प्रेरणा दी गई है। गुरुओं ने स्वयं अथक सेवा की कमाई करते हुए गुरु की उच्चतम आध्यात्मिक पदवी प्राप्त की। इसी प्रकार अपनी वाणी

में अगर उन्होंने सहिष्णुता और शांतिप्रियता का संदेश दिया तो खुद भी सहिष्णु रहकर गुरु अर्जनदेव और तेगबहादुर धर्म एवं सत्य की रक्षा के लिए वक्त के शासकों के हाथों शहीद हो गए। घोर कष्ट तथा यातनाएँ दिए जाने पर भी मुँह से उफ तक नहीं की, बल्कि ईश्वर को संबोधित करते हुए कहा—'**तेरा कीआ मीठा लागे**'।

गुरुवाणी व्यक्ति के अशांत, चंचल, दु:खी तथा उदास मन को शीतलता, शांति तथा एकाग्रता प्रदान करती है; हृदय में ज्ञान का प्रकाश और अज्ञान का विनाश करती है। गुरुवाणी में तीन बातों का विशेष वर्णन है—१. सर्व साँझी सच्चाइयाँ, २. नाम, नामी तथा कहीं-कहीं नाम का जाप करनेवालों का वर्णन और ३. शुद्ध और सात्त्विक जीवन जीने के लिए दिशा, नियम तथा सिद्धांत।

पंथिक जीवन

सिख धर्म में व्यक्ति से ज्यादा महत्त्वपूर्ण पंथ है। पंथ सिख मत में दीक्षित सभी सिखों से मिलकर बना है। हर सिख इस पंथ का सदस्य है। सिख धर्म के सभी मसले पंथ ही तय (हल) करता है। पेचीदा मसले 'सरबत खालसा' बुलाकर आम सहमति से हल किए जाते हैं। पंथिक एकता तथा शक्ति के बल पर सिख समुदाय ने पिछले चार सौ से अधिक वर्षों में अत्याचारी और दमनकारी शासकों के विरुद्ध कई धर्मयुद्ध लड़े और उनमें विजय हासिल की।

संगत और पंगत

विश्व के लगभग सभी धर्मों और धर्मग्रंथों में व्यक्ति के चरित्र-निर्माण, पतित के उद्धार और मुक्ति के लिए 'संगत' के महत्त्व पर काफी जोर दिया गया है। लेकिन सिख धर्म पहला धर्म है जिसने संगत के साथ-साथ 'पंगत' को भी जोड़ा। पंगत का अर्थ है गुरुद्वारे में लंगर (मुफ्त भोजन) वाले स्थान पर ऊँच-नीच, जात-पाँत, अमीर-गरीब का भेदभाव किए बिना सभी श्रद्धालुओं द्वारा फर्श पर एक ही पंक्ति ('पंगत' शब्द पंक्ति से ही बना है) में बैठकर प्रेम तथा श्रद्धा भाव से लंगर खाना या 'छकना', जैसाकि पंजाबी में प्रचलित रूप से कहा जाता है।

पंगत की आवश्यकता और शुरुआत के पीछे एक पूरी सामाजिक पृष्ठभूमि है। मध्य काल में भारतीय समाज जातियों में बँटा हुआ था। ऊँची जाति के लोग तथाकथित छोटी जाति के लोगों को तिरस्कार की दृष्टि से देखते थे। उनके साथ खाना तो दूर, उठना-बैठना भी पसंद नहीं करते थे। मानव-मानव के बीच इस घोर अमानवीय भेदभाव को मिटाने के लिए गुरु नानकदेव ने संगत के साथ पंगत की क्रांतिकारी और समाज-सुधारवादी परंपरा शुरू की। इसका उद्देश्य था—लोगों में इनसानी बराबरी और भाईचारे की भावना पैदा तथा विकसित करना।

लोगों के मन-मस्तिष्क से अहंकार, अमीर-गरीब, ऊँच-नीच की भावना पूरी तरह से समाप्त करने के उद्देश्य से तीसरे गुरु श्री गुरु अमरदास ने गुरु-दरबार का नियम बना दिया—पहले पंगत, पीछे संगत। यानी गुरुजी के दर्शन और दरबार में सत्संग की इजाजत तभी मिलती जब व्यक्ति पहले लंगर में सबके साथ एक ही पंक्ति में बैठकर भोजन कर लेता।

'साखी' (सच्ची घटना) है कि एक बार बादशाह अकबर ने, जो गुरु-घर का परम श्रद्धालु था, आकर गुरु अमरदास के दर्शन करने की इच्छा जाहिर की। उसे भी कहा गया कि गुरु-दरबार का सबके लिए एक ही नियम है—पहले पंगत, पीछे संगत। चूँकि अकबर सच्चे मन से गुरु अमरदास के दर्शन के लिए आया था, इसलिए कुछ देर के लिए यह भूलकर कि 'मैं बादशाह हूँ', लंगर-स्थान पर जाकर आम श्रद्धालु की तरह लंगर ग्रहण किया और इस व्यवस्था से बहुत प्रभावित हुआ। इसके बाद वह गुरुजी के दर्शन करके प्रसन्न मन से राजमहल लौटा।

भारत के सामाजिक परिवर्तन और सुधार में लंगर प्रथा का अमूल्य योगदान है। मध्य काल में आरंभ हुई यह प्रथा आज आधुनिक काल में भी बदस्तूर कायम है और गुरुद्वारों में दोनों वक्त अमीर श्रद्धालु, अपंग, असहाय, गरीब, साधनहीन व्यक्ति गुरु के प्रसाद के रूप में लंगर छकते (खाते) हैं। लंगर के लिए श्रद्धालु अपनी सामर्थ्य के अनुसार तन, मन और धन से सेवा करते हैं। कभी-कभी विशेष अवसर पर किसी गुरुद्वारे में किसी एक व्यक्ति या परिवार द्वारा श्रद्धावश पूरे लंगर की व्यवस्था की जाती है। इसके बावजूद वह 'गुरु का लंगर' कहलाता है, व्यवस्था करनेवाले व्यक्ति या परिवार विशेष का नहीं।

अब संगत की बात करें। हर मनुष्य का मन संगत की इच्छा रखता है। संगत में विचरण करना, उठना-बैठना मनुष्य की सहज प्रवृत्ति है। संगत की रंगत मनुष्य पर बहुत जल्दी चढ़ती है। इसलिए सभी धर्मशास्त्र और ग्रंथ मनुष्य को अच्छी संगत से जुड़ने और बुरी से बचने या उसका त्याग करने का उपदेश देते हैं।

सिख गुरुओं ने अपनी वाणी में संगत या साध संगत (साधु जनों का संग) के महत्त्व पर काफी जोर दिया है। गुरुवाणी के अनुसार, साधु या संत जनों की संगत करने से मनुष्य के सभी पाप धुल जाते हैं, मन गंगाजल की तरह निर्मल हो जाता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह तथा अहंकार नामक पाँच विकार नियंत्रण में आते हैं। मन से अहं भाव (घमंड) की मैल उतर जाती है और उसके स्थान पर प्रभु के नाम का रंग चढ़ना शुरू हो जाता है। साधु जनों की संगत से अड़सठ तीर्थों के स्नान जितना पुण्य प्राप्त होता है, नाम सुमिरन की विधि आती है और इधर-उधर भटकता हुआ मन प्रभु-भक्ति और बंदगी में स्थिर हो जाता है और इस प्रकार अंतत: व्यक्ति भवसागर को पार करके मुक्त हो जाता है—

'करि संगति तू साध की, अठि सठि तीरथ नाउ।
जीउ प्राण मनु तनु हरे, साचा एहु सुआउ॥'

लेकिन गेरुए अथवा सफेद वस्त्र धारण कर लेने, संसार छोड़कर जंगल, पर्वत या गुफा में निवास करने और माँगकर खाने से ही कोई साधु या संत नहीं बन जाता। गुरुवाणी ऐसे दंभी व पाखंडी साधु-संतों की संगत से बचने की चेतावनी देती है। तो फिर सच्चे साधु-संत की पहचान क्या है? गुरुवाणी में कहा गया है—

'जिनां सासि ग्रास न विसरै, हरिनामा मनि मंत।
धनु सि सेई नानका, पूरन सेई संत॥'

—अर्थात् जो व्यक्ति हर पल हरि के नाम का स्मरण-ध्यान करता है, वह धन्य है और वही पूर्ण संत भी है। इसी प्रकार वह व्यक्ति साधु तथा वैरागी है जिसने अपने हृदय से अहंकार का त्याग करके उसमें प्रभु का नाम बसा लिया है—

'सो साधु बैरागी हिरदे नाम वसाए।
× × ×
विचहु आप गवाए॥'

ऐसे साधु की संगत से व्यक्ति को न केवल जन्म-मरण के दुःखों से छुटकारा मिल जाता है अपितु वह संसार रूपी सागर को भी पार कर जाता है, जैसा कि गुरुवाणी की निम्नलिखित पंक्तियाँ कहती हैं—

'जनम मरन दुखु कटिआ, हरि भेटिआ पुरखु सुजाणु।
संत संगि सागरु तरे, जन नानक सचा ताणु॥'

स्त्री जाति का सम्मान

सिख धर्म में महिलाओं को पुरुषों के बराबर सम्मान तथा स्थान हासिल है।

पंद्रहवीं शताब्दी में गुरु नानक से लेकर अठारहवीं शताब्दी में गुरु गोबिंद सिंह तक सभी दस सिख गुरुओं ने महिलाओं को सामाजिक तथा धार्मिक आजादी दिलाने और उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा तथा सम्मान की जमकर पैरवी की। गुरु नानक ने तो यह कहकर कि **'भंडि जँमीऐ भंडि निमीऐ, भंडि मंगण विआहु'**—स्त्री के बिना पुरुष के जीवन को अधूरा बताया। नानकजी ने यहाँ तक कहा—**'सो क्यों मंदा आखिए जित जमैं राजान'**, अर्थात् महान्, प्रतापी राजाओं को जन्म देनेवाली स्त्री जाति को नीच कहना पाप है। उस जमाने में वेद-शास्त्र आदि पढ़ने तथा हवन आदि में शामिल होने की औरतों को मनाही थी। पर नानकजी ने यह फरमाकर कि **'सुन मंडल इक जोगी बैसे, नारि न पुरखु कहहु कोउ कैसे'** अमर संदेश दिया कि ईश्वर की ज्योति, जो प्रत्येक

प्राणी में विद्यमान है, उसे न नारी कहा जा सकता है, न पुरुष। वह परमात्मा का ही अंश है।

सोलहवीं शताब्दी देश के लिए भारी राजनीतिक उथल-पुथल का युग था। आक्रमणकारी बाबर की सेनाओं ने लाहौर में स्त्रियों पर जो अत्याचार किए, उनसे गुरु नानक का कोमल हृदय रो उठा। मासूम स्त्रियों की दुर्दशा के लिए नानकजी ने ईश्वर की भी कड़ी आलोचना की और कहा—**'ऐति मार पइ करलाणैं तैं की दर्द न आइआ'**, अर्थात् हे प्रभु, इन मासूमों पर इतने अत्याचार होते देखकर भी तुम्हें इनपर तरस नहीं आया।

गुरु नानक ने तो यहाँ तक घोषणा कर दी कि ईश्वर की दरगाह में केवल वही व्यक्ति सम्मान और स्थान पाते हैं जो स्त्री जाति का [illegible] करते हैं—

'जित मुख सदा सालाहीऔ भागां रती चार।
नानक ते मुख उजलै तितु सचै दरबार॥'

महिलाओं के हक, सम्मान और आजादी की जो क्रांतिकारी मशाल गुरु नानक ने जलाई, उसे बाद के गुरुओं ने अपने आँचल की ओट दी और कभी बुझने न दिया। उस वक्त की अनेक सामाजिक बुराइयों में प्रमुख थी सती प्रथा और विधवा जीवन के साथ जुड़ा सामाजिक लांछन। तीसरे गुरु श्री गुरु अमरदास ने इन दोनों के खिलाफ आवाज बुलंद की। उन्होंने फरमाया कि पतिव्रता स्त्री होने का अर्थ यह नहीं कि पत्नी पति के साथ जल मरे। सच्ची पतिव्रता वह है जो विरह को सहे। गुरु अमरदासजी ने अनेक विधवाओं का अपने हाथों से विवाह करवाकर उन्हें उपेक्षा तथा अपमान की जिंदगी से बाहर निकाला और उनका सामाजिक पुनर्वास किया। यही नहीं, पंजाब में तथा पंजाब से बाहर धर्म के प्रचार के लिए गुरु अमरदास ने जो धार्मिक पीठें स्थापित कीं, उनमें कई पीठों पर महिलाओं को नियुक्त करके उन्हें मिशनरी की एक सर्वथा नवीन तथा उच्च सामाजिक-आध्यात्मिक सम्मानवाली भूमिका प्रदान की। इसी तरह सिख इतिहास में जिक्र आता है कि छठे गुरु श्री गुरु हरिगोबिंदजी से एक बार गुजरात के एक जाने-माने सूफी दरवेश शाह दोलाँ ने पूछा कि 'औरत क्या है?' इसपर गुरुजी ने जवाब दिया, 'औरत ईमान है।'

मध्य युग में भारतीय समाज में बच्चियों का जनमते ही गला घोंट देने की अमानवीय प्रथा विद्यमान थी। सिख गुरुओं ने इस प्रथा की कड़ी निंदा की और अपने अनुयायियों को 'कुड़ीमार' (लड़की का हत्यारा) का सामाजिक बहिष्कार करने तथा उनके साथ रोटी-बेटी का रिश्ता न रखने की हिदायत दी। इस संबंध में गुरु गोबिंद सिंह का हुक्मनामा स्पष्ट है—

'मोणा और मसंदीआ, मोना कुड़ी जु मार।
होई सिख वरतण करै, अंत करेगु खुआर॥'

('रहितनामा', भाई प्रह्लाद सिंह)

इस सिद्धांत पर अमल करते हुए अठारहवीं शताब्दी के योद्धा जस्सा सिंह रामगढ़िया को कुड़ीमार होने के दोष में पंथ से निकाल दिया गया था। इस अपराध के लिए जब उसने समूचे खालसा पंथ से माफी माँगी तब उसे दोबारा पंथ में वापस लिया गया।

सन् १६९९ को बैसाखी के मौके पर पुरुषों के साथ-साथ सिख स्त्रियों को अमृत की दीक्षा देकर गुरु गोबिंद सिंह ने उन्हें एक नई जुझारू शक्ति दी। उस शक्ति से पैदा हुई माई भागो जैसी योद्धा सिख स्त्री ने चमकौर के युद्ध में गुरु गोबिंद सिंह की सेना की ओर से लड़ते हुए दुश्मन के दाँत खट्टे कर दिए। इसी युद्ध में बीबी हरशरण कौर युद्ध के मैदान में पहुँचकर शहीद सिखों की लाशों का अंतिम संस्कार करते हुए अंततः शहीद हो गई। इस प्रकार सिख इतिहास के निर्माण में महिलाओं की शानदार भूमिका का एक और अध्याय जुड़ गया।

□

संपूर्ण हुआ कार्य

१६ अगस्त, १६०४ का पवित्र दिन। पाँचवें गुरु श्री गुरु अर्जनदेव की पंद्रह वर्ष की तपस्या पूर्ण हुई और आदि ग्रंथ का संपादन पूर्ण हुआ। पूरे चौदह सौ तीस पृष्ठ वाले इस विशाल और महान् आध्यात्मिक ग्रंथ को धूमधाम और पूर्ण धार्मिक मर्यादा के साथ हरिमंदिर साहिब (स्वर्ण मंदिर, अमृतसर) में स्थापित किए जाने (सामान्य सिख शब्दावली में जिसे 'प्रकाश करना' कहते हैं) की सभी तैयारियाँ पूरी हो चुकी थीं। आदि ग्रंथ को एक जुलूस की शक्ल में हरिमंदिर साहिब ले जाया जा रहा था। गुरु अर्जनदेव के निष्काम सेवक बाबा बुड्‌डाजी ने आदि ग्रंथ को अपने सिर पर उठा रखा था। उनके पीछे सैकड़ों श्रद्धालु 'सतनाम वाहिगुरु' का जाप और आदि ग्रंथ पर फूलों की वर्षा करते हुए चल रहे थे। हरिमंदिर साहिब के भीतर पहुँचकर पवित्र ग्रंथ को मंजी साहिब (छोटा खटोला) पर सम्मान के साथ रखा गया और उसपर सुंदर रूमाले (वस्त्र) सजाए गए। इसके बाद गुरु अर्जन तथा अन्य सभी श्रद्धालु आदि ग्रंथ को नमन करके उसके समक्ष श्रद्धा के साथ बैठ गए। गुरु अर्जन ने बाबा बुड्‌डाजी को आदि ग्रंथ में से 'हुक्मनामा' (पवित्र ग्रंथ में से एक पद्य पढ़ना) लेने के लिए कहा। बाबा बुड्‌डाजी ने आदि ग्रंथ को खोलकर प्रथम हुक्मनामा लिया तो निम्नलिखित शबद (पद्य) आया—

'संता के कारजि आप खलोइआ
हरि कंमु करावणि आइआ राम...।'

इस प्रकार आदि ग्रंथ का हरिमंदिर साहिब में धार्मिक मर्यादा के साथ प्रथम प्रकाश हुआ। बाबा बुड्‌डाजी को गुरु अर्जन ने ग्रंथ साहिब का पहला ग्रंथी नियुक्त किया। आदि ग्रंथ को गुरु अर्जनदेव हमेशा ऊँचे आसन पर सुशोभित करते और स्वयं नीचे जमीन पर सोते। इतना अधिक सम्मान देते थे वे इस पवित्र ग्रंथ को।

भारत ऋषियों, मुनियों और तपस्वियों की धरती है। यहाँ 'वेद', 'गीता', 'रामचरितमानस' जैसे कई धार्मिक ग्रंथों की रचना हुई। इनके अतिरिक्त 'बाइबिल' तथा 'कुरान' विश्व के अन्य प्रसिद्ध एवं प्राचीन धार्मिक ग्रंथ हैं। विश्व के प्रमुख धर्मग्रंथों में सबसे नवीन है 'गुरु ग्रंथ साहिब'।
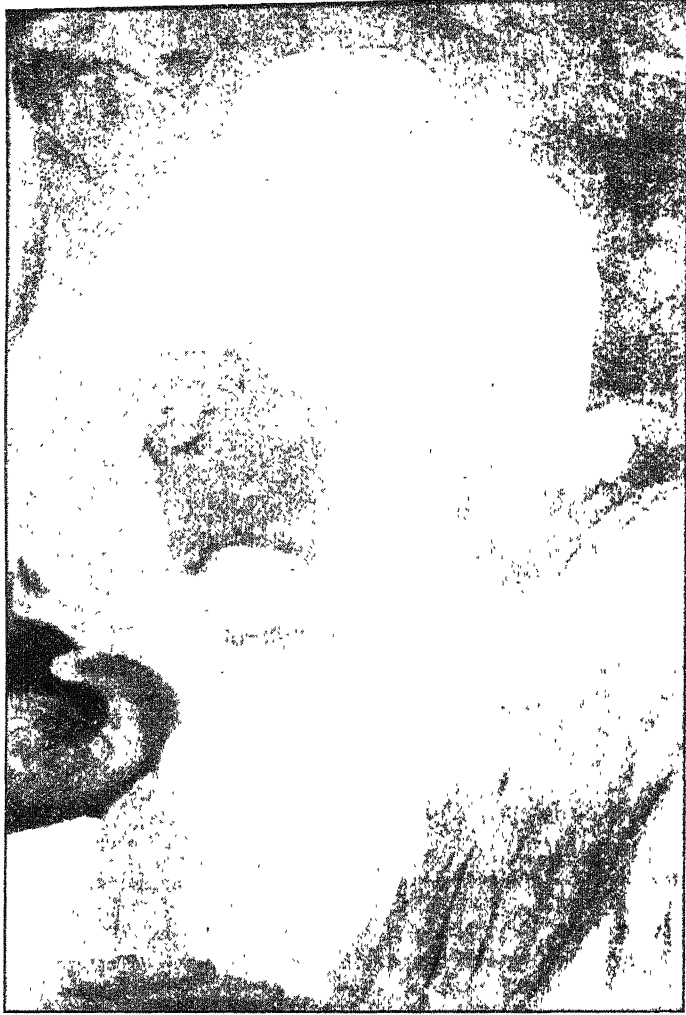
आदि ग्रंथ के प्रथम ग्रंथी बाबा बुड्डा जी

न केवल आकार के लिहाज से, बल्कि सामग्री के लिहाज से भी यह एक लासानी ग्रंथ है, जिसमें ईश्वर और मोक्ष के अलावा जीवन के प्रत्येक पहलू के बारे में व्यक्ति को मार्गदर्शन मिलता है।

उद्‍देश्य

'गुरु ग्रंथ साहिब' की रचना के पीछे गुरु अर्जनदेव का उद्‍देश्य संसार की आध्यात्मिक भूख को शांत करना और उसका उद्धार करना था। राग मुंदावणी में रचित अपने निम्नलिखित शबद

(सबद) में गुरुजी बताते हैं—

'थाल विचि तिनि वस्तु पईओ, सतु संतोखु विचारो।
अमृत नाम ठाकुर का पइओ, जिसका सभसु अधारो।
जे को खावै जे को भुंचे, तिसका होइ उधारो।
ऐह वस्त तजी नह जाई, नित नित रखु उरिधारो।
तम संसारु चरन लग तरीअै, सभु नानक ब्रह्म पसारो॥'

—अर्थात् मैंने विश्व की आध्यात्मिक भूख की शांति के लिए 'गुरु ग्रंथ साहिब' के रूप में एक बहुमूल्य थाली में तीन वस्तुएँ परोसकर रख दी हैं। ये वस्तुएँ हैं—सत्य, संतोष तथा प्रभु के अमृत नाम का विचार। जो भी प्राणी इन वस्तुओं को खाएगा और पचाएगा (यानी 'गुरु ग्रंथ साहिब' की वाणी को पढ़ेगा तथा जीवन में उसपर अमल करेगा) उसका उद्धार होगा (जिस प्रकार जीवनपर्यंत मनुष्य भोजन करता है उसी प्रकार)। प्राणी को सदा इन वस्तुओं को हृदय में बसाना होगा, तभी उसके मन से अज्ञान का अंधकार दूर होगा और ब्रह्मज्ञान का प्रकाश होगा।

सबका साँझा ग्रंथ

'गुरु ग्रंथ साहिब' समूची मानव जाति का साँझा गुरु है। गुरु अर्जनदेव ने इस महान् ग्रंथ का संकलन और संपादन करते समय **'खत्री, ब्राह्मण, सूद, वैस, उपदेसु चहुँ वर्णा कउ साँझा'** के धार्मिक समता तथा समन्वयकारी उद्देश्य को सामने रखा। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती चार सिख गुरुओं गुरु नानकदेव, गुरु अंगददेव, गुरु अमरदास और गुरु रामदास की अलौकिक वाणी तथा स्वयं की वाणी के साथ-साथ अपने समकालीन एवं पूर्ववर्ती हिंदू, मुसलिम धर्मों एवं तथाकथित निम्न जातियों से संबंध रखनेवाले तीस संतों और भक्तों की चुनिंदा वाणी को भी 'गुरु ग्रंथ साहिब' में दर्ज करके उन्हें सिख गुरुओं के बराबर सम्मान तथा स्थान प्रदान किया। इस प्रकार विश्व का यह एकमात्र धर्मग्रंथ है जिसमें उसके छह मूल धर्मगुरुओं सहित छत्तीस रचनाकारों की ईश्वरीय आराधना एवं स्तुति का गायन करनेवाली वाणी के एक साथ दर्शन होते हैं, जिनमें शेख फरीद, जयदेव, कबीर, नामदेव, त्रिलोचन, परमानंद, रामानंद, रविदास, धन्ना आदि संतों-भक्तों के नाम प्रमुख हैं।

रामसर में हुई रचना

'गुरु ग्रंथ साहिब' की रचना के लिए गुरु अर्जनदेव ने अमृतसर में घने वृक्षों की छायावाले एकांत क्षेत्र रामसर को चुना, कश्मीर से विशेष कागज मँगवाया और स्याही भी खास तैयार

गुरु अर्जनदेव (दाईं ओर) भाई गुरदास से वाणी लिपिबद्ध करवाते हुए

करवाई। वाणी को लिपिबद्ध यानी लिखने का कार्य किया भाई गुरदास ने। वे जो-जो वाणी लिपिबद्ध करते जाते, गुरु अर्जनदेव साथ-साथ उसकी जाँच करते जाते।

'गुरु ग्रंथ साहिब' में गुरु नानक या किसी अन्य सिख गुरु की जीवनी अथवा सिख इतिहास का बखान नहीं है, बल्कि इसमें मात्र एक परम सत्ता की महिमा और व्यावहारिक जीवन-युक्ति का वर्णन है। इसमें वर्णन है ईश्वर के नाम-सिमरन का, प्रेमा-भक्ति का, जन सेवा का, जीवन में आडंबर व छल-कपट छोड़ने एवं नैतिक मूल्यों, पवित्रता और सादगी को अपनाने का। इसमें वर्णन है मानवीय एकता तथा भाईचारे का।

वर्ण नहीं, वाणी को सम्मान

गुरु नानक का मिशन '**एक पिता एकस के हम बारिक**' तथा '**सभना जीआं का एको दाता**' के सिद्धांत पर वर्णभेद तथा जातिभेद रहित समाज की स्थापना का प्रबल समर्थक था, जिसमें जात-पाँत और कर्मकांड के लिए कोई स्थान नहीं था। सिख गुरुओं ने केवल एक ईश्वर

को ही सृष्टि का कर्ता और पालनहार स्वीकार किया तथा उसे सर्वोच्च कहा। अत: 'गुरु ग्रंथ साहिब' की रचना करते समय गुरु अर्जनदेव ने इन्हीं दो सिद्धांतों को सामने रखा—सामाजिक एकता तथा एकेश्वरवाद। इन्हीं सिद्धांतों के अनुरूप गुरुजी ने ग्रंथ साहिब के लिए वाणी का संकलन करते समय उसके रचनाकारों की सामाजिक-आर्थिक प्रतिष्ठा या कुल और जाति की उच्चता को कसौटी मानने की बजाय उनकी रचना की श्रेष्ठता को जाँचा-परखा। अलग-अलग इष्ट और मत को माननेवाले रचनाकारों की वाणी को गुरु अर्जनदेव ने बड़े धैर्य और गौर के साथ पढ़ा। गुरुदेव ने सिर्फ उसी वाणी को इस महान् ग्रंथ में शामिल किया जो ईश्वर के एकत्व, सामाजिक बराबरी, विश्व-बंधुत्व, क्रांतिवादिता जैसे सिख धर्म के मूल सिद्धांतों की कसौटी पर खरी उतरती थी। गुरु अर्जनदेव ने उन सभी रचनाओं को 'गुरु ग्रंथ साहिब' के लिए अयोग्य करार दे दिया जिनमें ईश्वर की बजाय व्यक्ति विशेष का गुणगान था, जिनमें सामाजिक भेदभाव के साथ-साथ स्त्री जाति की निंदा का समर्थन किया गया था अथवा मिथ्या कर्मकांड को बढ़ावा दिया गया था।

छजू, काहना, पीलू तथा शाह हुसैन की रचनाओं को गुरु अर्जनदेव ने इसलिए अस्वीकार कर दिया, क्योंकि वे सिख धर्म के मानवतावाद और 'एक ओंकार' के मूल सिद्धांत से मेल नहीं खाती थीं। उदाहरण के तौर पर, काहना की रचना में ईश्वर की सत्ता का गुणगान नहीं, अहंकार प्रधान था, जिसका सारांश था, 'मैं वह परम सत्ता हूँ जिसका गुणगान वेद और पुराण भी करते आए हैं।'

जाहिर तौर पर काहना का यह अहंवाद गुरु नानक के उस दर्शन के विपरीत था जिसमें ईश्वर को सर्वोच्च और समस्त सृष्टि का सर्जनकर्ता **(एक ओंकार सतिनामु करतापुरख)** माना गया है। इसी प्रकार छजू की रचना 'गुरु ग्रंथ साहिब' के लिए इस कारण अयोग्य मानी गई, क्योंकि उसमें स्त्री जाति की घोर निंदा की गई थी तथा उसे सभी पापों की जड़ कहा गया था। इसके विपरीत गुरु नानक के धर्म ने तो स्त्री जाति को परम पूज्य माना और नानकजी ने तो यहाँ तक फरमाया—**'सो क्यों मंदा आखीऐ जित जमै राजान'**, अर्थात् बड़े-बड़े प्रतापी राजाओं को जन्म देनेवाली स्त्री जाति की निंदा करना सर्वथा अनुचित है।

राष्ट्रीय एकता

राष्ट्रीय एकसूत्रता की बेजोड़ मिसाल है 'गुरु ग्रंथ साहिब'। हालाँकि सिख धर्म का उदय पंजाब में हुआ और उसकी अधिकतर गतिविधियाँ भी पंजाब में ही केंद्रित रहीं, लेकिन गुरु अर्जन ने 'गुरु ग्रंथ साहिब' को ईश्वरीय वाणी का वह विशाल सागर बनाया जिसमें उत्तर-दक्षिण, पूर्व-

पश्चिम चारों दिशाओं से ईश्वरस्तुति की सरिताएँ आकर समाहित हुई। उदाहरण के तौर पर, 'गुरु ग्रंथ साहिब' में अपनी वाणी के रूप में मौजूद नामदेव और परमानंद महाराष्ट्र के थे तो त्रिलोचन गुजरात के। रामानंद दक्षिण में पैदा हुए तो जयदेव का जन्म पश्चिमी बंगाल के एक छोटे से गाँव में हुआ। इसी प्रकार धन्ना का संबंध राजस्थान से था तो शेख फरीद पश्चिमी सीमांत और सदना सिंध से ताल्लुक रखते थे। इनकी तथा बाकी संतों-भक्तों की वाणी को एक माला में पिरोकर गुरु अर्जनदेव ने भारत के भौगोलिक समन्वय की बेहतरीन और अभूतपूर्व मिसाल कायम की।

पाँच शताब्दियों की चुनिंदा वाणी

गुरु अर्जनदेव की संकल्पना में इस महान् ग्रंथ का स्वरूप और सिद्धांत शाश्वत था। अत: देश और जाति के बंधन से मुक्त रखने की तरह उन्होंने 'गुरु ग्रंथ साहिब' की वाणी को काल के
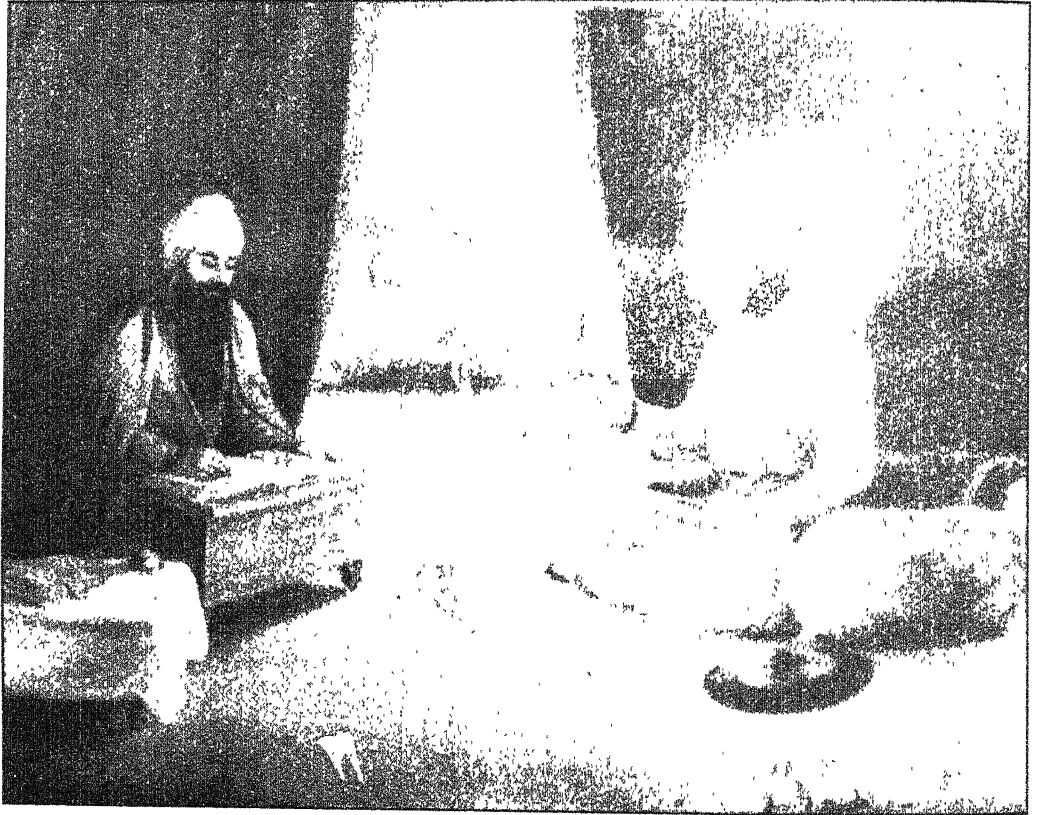
तलवंडी साबो, दमदमा साहिब में गुरु गोबिंद सिंह ने आदि ग्रंथ में गुरु तेग बहादुर की वाणी दर्ज करवाई

बंधन से भी मुक्त रखा। हालाँकि इसका संपादन सन् १५८९ से १६०४ के मध्य हुआ, लेकिन अध्येता और भक्ति रस के जिज्ञासु को इसमें बारहवीं शताब्दी से लेकर सत्रहवीं शताब्दी तक के संतों और गुरुओं की वाणी के दर्शन होते हैं।

कालक्रमानुसार 'गुरु ग्रंथ साहिब' में सबसे प्राचीन वाणी जयदेव (सन् ११७०) की है, जबकि नवीनतम वाणी नौवें सिख गुरु श्री गुरु तेगबहादुर की है, जिसे उनकी शहीदी (सन् १६७५) के पश्चात् उनके साहिबजादे और दसवें गुरु श्री गुरु गोबिंद सिंह ने ग्रंथ साहिब में दर्ज किया। स्पष्टत: 'गुरु ग्रंथ साहिब' पाँच शताब्दियों से भी अधिक समय की चुनिंदा भक्ति काव्यधारा का अलौकिक संगम ही नहीं, अमूल्य खजाना भी है।

धार्मिक सौहार्द

'गुरु ग्रंथ साहिब' की रचना के पीछे गुरु अर्जनदेव का ध्येय किसी खास मत, व्यवस्था या दर्शन की स्थापना करना नहीं था, बल्कि वे आचार-व्यवहार के सरल, सीधे और सच्चे मार्ग के माध्यम से जिज्ञासु को परम सत्ता से जोड़ना और सामाजिक समन्वय स्थापित करना चाहते थे। उस युग में धर्म-कर्म एक खास उच्च वर्ग का एकाधिकार बनकर रह गया था। व्यक्ति का ओहदा उसके सहज गुणों के आधार पर नहीं बल्कि उसके धर्म और जाति के आधार पर तय किया जाता था। धार्मिक कट्टरता, दूसरे के धर्म के प्रति असहिष्णुता और वैर-विरोध का जुनून अपने चरम शिखर पर था। हर धर्म तथा संप्रदाय दूसरे धर्म के सिद्धांत की निंदा एवं उपहास उडाने और अपने विचार तथा सिद्धांत को सर्वश्रेष्ठ साबित करने की होड़ और दौड़ में शामिल था। इस विषम स्थिति में गुरु अर्जनदेव ने कबीर जैसे मुसलमान जुलाहे, रविदास जैसे व्यवसाय से चर्मकार लेकिन विचार से संत, त्रिलोचन जैसे वैश्य, पीपा जैसे राजपूत, धन्ना जैसे जाट और सूरदास, जयदेव, परमानंद जैसे ब्राह्मणों की वाणी को एक जिल्द में बाँधकर विभिन्न धर्मों और समुदायों के बीच सौहार्दपूर्ण [illegible] की क्रांतिकारी परंपरा कायम की।

वाणी की रचना और [illegible]

विश्व के अन्य प्रमुख धर्मों के किसी भी प्रचारक, [illegible] या पैगंबर ने अपने पीछे कोई भी हस्तलिखित सिद्धांत या उपदेश नहीं छोड़ा। उनके दर्शन और सिद्धांत के बारे में जो कुछ भी आज ज्ञात है, वह हम तक या तो बाद के लेखकों के माध्यम से पहुँचा या फिर वह प्रचलित रीतियों पर आधारित है। भगवान् बुद्ध ने अपनी शिक्षाएँ लिखित रूप में नहीं छोड़ीं। ईसाई धर्म के संस्थापक ने भी अपने सिद्धांत को लिखित रूप में नहीं छोड़ा। उनके बारे में मैथ्यू, लूका, जॉन तथा

अन्य की कृतियों को आधार माना जाता है। कन्फ्यूशियस ने भी सामाजिक तथा नैतिक व्यवस्था के बारे में अपना विचार या सिद्धांत लिखित रूप में नहीं छोड़ा।

इसके विपरीत 'गुरु ग्रंथ साहिब' में दर्ज सिख गुरुओं की वाणी की रचना विभिन्न गुरुओं ने स्वयं की और उसे सहेज-सँभालकर रखा। गुरु नानक ने जब गुरुगद्दी भाई लहणा (गुरु अंगददेव) को सौंपी तो अपनी समस्त वाणी की पोथी (पुस्तक) भी उन्हें सौंप दी। गुरु अंगददेव ने अपने रचे श्लोकों सहित वह पोथी तीसरे गुरु श्री गुरु अमरदास को सौंप दी। गुरु अमरदास ने विरासत में मिली पोथी और अपनी वाणी चौथे गुरु श्री गुरु रामदास को सौंपते हुए फरमाया—

'पराई अमाण किउ रखीऐ, दिती ही सुख होइ।
गुर का सब्दु गुर थै टिकै, होर थै परगटु न होइ॥'

प्रचलित परंपरा के अनुसार गुरु रामदास ने अपनी वाणी सहित उक्त संपूर्ण वाणी गुरु अर्जनदेव के सुपुर्द कर दी और गुरु अर्जन ने इस सारी वाणी को अपनी वाणी के साथ 'गुरु ग्रंथ साहिब' में स्थायी रूप से दर्ज कर दिया। अन्य भक्त-संतों की वाणी का जहाँ तक संबंध है, कुछ वाणी तो गुरु अर्जनदेव को गुरु नानक द्वारा संकलित वाणी के रूप में परंपरा से प्राप्त हुई और बाकी संत-भक्त वाणी गुरुजी ने स्वयं उद्यम और प्रयास करके एकत्र की।

सिर्फ खुदा (प्रभु) का गुणगान

गुरु अर्जनदेव ने जब 'गुरु ग्रंथ साहिब' का संपादन पूरा कर लिया तो उनके बड़े भाई पृथी चंद ने, जो अपने पिता गुरु रामदास से उत्तराधिकार में गुरुगद्दी न मिलने के कारण गुरु अर्जनदेव के प्रति विरोध तथा ईर्ष्या का भाव रखते थे, गुरु घर के विरोधी चंदूलाल सहित बादशाह अकबर के पास जाकर यह शिकायत की कि गुरु अर्जनदेव ने एक ऐसी पुस्तक तैयार की है जिसमें इसलाम और दूसरे धर्मों की निंदा की गई है। अकबर ने 'गुरु ग्रंथ साहिब' को खुलवाकर उसकी वाणी सुनी तो शिकायत झूठी निकली। जो पहला शबद सामने आया उसमें खुदा का गुणगान था। वह शबद था—

'खाक नूर करदै आलम दुनीआई।
असमान जिमी दरखत आब पैदाइसि खुदाइ॥
बंदे चस्म दीदै फनाइ।
दुनीआ मुरदार खुरदनी गाफल हवाइ॥
गैबान हैवान हराम कुस्तनी मुरदार बखोराइ।
दिल कबज कब्जा कादरो दोजकु सजाइ॥

वलो निआमति बिरादरा दरबार मिलक खानाइ।
जब अजराईलु बसतनी तब चिकारे बिदाइ॥
हवाल मालूमु करदै पाक अल्लाह।
बुगो नानक अरदासि पेसि दरवेसि बंदाह॥'

(पृ. ७२३)

खुदा की बंदगी गायन करनेवाला यह शबद सुनकर अकबर संतुष्ट हो गया। लेकिन चंदूलाल ने फिर शिकायत की कि सिख पहले से ही यह शबद सुनाने के लिए तय करके आए थे। इसपर बादशाह ने खुद 'गुरु ग्रंथ साहिब' के कुछ पन्ने पलटवाकर एक खास शबद पर हाथ रखा और उसे पढ़ने के लिए कहा। उस शबद में भी अल्लाह का गुणगान और मनुष्य को नेक कर्म एवं कमाई करने के लिए प्रेरित किया गया था। वह शबद था—

'अल्लह अगम खुदाई बंदे।
छोडि खिआल दुनीआ के धंधे॥

× × ×

हकु हलालु बखोरहु खाणा।
दिल दरिआऊ धोवहु मैलाणा॥

× × ×

मुसलमाण मोम दिलि होवै।
अंतर की मलु दिल ते धोवै॥
दुनीआ रंग न आवै नेड़ै।
जिउ कुसम पाटु घिउ पाकु हरा॥'

(पृ. १०८३)

अकबर इस शबद से भी बहुत प्रभावित हुआ और उसने शिकायत को खारिज कर दिया। चुगलखोर फिर भी बाज न आए और इस बार उन्होंने यह शिकायत की कि 'गुरु ग्रंथ साहिब' में मूर्तिपूजा का गुणगान किया गया है (इसलाम और सिख धर्म में मूर्तिपूजा का प्रचलन नहीं है। सिख निराकार परमात्मा का उपासक है)। बादशाह ने एक बार फिर ग्रंथ साहिब खुलवाया और एक विशेष शबद पर उँगली रखकर उसे पढ़ने के लिए कहा। वह शबद था—

'घर महि ठाकुरु नदरि न आवै।
गल महि पाहणु लै लटकावै॥
भरमे भूला साकतु फिरता।

जिसु पाहण कउ ठाकुरु कहता॥
उहु पाहणु लै उस कउ डुबता॥
गुनहगार लूण हरामी।
पाहण नाव न पार गिरामी॥
गुरु मिलि नानक ठाकुरु जाता।
जलि थलि महीअलि पूरन बिधाता॥'

(पृ. ७३८)

यह शबद सुनने के बाद 'गुरु ग्रंथ साहिब' के प्रति अकबर की श्रद्धा एवं विश्वास और दृढ़ हो गया। उसने 'गुरु ग्रंथ साहिब' के समक्ष सोने की इक्यावन मोहरें भेंट करके माथा टेका और बाबा बुड्डाजी तथा भाई गुरदास को 'गुरु ग्रंथ साहिब' के साथ बड़े सम्मान के साथ विदा किया। 'गुरु ग्रंथ साहिब' के प्रति अकबर की गहरी श्रद्धा और विश्वास का ही फल था कि जब तक उसने हिंदुस्तान पर राज किया, सिख गुरुओं और गुरु-घर के प्रति उसका प्रेमभाव बना रहा।

□

रागों में रची गई वाणी

भक्ति में संगीत का वही स्थान है जो जीवन में आत्मा का। आत्मा के बिना शरीर निर्जीव है तो संगीत से रहित भक्ति स्वादहीन या अधूरी है। दुर्भाग्यवश मध्य काल में संगीत का घोर पतन हो चुका था और वह रास-रंग की वस्तु बन गया था। गुरु नानक और बाद के गुरुओं ने संगीत को ईश्वरीय वाणी के साथ जोड़कर उसे रास-रंग के पतन से निकाला और उच्च आध्यात्मिक सम्मान तथा स्थान प्रदान किया।

विश्व-धर्मों के इतिहास में 'गुरु ग्रंथ साहिब' ही एकमात्र ऐसा धर्मग्रंथ है जिसकी वाणी विभिन्न शास्त्रीय रागों में रची गई है। 'गुरु ग्रंथ साहिब' की वाणी में कुल इकतीस प्रमुख रागों और कई मिश्रित रागों का प्रयोग हुआ है। ये इकतीस राग हैं—

१. श्रीराग, २. माझ, ३. गउड़ी, ४. आसा, ५. गूजरी, ६. देवगंधारी, ७. बिहागढ़ा, ८. वडहंस, ९. सोरठ, १०. धनासरी, ११. जैतसरी, १२. टोडी, १३. बैराड़ी, १४. तिलंग, १५. सूही, १६. बिलावल, १७. गौंड, १८. रामकली, १९. नटनारायण, २०. माली गउड़ा, २१. मारू, २२. तुखारी, २३. केदार, २४. भैरव, २५. बसंत, २६. सारंग, २७. मल्हार, २८. कान्हड़ा, २९. कल्याण, ३०. प्रभाती, ३१. जैजावंती।

'गुरु ग्रंथ साहिब' में दर्ज प्रत्येक पद के शीर्ष पर सबसे पहले राग का नाम और उसके बाद महला संख्या (महला १ यानी पहले गुरु की वाणी, महला २ यानी दूसरे गुरु की वाणी, महला ३ अर्थात् तीसरे गुरु की वाणी, महला ४ यानी चौथे गुरु की वाणी, महला ५ यानी पाँचवें गुरु की वाणी और महला ९ यानी नौवें गुरु की वाणी) आती है। जहाँ-जहाँ सिख गुरुओं से इतर संतों की वाणी आई है, वहाँ पहचान के लिए (कि यह वाणी किस संत की है) पद के शीर्ष पर संबद्ध संत का नाम दिया गया है।

प्रत्येक गुरु की वाणी में एक से अधिक रागों का प्रयोग हुआ है। गुरु नानक की वाणी उन्नीस रागों में, गुरु अमरदास की वाणी सत्रह रागों में, गुरु रामदास की वाणी उनतीस रागों में, गुरु अर्जनदेव की वाणी तीस रागों में तथा गुरु तेगबहादुर की वाणी पंद्रह रागों में रची गई। इसी प्रकार

भक्त कबीर तथा भक्त नामदेव की वाणी अठारह-अठारह रागों में तथा भक्त रविदास की वाणी सोलह रागों की माला में बँधी हुई है। वाणी रचना में राग जैजावंती का प्रयोग केवल गुरु तेगबहादुर की वाणी में हुआ है। प्रत्येक गुरु की वाणी में प्रयुक्त रागों का विवरण इस प्रकार है—

गुरु नानक देव : माझ, श्रीराग, गउड़ी, आसा, गूजरी, वडहंस, सोरठ, धनासरी, तिलंग, सूही, बिलावल, रामकली, मारू, तुखारी, भैरव, बसंत, सारंग, मल्हार और प्रभाती। (१९)

गुरु अंगददेव : कुल ६२ श्लोक, 'वारों' में रचे।

गुरु अमरदास : श्रीराग, माझ, गउड़ी, आसा, गूजरी, वडहंस, सोरठ, धनासरी, सूही, बिलावल, रामकली, मारू, भैरव, बसंत, सारंग, मल्हार एवं प्रभाती। (१७)

गुरु रामदास : श्रीराग, माझ, गउड़ी, आसा, गूजरी, देवगंधारी, बिहागड़ा, वडहंस, सोरठ, धनासरी, जैतसरी, टोडी, बैराड़ी, तिलंग, सूही, बिलावल, गोंड, रामकली, नट, माली गउड़ा, मारू, तुखारी, भैरव, बसंत, सारंग, कान्हड़ा, मल्हार, कल्याण एवं प्रभाती। (२९)

गुरु अर्जनदेव : उपर्युक्त उनतीस राग तथा राग केदार सहित तीस राग।

गुरु तेगबहादुर : गउड़ी, आसा, गूजरी, बिहागड़ा, सोरठ, जैतसरी, धनासरी, टोडी, तिलंग, बिलावल, रामकली, मारू, बसंत, सारंग, जैजावंती। (१५)

भाव के अनुरूप राग

रागों के चयन और वाणी में उनके प्रयोग के समय भाव सिद्धांत का पूरा खयाल रखा गया। वाणी के प्रत्येक शबद (पद) में व्यक्त विचारों की दशा के अनुकूल ही शास्त्रीय रागों का चयन किया गया। अर्थात् भाव और राग के बीच परस्पर तालमेल रखा गया और कहीं भी उन्हें परस्पर विरोधी नंहीं होने दिया गया। उदाहरण के लिए, हर्ष और उल्लास के भावों की अभिव्यक्ति के लिए सुही, बिहागड़ा, बिलावल, मल्हार, बसंत इत्यादि रागों का इस्तेमाल किया गया। करुण, शांत और गंभीर भावों की वाणी के लिए गुरुओं ने प्राय: गउड़ी, श्रीराग, रामकली, भैरव आदि जैसे राग प्रयोग किए। इसी प्रकार विशुद्ध धार्मिक भावों की अभिव्यक्ति के लिए गूजरी, धनासरी, सोरठ तथा उत्साह भाव के लिए आसा, माझ, प्रभाती आदि राग प्रयोग किए गए।

शृंगारिक रागों को मिला आध्यात्मिक सम्मान

अतीत में सामान्य काव्यकृतियों में घोर शृंगारिक उद्देश्यों के लिए प्रयुक्त होनेवाले शास्त्रीय

रागों को ईश्वरीय वाणी के साथ प्रयुक्त करके गुरुओं ने इन रागों को एक अपूर्व गरिमा तथा सम्मान प्रदान किया। संगीत दर्पण में श्रीराग का वर्णन कामोन्मादी धीरा नायक के रूप में हुआ है। लेकिन गुरुवाणी में उसी श्रीराग को शिरोमणि राग का परम उदात्त दर्जा प्रदान किया गया है, जैसाकि गुरुवाणी के निम्नलिखित कथन से स्पष्ट है—

'रागाँ विच श्रीराग है जो सचि धरे पिआरु।'

इसी प्रकार संगीत दर्पण में राग सोरठ की उपमा एक ऐसी नवयौवना से दी गई है जिसके चारों ओर भौंरे मँडराते रहते हैं। पर 'गुरु ग्रंथ साहिब' की वाणी में अध्यात्म मार्ग के पथिक के लिए राग सोरठ को राम नाम और मोक्ष प्राप्ति का साधन बताया गया है—

'सोरठि सो रसु पीजीअै कबहू न फीका होइ।
नानक रामनाम गुन गाईअहि दरगाह निरमल सोइ॥'

कीरतन यानी प्रभु का यशगान

'गुरु ग्रंथ साहिब' की वाणी के शास्त्रीय संगीतमय गायन को कीरतन कहते हैं। सिख धर्म में कीरतन का विशेष महत्त्व है। कीरतन यानी प्रभु की कीर्ति, महिमा, यश का गायन। यह कीरतन गुरुद्वारों में तथा खुशी-गमी के विशेष मौकों पर सिख घरों में हारमोनियम एवं तबला जैसे परंपरागत गायन एवं वाद्य यंत्रों द्वारा किया जाता है। सिख धर्म में शास्त्रीय राग की मधुर और सधी हुई लय में बद्ध कीरतन का इतिहास भी उतना ही पुराना है जितना पुराना यह धर्म है। स्वयं गुरुवाणी में कीरतन को अमूल्य हीरा और आनंद प्रदान करनेवाला खजाना कहा गया है—

'कीरतन निरमोलक हीरा आनंद गुणी गहीरा।'

कीरतन में अपार शक्ति है। इसके गायन और श्रवण से दु:खों और पापों का नाश होता है, मन में सुख और शांति का वास होता है और परमात्मा से साक्षात्कार होता है। इसीलिए 'गुरु ग्रंथ साहिब' में कीरतन के गायन और श्रवण के साथ-साथ उसमें निहित शिक्षाओं और उपदेशों पर मनन-अमल को भी बार-बार रेखांकित किया गया है; क्योंकि मनन और अमल के बिना गायन और श्रवण दोनों व्यर्थ और निष्फल हैं। जपुजी में गुरु नानकदेव बताते हैं कि इन तीनों क्रियाओं से दु:खों का विनाश और चित्त में आनंद का वास होता है—

'गावीअै सुणीअै मनि रखीअै भाउ।
दुखु परहरि, सुखु घर लै जाइ॥'

कीरतन के श्रवण का उच्च महत्त्व बताते हुए गुरु नानक आगे फरमाते हैं कि अगर गुरु की एक सीख (शिक्षा) भी सच्चे मन से सुन ली जाए और उसे मन में बसा लिया जाए तो मस्तिष्क में
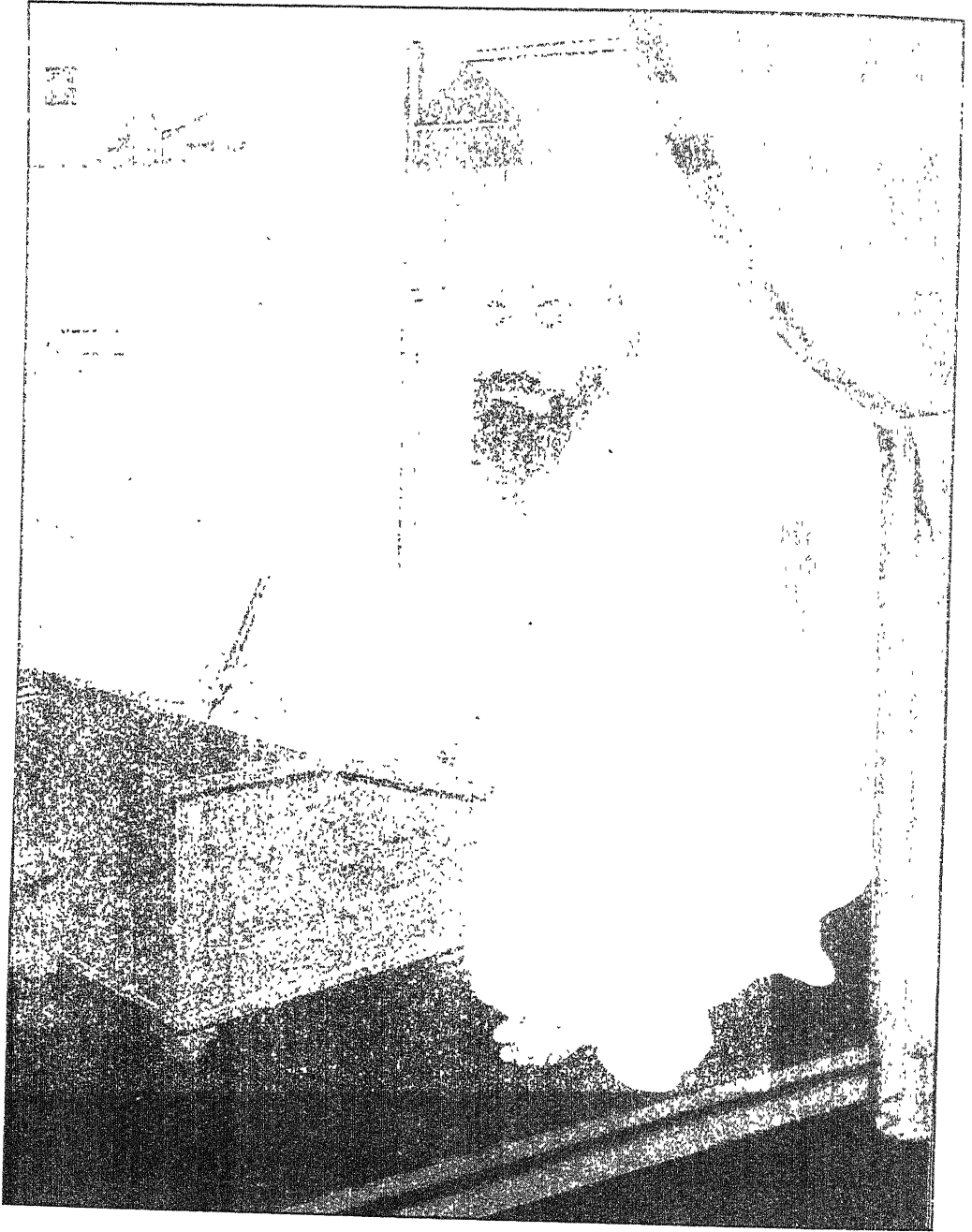
गुरुवाणी के प्रथम व्याख्याकार और उसे लिपिबद्ध करनेवाले विद्वान् भाई गुरदास

परमात्मा के अमूल्य गुण रूपी रत्न, जवाहर और माणिक-मोती उपज जाते हैं—

'मत विचि रतन जवाहर माणिक, जे इक गुर की सिख सुणी।'

कीरतन के इन्हीं गुणों तथा महत्त्व के कारण गुरु नानक से लेकर गुरु गोबिंद सिंह तक सभी सिख गुरुओं ने अपने आध्यात्मिक विचारों के प्रचार के लिए कीरतन को ही माध्यम बनाया। कीरतन के प्रति गुरुओं का लगाव कितना अधिक था, इसका अंदाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि गुरु गोबिंद सिंह ने युद्ध के दिनों में भी कीरतन का क्रम और प्रवाह टूटने नहीं दिया। भंगाणी युद्ध के दौरान रात को पांउटा साहिब में कीरतन दरबार सजता। एक बार गुरुजी जब आनंदपुर का किला छोड़कर जा रहे थे तो 'आसा दी वार' (पौ फटने से पूर्व किया जानेवाला कीरतन) का समय हो गया। वे रुक गए। पहले उन्होंने हर रोज की तरह 'आसा दी वार' का कीरतन श्रवण किया और उसके बाद ही आगे बढ़े तथा नदी पार की।

□

दस गुरु दर्शन

पहले गुरु श्री गुरु नानकदेव से लेकर दसवें गुरु श्री गुरु गोबिंद सिंह तक सिख धर्म के दस गुरु हुए। सन् १४६९ में गुरु नानक के जन्म से लेकर सन् १७०८ में गुरु गोबिंद सिंह के परलोक गमन तक दो सौ उनतालीस वर्षों की अवधि का समय सामाजिक बेचैनी, राजनीतिक उथल-पुथल, धार्मिक रूढ़िवादिता और चारित्रिक गिरावट का काला दौर था। शासक अत्याचारी और अन्यायी हो गए थे। हिंदू धर्म में गृहस्थी के त्याग एवं संन्यास पर बहुत जोर दिया जाता था, जिससे धर्मनिष्ठ लोगों में संसार के प्रति उदासीन दृष्टिकोण एवं एक प्रकार का निराशावाद पैदा हो गया था। तिस पर जात-पाँत और वर्ण-व्यवस्था, छुआछूत, कर्मकांड, अंधविश्वास और अकर्मण्यता समाज को रसातल की ओर ले जा रहे थे। सामाजिक बिखराव एवं पलायनवादी प्रवृत्ति ने बाबर जैसे आक्रमणकारियों को जोर-जुल्म एवं अत्याचार करने के लिए दुष्प्रेरित किया।

सिख गुरुओं ने अपनी वाणी, अपने संदेश और उपदेश से अँधेरे में भटकते लोगों को नई राह और नई रोशनी दिखाई। जीवन-रसायन से भरपूर गुरुओं की अमृत वाणी ने समाज को अकर्मण्यता, आडंबर, अंधविश्वास, अज्ञानता की अँधेरी सुरंग से बाहर निकालकर उसकी दशा और दिशा ही बदल दी। दस में से सात गुरुओं—पहले से पाँचवें, नौवें तथा दसवें गुरु ने वाणी की रचना की। ये वाणीकार गुरु हैं—गुरु नानकदेव, गुरु अंगददेव, गुरु अमरदास, गुरु रामदास, गुरु अर्जनदेव, गुरु तेगबहादुर और गुरु गोबिंद सिंह। इनमें से सिर्फ गुरु गोबिंद सिंह को छोड़कर शेष सभी छह वाणीकार गुरुओं की वाणी 'गुरु ग्रंथ साहिब' में दर्ज है। गुरु गोबिंद सिंह की वाणी अलग से दशम ग्रंथ में संकलित है। आइए, जानें सभी दस सिख गुरुओं का संक्षिप्त जीवन परिचय और उनसे जुड़े कुछ प्रेरक प्रसंग।

१. गुरु नानकदेव

लोगों को प्रेम और भाईचारे का संदेश देते हुए गुरु नानकदेव एक ऐसे गाँव में पहुँचे जहाँ के लोग बड़े दुष्ट थे। उन लोगों ने नानकजी और उनके दोनों साथियों बाला एवं मरदाना पर पत्थर

गुरु नानकदेव

बरसाए और उन्हें गालियाँ दीं।

अगले दिन सुबह होने पर नानकजी जब उस गाँव से विदा होने लगे तो उन्होंने गाँववासियों को आशीर्वाद दिया, ''ईश्वर करे, तुम सब यहीं बसे रहो।'' यह कहकर वे आगे चल दिए।

मरदाना को बड़ा अजीब लगा। इन दुष्टों को बसे रहने का आशीर्वाद! यह गुरुजी ने कैसा आशीर्वाद दिया है? वह मन-ही-मन सोचने लगा।

शाम होने पर वे सब एक दूसरे गाँव में पहुँचे। इस गाँव के लोग बहुत परोपकारी और धर्मात्मा थे। यह पता चलने पर कि उनके गाँव में एक पहुँचे हुए महात्मा आए हैं, सारा गाँव उनके दर्शन के लिए उमड़ पड़ा। गाँववासियों ने तन-मन से नानकजी और उनके साथियों की खूब सेवा की, उनके उपदेशों को ध्यान से सुना और उनपर चलने का प्रण किया।

दूसरे दिन नानकजी अपने साथियों सहित जब उस गाँव से चलने लगे तो पूरा गाँव उन्हें विदा करने के लिए आया और सभी लोगों ने सजल नेत्रों से उन्हें विदाई दी। चलते-चलते नानकजी ने हाथ ऊपर उठाकर आशीर्वाद की मुद्रा में कहा, ''ईश्वर करे तुम सब उजड़ जाओ।''

अब तो मरदाना को और भी अजीब लगा। आखिर गुरुजी को हो क्या गया है—वह सोचने लगा। उसने नानकजी से पूछ ही लिया, ''महाराज, यह क्या? जिन लोगों ने हमारा अपमान किया, हमपर पत्थर फेंके उन्हें आपने 'बसे रहने' का आशीर्वाद दिया; पर जिन भले लोगों ने हमारी इतनी खातिर की उन्हें आपने 'उजड़ जाने' का शाप दे डाला। ऐसा क्यों?''

नानकजी मुसकराए और बोले, ''मरदाना, दुष्ट लोग जहाँ भी जाएँगे, दुष्टता और बुराई ही फैलाएँगे, इसलिए उनका एक जगह बसे रहना ही अच्छा है। इसके विपरीत नेक और भले लोग जहाँ भी जाएँगे, अपनी अच्छाई की खुशबू फैलाएँगे। इसलिए उनका उजड़ना अच्छा भी है और जरूरी भी।''

मरदाना ने श्रद्धा से गुरुजी के आगे सिर झुका दिया।

लाहौर का सेठ था दुनीचंद। एक दिन उसे खबर मिली कि उसके शहर में ईश्वर के पैगंबर गुरु नानकदेव आए हैं। दुनीचंद भी नानकजी के दर्शन करने के लिए आया। गुरुजी के दर्शन करके निहाल हो गया सेठ दुनीचंद। उसने हाथ जोड़कर निवेदन किया, ''महाराज, मेरे लायक कोई सेवा बताइए।''

गुरुजी ने उसे एक छोटी सी सुई दी और बोले, ''भाई, यह सुई अपने पास रख लो। अगले जन्म में हमें वापस कर देना।''

दौलत के नशे में चूर सेठ दुनीचंद गुरुजी का अभिप्राय समझ न सका। घर आकर उसने सुई पत्नी को थमा दी और ताकीद कर दी, ''देखो, यह सुई गुरु नानकदेव की अमानत है। इसे

सँभालकर रख दो। अगले जन्म में मुझे यह सुई गुरुजी को वापस लौटानी है।''

पत्नी समझदार थी। वह बोली, ''भला मरकर भी कोई व्यक्ति अपने साथ कुछ ले गया है! जरूर गुरुजी की बात में कोई भेद है। जाओ और अभी उन्हें सुई वापस करके आओ।''

दुनीचंद का माथा ठनका। वह वापस गुरु नानकदेवजी के पास पहुँचा। श्रद्धा के साथ प्रणाम करके बोला, ''महाराज, भला यह सुई मैं मरकर साथ कैसे ले जाऊँगा? इसे तो आप अभी वापस ले लीजिए।''

नानकजी मुसकराए और बोले, ''दुनीचंद, अगर तुम छोटी सी सुई भी अपने साथ नहीं ले जा सकते तो इतनी दौलत कैसे ले जाओगे, जो तुमने अपनी तिजोरियों में भर रखी है?''

दुनीचंद की आँखें खुल गईं। वह नानकजी के चरणों में गिर पड़ा। अपनी सारी दौलत उसने गरीबों में बाँट दी और तन-मन से गुरु नानकदेव का शिष्य बन गया।

सिख धर्म के संस्थापक गुरु नानकदेव का जन्म सन् १४६९ में तलवंडी (अब पाकिस्तान)

नानकजी बाला और मरदाना के साथ

में हुआ। आज यह स्थान '**ननकाणा साहिब**' के नाम से प्रसिद्ध है। नानकजी के पिता का नाम मेहता कालू और माता का नाम तृप्ता था। उनकी एक बहन थी, जिसका नाम नानकी था।

ध्रुव और प्रह्लाद की तरह नानक भी बचपन से ही परमात्मा की भक्ति में लीन रहने लगे। सांसारिक पदार्थ और कर्मकांड उन्हें बिलकुल न भाते। सात वर्ष की अवस्था में जब मेहता कालू के कुल-पुरोहित पंडित हरदयाल नानक को जनेऊ पहनाने लगे तो उन्होंने पुरोहित का हाथ पकड़ लिया और मासूम स्वर में बोले, ''पंडितजी, यह तो कच्चे सूत का जनेऊ है, जो आखिर में यहीं रह जाएगा। मुझे तो आप ऐसा जनेऊ पहनाएँ जो दया के कपास और संतोष के सूत से बना हो, जिसमें सत्य की गाँठ लगी हो। ऐसा जनेऊ न कभी टूटता है, न मलिन होता है। और जो लोग ऐसा जनेऊ धारण कर लेते हैं वे धन्य हैं।''

बालक नानक के ये वचन सुनकर हरदयालजी हैरान रह गए। उन्होंने मेहता कालू को बताया कि नानक कोई सामान्य बालक नहीं है।

मेहता कालू नानक की साधु वृत्ति से खुश नहीं थे। वे चाहते थे कि अन्य बालकों की तरह नानक भी कुछ कमाए और सांसारिक कामों में रुचि ले। यह सोचकर एक दिन उन्होंने नानक को बीस रुपए दिए और कुछ मुनाफेवाला सौदा करके लाने को कहा। नानक घर से चले तो रास्ते में उन्हें कुछ भूखे साधु मिल गए। उन्होंने वे रुपए साधुओं को भोजन करवाने पर खर्च कर दिए, जिसके लिए उन्हें पिता से मार भी खानी पड़ी।

उन्नीस वर्ष में नानकजी का विवाह बीबी सुलखनी से हुआ। उनके श्रीचंद और लक्ष्मीचंद नामक दो पुत्र भी हुए। लेकिन नानक तो मानव जाति के उद्धार के लिए जनमे थे। सो परिवार का मोह भी उन्हें अपने कर्तव्य-पथ से विचलित नहीं कर पाया। वे शोषण, हिंसा, अत्याचार और भेदभाव के शिकार लोगों को स्नेह और सांत्वना देने के लिए घर से निकल पड़े। उन्होंने उत्तर में कश्मीर से लेकर दक्षिण में रामेश्वरम् तक सारे भारत की यात्रा की। वे अफगानिस्तान, बर्मा, तुर्की, श्रीलंका और सिक्किम भी गए। नानकजी जहाँ भी गए वहीं उन्होंने जातियों, धर्मों तथा वर्णों की सीमाओं को तोड़कर उनमें परस्पर समन्वय तथा संबंध स्थापित किया और सहअस्तित्ववाद पर जोर दिया। उन्होंने ईर्ष्या, अहंकार तथा मजहब के नाम पर घृणा तथा परस्पर विद्वेष को अधर्म और पाखंड बताया। राम-रहीम और अल्लाह-ईश्वर के भेद को आपने उस सच (परमात्मा) के मार्ग में शत्रुता बढ़ानेवाला कुमार्ग कहा। नानकजी के लिए संपूर्ण मानव सृष्टि एक देश था और सब मानव जाति एक परिवार थी।

गुरुजी ने तो '**नानक उत्तम नीच न कोई**' कहकर छोटे-बड़े, ऊँच-नीच, राजा-रंक का फर्क ही मिटा दिया। दुनिया जिन्हें अछूत और हेय कहकर तिरस्कृत करती थी, अपनी संगत और

पंगत में उन्हें मान-सम्मान तथा स्थान देकर तथा उनके बारे में यह वाणी उच्चारित करके कि **'नीचा अंदर नीच जाति, नीची हू अति नीच। नानक तिनके संग साथ वडिआँ सियों क्या रीस॥'** उन्होंने तत्कालीन जाति-व्यवस्था के खिलाफ न केवल घोर क्रांतिकारी विद्रोह का स्वर बुलंद किया, बल्कि यह कहा कि उन्हें भी मानवीय गरिमापूर्ण जीवन जीने का उतना ही अधिकार है जितना तथाकथित ऊँची जातियों के लोगों को। यही नहीं, गुरुजी ने गरीब और मेहनतकश वर्ग का खून चूसनेवाले पूँजीपति सामंत मलिक भागो के नानाविध व्यंजनों को ठुकराकर एक दलित बढ़ई भाई लालो का आतिथ्य स्वीकार किया और उसके खून-पसीने की कमाई से बनी रूखी-सूखी रोटी को बड़े प्रेम और चाव से ग्रहण करके अपने आपको दलित और वंचित, लेकिन मेहनतकश और ईमानदार वर्ग के साथ जोड़कर दुनिया के सामने एक लासानी मिसाल कायम की। उन्होंने धर्म, कुल, जाति, गोत्र, भाषा और वर्ण की अधोगामी और संकीर्ण मनोवृत्तियों से रहित एक ऐसे समानतावादी तथा मानवतावादी समाज के निर्माण पर जोर दिया जिसमें देवी-देवताओं और धर्म के नाम पर वैर-विरोध की बजाय **'सबना जीआँ का एक दाता'** और **'एक पिता, एकस के हम बारक'** एवं **'ना को वैरी, नाहि बेगाना, सगल संग हमको बन आई'** के उदात्त गुरु सिद्धांत के अमल और आचरण की परिकल्पना थी। गुरु नानक का प्यारा प्रभु किसी मंदिर या मसजिद की चारदीवारी में कैद नहीं था। उन्होंने लोगों को जात-पाँत के भेदभाव से ऊपर उठकर एक-दूसरे के साथ मिलकर काम करने का उपदेश दिया। उनका हर जगह पहला संदेश होता था—**'नानक उत्तम नीच न कोई'** यानी कोई भी व्यक्ति जन्म से महान् या नीच नहीं होता, बल्कि अपने कर्मों से होता है।

गुरुजी ने स्त्रियों की निंदा करनेवालों को बुरी तरह से फटकारा और कहा, **'सो क्यों मंदा आखिऐ, जित जमै राजान।'** अर्थात् जिस स्त्री जाति ने दुनिया में बड़े-बड़े प्रतापी राजाओं, संतों और महापुरुषों को जन्म दिया है, उसका अपमान करना पाप है। गुरु नानकदेवजी की अनेक वाणियों में सबसे प्रमुख है—'जपुजी साहिब', जिसका संसार की कई भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। 'जपुजी साहिब' का अमर संदेश है—ईश्वर एक है, उसका नाम सत्य है, वह इस संसार को रचनेवाला कर्ता है, वह भय और वैर से रहित है, उसे मौत भी नहीं मार सकती, वह न जनमता है, न मरता है, वह स्वयंभू है और वह ईश्वर गुरु की कृपा से प्राप्त होता है। जीवन के अंतिम दिनों में गुरु नानकदेवजी करतारपुर में बस गए। वहाँ वे खेती-बाड़ी करते और ईश्वर का नाम जपते। अपने एक परम शिष्य भाई लहणा को उन्होंने अपना उत्तराधिकारी बनाया और सन् १५३८ में नानकजी परलोक सिधारे। नानकजी समूची मानव जाति के हरमन प्यारे गुरु थे। एक कवि ने उनकी स्तुति में लिखा है—

'गुरु नानक शाह फकीर
हिंदु का गुरु, मुसलमान का पीर।'

गुरु नानकदेव की वाणी 'गुरु ग्रंथ साहिब' में 'महला १' के शीर्षक से दर्ज है और श्लोकों सहित उनके कुल शबदों की संख्या नौ सौ चौहत्तर है।

२. गुरु अंगददेव

करीब आधी रात का समय था। कड़ाके की ठंड पड़ रही थी और ऊपर से बारिश भी हो रही थी। गुरु नानकदेव के घर की एक दीवार गिर गई। नानकजी ने अपने सुपुत्रों श्रीचंद और लक्ष्मीचंद को दीवार बनाने के लिए कहा। लेकिन उन्होंने आनाकानी की और कहा, ''सुबह राजमिस्त्री बुलाकर दीवार बनवा देंगे।''

इसपर गुरुजी ने अपने कई शिष्यों को दीवार बनाने के लिए बुलाया। पर आधी रात और ठंड का बहाना करके कोई न आया। आखिर में गुरु नानक ने अपने सेवक लहणा को दीवार बनाने के लिए कहा। लहणाजी तुरंत उठे और दीवार बनाने में जुट गए।

जब करीब आधी दीवार बन चुकी तो नानकजी ने कहा, ''दीवार टेढ़ी बनी है। गिराकर दोबारा बनाओ।''

लहणाजी ने ''जैसी आज्ञा।'' कहकर, दीवार तोड़कर दोबारा बनानी शुरू कर दी। मगर दूसरी बार भी नानकजी संतुष्ट नहीं हुए और फिर से दीवार बनाने का आदेश दिया। पूरी रात बीत गई और लहणाजी ठंड तथा बारिश में तब तक दीवार तोड़-तोड़कर बनाते रहे जब तक गुरु नानक उनके कार्य से संतुष्ट नहीं हो गए।

एक दिन नानकजी की ताँबे की एक कटोरी कीचड़ में गिर गई। उन्होंने बारी-बारी से अपने पुत्रों से कटोरी निकालने के लिए कहा।

पुत्रों ने नाक-भौं सिकोड़कर कहा, ''ताँबे की कटोरी ही तो है, बहुतेरी आ जाएँगी। और अगर यही कटोरी चाहिए तो किसीको बुलाकर निकलवा देंगे। एक कटोरी जैसी तुच्छ वस्तु के लिए हम कीचड़ में क्यों जाएँ!''

पुत्रों के मुँह से यह जवाब सुनने के बाद गुरु नानक ने भाई लहणा की ओर देखा। लहणाजी गुरु का संकेत समझ गए और झट से कीचड़ में घुसकर कटोरी निकाल लाए और गुरुजी के चरणों में रख दी।

ऐसे तत्पर, निष्काम सेवक थे लहणाजी, जिनका जन्म सन् १५०४ में पंजाब के जिला फिरोजपुर के एक गाँव 'मते दी सराँ' में भाई फेरूमल नामक एक व्यापारी के यहाँ हुआ। पिता

फेरूमल और माता रामोजी ने बालक का नाम लहणा रखा, जो सिख गुरु परंपरा में गुरु अंगददेव के नाम से दूसरे गुरु कहलाए।

एक बार जोगियों और फकीरों की एक मंडली ज्वालामुखी पहुँची। भाई लहणा ने बड़े नम्र भाव से उनकी सेवा की। जब धर्म-चर्चा प्रारंभ हुई तो सभी एक-दूसरे से पूछने लगे कि क्या इस जगत् में कोई असली पारखी भी है? इसपर जवाब मिला—

'नानक तपा खन्नी इक्क होइया है कोई।
जो वड़ी (बड़ी) बरकत वाला है होइया॥'

गुरु नानकदेव के गुणों का वर्णन सुनकर लहणाजी के हृदय में उनके दर्शन की इच्छा जाग उठी। खडूर साहिब में जब उन्होंने भाई जोगा के मुख से गुरु नानकदेवजी की पवित्र वाणी **'आसा दी वार'** सुनी तो उन्हें लगा कि यही है वह सच्चा आध्यात्मिक ज्ञान का प्रकाश जिसकी उन्हें अब तक तलाश थी और जिसके लिए वह इधर-उधर मारे-मारे फिर रहे थे। उन्हें पता लगा कि इस वाणी के रचयिता बाबा नानक इस समय करतारपुर में बसे हुए हैं। सच्चे गुरु की तलाश में भाई लहणा तुरंत करतारपुर की ओर चल दिए।

इधर अंतर्यामी गुरु नानक ने जान लिया कि उनका एक परम भक्त दर्शन के लिए आ रहा है। सो उन्होंने वचन किया, ''मेरे राज का धनी आया है। मैं उसे लिवा लाऊँ।''

भाई लहणा से गुरुजी का मेल राह में ही हो गया। भाई लहणा ने घोड़ी को रोककर गुरु नानकदेवजी से ही उनके घर का रास्ता पूछा। अंतर्यामी गुरु ने फरमाया, ''हे सज्जन पुरुष, मेरे पीछे-पीछे चले आओ। मैं तुम्हें बाबा नानक के पास ले चलता हूँ।'' यह कहकर उन्होंने लहणा के घोड़े की लगाम थाम ली। गुरुजी उन्हें घर की बजाय धर्मशाला ले गए।

वहाँ पहुँचकर जब उन्हें ज्ञात हुआ कि उनका पथ-प्रदर्शक और कोई नहीं, स्वयं बाबा नानक ही थे तो वह गुरुजी के चरणों में गिर पड़े। गुरुजी ने उन्हें उठाया और पूछा, ''हे पुरुष, तुम्हारा नाम क्या है?''

जवाब मिला, ''लहणा।''

गुरु नानकदेवजी ने मुसकराकर कहा, ''लहणे तै लैणा। सुन पुरखा हम ने है देणा।'' अर्थात् हे लहणा, तुम्हें हमसे कुछ लेना है और हमें तुम्हें कुछ देना है।

लहणाजी ने कुछ समय बाद खडूर साहिब छोड़ दिया और करतारपुर में गुरु नानकदेव की सेवा में स्थायी रूप से आकर बस गए। भाई लहणा की निष्काम और अटूट सेवा भावना से गुरु नानकदेव अत्यंत प्रभावित हुए। लहणा के रूप में उन्हें उत्तराधिकारी प्राप्त हो गया था। अपना अंतकाल निकट आया जान गुरुजी ने संवत् १५९६ में उन्हें गुरुपद परंपरा के निर्वहण का दायित्व

सौंपकर स्वयं उनके चरणों में माथा नवाया और उन्हें 'गुरु अंगद' का नाम दिया।

आध्यात्मिक ज्ञान और उपदेश के साथ-साथ गुरु अंगददेव ने शरीर की तंदुरुस्ती के लिए कसरत आदि पर भी विशेष बल दिया। इसके लिए उन्होंने अखाड़े इत्यादि भी बनवाए। इन अखाड़ों में वे सूरज चढ़ने से पहले युवकों को कसरत तथा अन्य शारीरिक अभ्यास करवाते। पंजाबी भाषा की लिपि 'गुरमुखी' (गुरु के मुख से निकली हुई) भी गुरु अंगददेव ने ही विकसित की तथा उसे लोकप्रिय बनाया।

२९ मार्च, १५५२ के दिन अड़तालीस वर्ष की अवस्था में गुरु अंगददेव ने अपने परम सेवक अमरदासजी को गुरुगद्दी प्रदान की और परलोक सिधारे।

'गुरु ग्रंथ साहिब' में 'महला २' शीर्षक के अंतर्गत गुरु अंगददेव के बासठ श्लोक दर्ज हैं।

३. गुरु अमरदास

सत्तर वर्ष के वृद्ध अमरदासजी की निस्स्वार्थ व अथक सेवा से गुरु अंगददेव बहुत प्रभावित हुए। अपने परलोक गमन से पूर्व गुरु अंगददेव ने गुरु की उच्च पदवी अमरदासजी को सौंप दी। सेवक अमरदास गुरु अमरदास बन गए और सिख पंथ के तीसरे गुरु कहलाए।

अमरदासजी को गुरु बनाए जाने पर गुरु अंगददेव के युवा पुत्र दातूजी बड़े निराश और क्रोधित हुए, क्योंकि पिता के बाद वह अपने आपको गुरुगद्दी का असली उत्तराधिकारी समझते थे।

ईर्ष्या और क्रोध की आग में जलते हुए दातूजी गुरु अमरदास के दरबार में पहुँचे और तिरस्कारपूर्ण स्वर में गुरुजी से बोले, ''कल तक तुम हमारे घर में मामूली सेवक थे, आज गुरु बन बैठे हो।'' यह कहकर उन्होंने बुजुर्ग गुरु अमरदासजी की पीठ पर पाँव से जोरदार प्रहार किया।

गुरु अमरदासजी नीचे गिर पड़े। फिर भी उन्होंने क्रोध नहीं किया बल्कि स्नेहपूर्ण नेत्रों से दातूजी की ओर देखा तथा विनम्र शब्दों में कहा, ''बूढ़ा होने के कारण मेरी हड्डियाँ वज्र जैसी कठोर हो गई हैं। अतः तुम्हारे पाँव को चोट लग गई होगी। मुझे क्षमा कर देना।'' यह कहकर गुरु अमरदास सचमुच दातूजी के पाँव सहलाने लगे। दातूजी बहुत शर्मिंदा हुए और चुपचाप दरबार से बाहर चले गए। ऐसे विनम्र और सहिष्णु थे गुरु अमरदास।

गुरु अमरदास आध्यात्मिक आलोक, सामाजिक क्रांति और संगत तथा गुरु की अवर्णनीय सेवा के साक्षात् स्वरूप थे। उनका जन्म ८ ज्येष्ठ, संवत् १५३६ के दिन अमृतसर शहर से पाँच मील दूर बासरके गाँव में हुआ। उनके पिता बाबा तेजभानजी ने चौबीस वर्ष की उम्र में अमरदास का विवाह सनखत्रे गाँव के निवासी देवचंद की सुपुत्री बीबी मंशादेवी से कर दिया। गुरुजी की चार

मगर, गाँधीजी की बातों की अवज्ञा करके हमने अपने बाहर ही नहीं, भीतर भी अंधकार फैला रखा है।

अन्दर-बाहर सर्वत्र ही अन्धकार! अन्दर और बाहर सर्वत्र ही चिल्लाहट! इतनी बड़ी चिल्लाहट कि हम अपने छोटे श्रवणों से उसे सुनने में भी असमर्थ हैं।

हर आदमी अपनी जिम्मेवारी दूसरों पर फेंक रहा है। हर आदमी अपने को निर्दोष और दूसरों को दोषी बता रहा है। हर आदमी अपने गले के फन्दे को किसी-न-किसी तरह दूसरों के गले में डाल देने की फिक्र में है!

नाव डगमगा रही है। बड़ा कोलाहल है। बड़ी हलचल है। और सब-के-सब डूब रहे हैं।

कौन है, जो हर आदमी के दिल में एक चिराग जला दे और उससे कहे कि पहले अपनी मलिनता और अपने अन्धकार को दूर करो? दीवाली की रात पूछती है कि कौन है।

दीवाली
१९५१

संतानें थीं—दो पुत्र—मोहनजी और मोहरीजी तथा दो पुत्रियाँ—बीबी भानीजी और बीबी निधानीजी।

दूसरे गुरु श्री गुरु अंगददेवजी से भेंट होने से पूर्व अमरदासजी वैष्णव मत के उपासक थे और उनका अधिकांश जीवन तीर्थयात्रा में व्यतीत हुआ। चालीस बार वह गंगास्नान के लिए नंगे पाँव हरिद्वार गए। सत्तर वर्ष की वृद्धावस्था में एक छोटी सी घटना से उनके जीवन में क्रांतिकारी बदलाव आ गया। एक दिन पौ फटने से पहले उन्होंने अपने भतीजे की धर्मपत्नी बीबी अमरो के मुख से, जो गुरु अंगददेवजी की सुपुत्री थी, ईश्वरीय स्तुति के मधुर और आनंददायक शब्द सुने। बुजुर्ग अमरदासजी ने उस ईश्वरीय गीत में धड़कती जीवनधारा को पहली बार पहचाना और उन्होंने अमरो से पूछा कि यह किसकी वाणी है। पता चला कि वह गुरु नानकदेव की 'जपुजी' का संगीत था।

गुरु अमरदास : सेवा से गुरु पदवी पाई

बीबी अमरो उन्हें अपने पिता गुरु अंगददेव के पास ले गई। गुरुजी ने अमरदासजी की वृद्धावस्था के अनुसार उनका यथोचित आदर-सत्कार किया। अमरदासजी गुरु अंगददेव के दर्शन से इतने आनंदित हुए कि उन्होंने अपना सर्वस्व गुरुजी के चरणों में अर्पित कर दिया और तन-मन से गुरु की सेवा में जुट गए। अर्द्धरात्रि के बाद जब सारी दुनिया निद्रा में लीन होती, बुजुर्ग अमरदासजी व्यास नदी से जल की गागर भरकर और उसे अपने सिर पर उठाकर लाते—गुरुजी के स्नान के लिए। तत्पश्चात् वह गुरुजी के वस्त्र धोते और लंगर में गुरुजी को व अन्य श्रद्धालुओं को भोजन करवाते। सेवा और नाम सुमिरन की धुन में वह इतने रँग गए कि कई मूर्ख लोग उन्हें 'दीवाना' तथा उपहास में अमरदास की बजाय 'अमरू' भी कहने लगे। यहाँ तक कि गुरु अंगददेव भी अपने सेवक की परीक्षा लेने के लिए कभी-कभी उनके साथ विचित्र व्यवहार करते। वह पहनने के लिए अमरदासजी को खद्दर की मात्र एक चादर देते। अमरदासजी उसे श्रद्धा से सिर-मस्तक पर धारण कर लेते। गुरुजी के प्रति उनकी श्रद्धा व भक्ति इतनी अगाध थी कि वह कभी उनकी ओर पीठ करके भी नहीं चलते थे—इस खयाल से कि कहीं इससे गुरु का अपमान न हो जाए और वह उनसे रूठ न जाएँ।

सेवक की सेवा रंग लाई। गुरु की परीक्षा में वह खरे उतरे। अपना अंत समय निकट आया देखकर सन् १५५२ में गुरु अंगददेव ने तिहत्तर वर्षीय अमरदासजी को गुरु की पदवी प्रदान करके उन्हें उच्च आसन पर बिठाया और स्वयं उनके चरणों में माथा नवाकर वचन किया, "मेरा अमरदास बेसहारों का सहारा और स्वयं गुरु नानक का स्वरूप है।"

गुरु अमरदास ने गोइंदवाल में अपना मुख्यालय स्थापित किया। जात-पाँत के उन्मूलन तथा सामाजिक बराबरी की स्थापना के महान् उद्देश्य से गुरु नानकदेवजी ने 'संगत और पंगत' की जो क्रांतिकारी प्रथा प्रारंभ की थी, गुरु अमरदास ने उसे जारी ही नहीं रखा बल्कि यह नियम भी लागू कर दिया कि उनके दर्शन की आज्ञा व्यक्ति को तभी प्राप्त होगी जब वह पहले लंगर में सबके साथ एक ही पंगत (पंक्ति) में बैठकर भोजन ग्रहण करेगा—चाहे दर्शनार्थी कितना भी बड़ा व्यक्ति क्यों न हो। जब बादशाह अकबर उनके दर्शन के लिए आया तो उसे भी गुरुजी के दरबार में जाने की तब तक आज्ञा नहीं दी गई जब तक उसने गुरु के लंगर में संगत के साथ पंगत में बैठकर भोजन ग्रहण नहीं कर लिया।

गुरु अमरदास ने सामाजिक सुधार की दिशा में कई क्रांतिकारी कार्य किए। विशेषकर सदियों से सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक अन्याय व भेदभाव की शिकार स्त्री जाति के उत्थान के लिए गुरुजी का अत्यंत महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। उन्होंने पुरुषों के साथ-साथ स्त्रियों को भी धार्मिक सभाओं में शामिल होने की अनुमति तो दी ही, साथ ही धार्मिक प्रचार के लिए स्त्रियों को

भी नियुक्त किया। उन्होंने परदा-प्रथा का सख्त विरोध किया और यह आदेश दिया कि उनके दरबार में स्त्रियाँ बिना परदे के आएँ।

स्त्री जाति के लिए गुरुजी की सबसे बड़ी देन थी—सती-प्रथा का विरोध और निषेध। गुरुजी का कहना था कि "वास्तविक सती वह है जो अपने पति की मृत्यु के पश्चात् पवित्र एवं संयत जीवन व्यतीत करती है। वे स्त्रियाँ भी सती हैं जो अपने नारीत्व की रक्षा करती हैं, अपना जीवन संतोष से व्यतीत करती हैं, प्रतिदिन प्रात: उठकर ईश्वर की सेवा-सुमिरन करती हैं।" गुरु अमरदासजी के ही अनुरोध पर अकबर ने सती-प्रथा पर रोक लगाने का आदेश दिया था।

पंचानबे वर्ष की अवस्था में गुरुजी ने अपने एक अनन्य सेवक भाई जेठाजी (गुरु रामदास) को गुरुपद परंपरा के निर्वहण का दायित्व सौंप दिया। वे १ सितंबर, १५७४ के दिन स्वर्ग सिधारे।

गुरु अमरदास ने कुल नौ सौ सात शबदों की रचना की और ये सभी शबद 'गुरु ग्रंथ साहिब' में 'महला ३' शीर्षक से संकलित हैं।

४. गुरु रामदास

चौथे गुरु और वर्तमान अमृतसर शहर तथा इस शहर में मानवीय एकता, आध्यात्मिक आनंद व शांति के प्रतीक श्री हरिमंदिर साहिब (स्वर्ण मंदिर) के सरोवर के निर्माता गुरु रामदास अपार विनम्रता तथा सहिष्णुता के उच्च आदर्श थे। एक बार गुरु नानकदेवजी के ज्येष्ठ पुत्र बाबा श्रीचंदजी गुरु रामदास से मिलने अमृतसर आए।

गुरुजी की लंबी, घनी और लहराती दाढ़ी को देखकर श्रीचंदजी ने उनसे व्यंग्यपूर्ण स्वर में कहा, "इसे इतना बढ़ा क्यों रखा है आपने?"

"आपके पवित्र चरणों पर लगी धूल को साफ करने के लिए।" गुरु रामदासजी ने बड़े ही सहज भाव से उत्तर दिया।

सुनकर श्रीचंदजी लज्जित हो गए और बोले, "यही विशेषता है जिसने आपको इतना बड़ा (महान्) और मुझे इतना छोटा बना दिया है।" यही नहीं, श्रीचंदजी जब विदा होने लगे तो गुरु रामदास ने उन्हें पाँच सौ रुपए तथा एक घोड़ा भेंट करके उनका और सत्कार किया।

गुरु रामदासजी का जन्म २४ सितंबर, १५३४ के दिन चूना मंडी, लाहौर में हुआ। पिता हरदास और माता दया कौर ने उनका नाम जेठा रखा। बाल्यकाल से ही उनका मन आध्यात्मिक विचारों में प्रवृत्त हो गया। अत: सांसारिक कार्यों से उन्हें विरक्ति सी हो गई। माता-पिता द्वारा बहुत अधिक जोर देने पर वे लाहौर की एक सड़क के किनारे बैठकर उबले चने बेचने लगे। कभी-कभी तरंग में आकर वे भूखे लोगों को चने मुफ्त ही बाँट देते।

एक बार जेठाजी को पता लगा कि लाहौर से यात्रियों का एक जत्था गुरु नानक की गुरु परंपरा के तीसरे गुरु श्री गुरु अमरदास के दर्शन के लिए गोइंदवाल साहिब जा रहा है। घर-बार छोड़कर जेठाजी भी जत्थे के साथ हो लिये। गोइंदवाल पहुँचकर जेठाजी ने गुरु अमरदास के दर्शन किए तो उन्हें अंदर से जैसे यह आवाज आई कि जिस रहनुमा की उन्हें अब तक तलाश थी, वह उन्हें आज प्राप्त हो गया है। उन्होंने अपना सर्वस्व गुरु को अर्पित कर दिया और तन-मन से गुरु दरबार की सेवा करने लगे। जेठाजी की निष्काम, विनम्र सेवा और मधुर वाणी से अभिभूत होकर लोग उन्हें रामदास (प्रभु का सेवक) के नाम से बुलाने लगे। गुरु अमरदास भी उन्हें इसी नाम से बुलाने लगे और इस तरह उनका नाम 'रामदास' दृढ़ हो गया।

दिन-रात की अथक सेवा से रामदास ने गुरु अमरदासजी का दिल जीत लिया। रामदास के रूप में उन्हें अपनी दो-दो चिंताओं का समाधान मिल गया—एक तो अपनी पुत्री बीबी भानी के लिए योग्य वर और दूसरे अपना उत्तराधिकारी। गुरुजी ने रामदास का विवाह बीबी भानी से कर दिया।

गोइंदवाल में गुरु अमरदास द्वारा बाउली के निर्माण के दौरान रामदासजी दिन-रात सिर पर मिट्टी और गारे की टोकरी ढोते हुए सेवा में जुटे रहते। उन्हें इस तरह सेवा करते देख उनके गाँव के कुछ लोगों को बहुत बुरा लगा कि हमारा ग्राम भाई ससुराल के घर में टोकरी ढो रहा है। उन्होंने गुरु अमरदास तक को इसका उलाहना दिया।

इसपर गुरुजी ने मुसकराकर कहा, ''रामदास के सिर पर मिटटी-गारे की टोकरी नहीं बल्कि दीन-दुनिया का छत्र है।''

जो ज्योति गुरु नानकदेव ने गुरु अंगद में और गुरु अंगददेव ने गुरु अमरदास में देखी वही ज्योति गुरु अमरदास ने जेठाजी अर्थात् रामदासजी में देख ली। अंत समय निकट आया देख १ सितंबर, १५७४ के दिन गुरु अमरदास ने रामदास को गुरुपद परंपरा के निर्वहण का दायित्व सौंपा और स्वयं उनके चरणों में शीश नवाकर फरमाया, ''आप मेरे रूप हैं। गुरु नानक की ज्योति आपमें विद्यमान है।''

गुरु अमरदास के ज्येष्ठ पुत्र बाबा मोहनजी स्वयं को गुरुगद्दी का असली उत्तराधिकारी समझते थे। सो गुरुजी के उक्त निर्णय से वे नाराज हो गए। उन्होंने अपनी बाकी बची सारी उम्र इसी क्रोध में एक कमरे में एकांतवास करते हुए बिता दी।

गुरुपद ग्रहण करने के बाद गुरु रामदास गुरु अमरदास की प्रेरणा से उस स्थान पर चले आए जो बादशाह अकबर द्वारा बीबी भानी को भेंटस्वरूप दी गई जागीर का एक हिस्सा था। गुरुजी ने इस स्थान पर सर्वप्रथम अमृतसर शहर की नींव रखी। गुरु नानक के 'किरत्त करो' (यानी मेहनत

की कमाई करो) के सिद्धांत के अनुरूप गुरु रामदास एक ऐसे समाज की स्थापना करना चाहते थे जिसमें न कोई मुफ्तखोर हो, न पराश्रित। अत: उन्होंने अलग-अलग स्थानों से बावन जातियों के हुनरमंदों को प्रेरित करके अमृतसर में एक केंद्र में लाकर बसाया, जो आज भी 'गुरु बाजार' के नाम से जाना जाता है। सन् १५७४ में गुरु रामदास ने वर्तमान अमृत सरोवर की खुदाई आरंभ करवाई, जो सन् १५८९ में पूरी हुई। इसके मध्य में हरि के मंदिर के निर्माण के उनके संकल्प को आगे चलकर पाँचवें गुरु गुरु अर्जनदेवजी ने पूरा किया।

अपने तीन पूर्ववर्ती गुरुओं की तरह गुरु रामदास ने भी अनेक शास्त्रीय रागों में ईश्वरीय वाणी की रचना की। गुरुजी की वाणी यत्र-तत्र उस विरहिणी सुहागिन की पीड़ा को व्यक्त करती है जो अपने प्रिय के दर्शन के लिए व्याकुल है। यथा—

'इक घड़ी न मिलते ताँ कलजुग होता
हुण कदि मिलिए प्रिय तुद भगवंता
मोहि रैणि न विहावै नींद न आवै
बिनु देखे गुरु दरबारे जीउ
हऊ घोली जीउ घोल घुमाई
तिस सचे गुरु दरबारे जीउ॥'

अपना अंत समय समीप आया देखकर गुरु रामदास ने संगत की सलाह और सहमति से गुरुपद का दायित्व अपने तीन पुत्रों—प्रिथीचंद, महादेव और अर्जनदेव में से सबसे सुयोग्य अर्जनदेव को सौंपने का निश्चय किया। तदनुसार १ सितंबर, १५८१ को अर्जनदेव को गुरुगद्दी सौंपकर उसी दिन गुरु रामदास परलोक सिधार गए। 'गुरु ग्रंथ साहिब' में गुरुजी के ६७९ शबद 'महला ४' शीर्षक से दर्ज हैं।

५. गुरु अर्जनदेव

व्यास नदी पार करके पाँचवें गुरु श्री गुरु अर्जनदेव डल्ले गाँव पहुँचे तो दूर-दूर से श्रद्धालु उनका उपदेश सुनने के लिए आए। जालंधर का हाकिम सैयद अजीम खाँ भी गुरुजी की कीर्ति और महिमा सुनकर उनके दर्शन-उपदेश के लिए पहुँचा। गुरु अर्जनदेव के चरणों में शीश नवाकर अजीम खाँ ने सवाल किया, ''महाराज, आपके विचार में हिंदू धर्म श्रेष्ठ है कि इसलाम धर्म?''

इसपर गुरुजी ने उत्तर दिया, ''राम-रहीम, अल्लाह-नारायण आदि सब एक ही कर्ता के नाम हैं। हिंदू और मुसलमान दोनों में उसीकी ज्योति का प्रकाश है।''

यह सुनकर अजीम खाँ बहुत प्रसन्न और प्रभावित हुआ।

एक दिन बाला और कृष्णा पंडित गुरु अर्जनदेव के दरबार में हाजिर हुए और प्रार्थना की, ''महाराज, हम कथा करके लोगों के मन को शांति प्रदान करते हैं। लेकिन हमारा अपना मन फिर भी अशांत रहता है। कृपया मन की शांति का कोई उपाय बताइए।''

गुरुजी ने कहा, ''अगर धन इकट्ठा करने के लिए कथा की जाती है तो उससे मन में कभी भी शांति नहीं होगी। यदि आप शांति चाहते हैं तो अपनी कथनी (कथा) पर स्वयं भी अमल किया

गुरु अर्जनदेव

करो और निष्काम भाव से कथा किया करो।''

बाला और कृष्णा इस उत्तर से बहुत संतुष्ट हुए।

गुरु अर्जनदेव बहुआयामी प्रतिभा के धनी थे। वह एक कुशल संगठनकर्ता, महान् पैगंबर, उच्च कोटि के आध्यात्मिक कवि, अथक धर्म-प्रचारक, संगीत और कला के मर्मज्ञ एवं सत्य तथा न्याय की रक्षा के लिए अपना जीवन तक कुरबान कर देनेवाले प्रथम शहीद सिख गुरु थे। प्रथम चार गुरुओं ने सिख धर्म की नींव रखी, तो गुरु अर्जनदेवजी ने न केवल सिखों को बल्कि संपूर्ण मानव जाति को आध्यात्मिक ज्ञान का परम खजाना 'श्रीगुरु ग्रंथ साहिब' एवं महान् केंद्रीय तीर्थस्थल स्वर्ण मंदिर भेंट करके उस नींव पर धर्मनिरपेक्षता तथा सर्वधर्म समभाव की चिरस्थायी इमारत खड़ी की।

गुरु अर्जनदेव का जन्म सन् १५६३ में हुआ। वह चौथे गुरु रामदास के तीन पुत्रों में सबसे छोटे थे। पिता गुरु रामदास ने अर्जनदेव के बाल्यकाल में ही उसमें प्रभु प्रीतम के दर्शन कर लिये थे। शिशु अर्जन तीसरे गुरु अमरदासजी का भी लाड़ला था। अकसर जब गुरु अमरदासजी भोजन कर रहे होते तो नन्हा अर्जन उनकी थाली में हाथ मारने लगता। इसपर गुरुजी के वचन होते थे, 'बेटा, इतना बेसब्र मत हो। एक दिन तू भी इसी थाली में भोजन करेगा।'

उनकी भविष्यवाणी सच निकली। सन् १५८१ में, जब अर्जनदेवजी की उम्र सिर्फ अठारह वर्ष थी, श्री गुरु रामदासजी ने उन्हें धर्मसम्मत रीति से गुरुपद परंपरा के निर्वहण का दायित्व सौंपा और कहा, ''अर्जनजी आज संपूर्ण पृथ्वी के गुरु बन गए हैं। उनके तख्त से उद्‌भूत प्रकाश समूची सृष्टि को रोशन कर रहा है।''

गुरुपद ग्रहण करने के पश्चात् गुरु अर्जनदेव ने अपने पूर्वज गुरुओं के आध्यात्मिक ज्ञान के संदेश के प्रचार एवं प्रसार के लिए रावी तथा व्यास के मध्यवर्ती क्षेत्रों की यात्रा की। इस दौरान वह अमृतसर से करीब बारह मील की दूरी पर स्थित एक छोटे से स्थान की मिट्‌टी और जलवायु से इतने प्रभावित हुए कि वहाँ उन्होंने एक बहुत बड़े सरोवर तथा तीर्थस्थल का निर्माण करवाया और उसका नाम रखा 'तरणतारण', अर्थात् वह तीर्थ जिसके दर्शन एवं स्नान से श्रद्धालु भवसागर को पार कर जाते हैं। इसके बाद गुरुजी ने करतारपुर और छरहटा की नींव रखी।

गुरु अर्जनदेवजी ने अध्यात्म के साथ विकास को जोड़कर भक्ति-परंपरा को एक नई दिशा दी। पंजाब की शुष्क धरती सदा पानी के लिए तरसती थी। गुरु अर्जनदेवजी ने राज्य में जगह-जगह कुओं, बावड़ियों और सरोवरों का निर्माण करवाकर पंजाब के लोगों के प्रति महान् उपकार किए।

पिता गुरु रामदासजी ने अमृतसर शहर बसाया तो पुत्र अर्जनदेव ने वहाँ 'सिफति दा घर'

यानी हरिमंदिर साहिब का निर्माण करके अमृतसर को एक नया रूहानी स्वरूप दिया। हरिमंदिर साहिब की नींव उन्होंने एक सूफी फकीर साँईं मियाँ मीर से रखवाई और चारों दिशाओं में चार द्वार रखे। यह एक गहरा और गंभीर संदेश था धर्म और जाति-व्यवस्था के भेद में बँटे भारतीय समाज को, कि प्रभु का यह घर सबका साँझा है और किसी भी जाति या वर्ण का कोई भी व्यक्ति किसी भी द्वार से यहाँ आकर उनकी कृपा प्राप्त कर सकता है।

हरिमंदिर साहिब के निर्माण के अलावा गुरु अर्जनदेवजी के जीवन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं रचनात्मक कार्य था आदिग्रंथ यानी 'श्रीगुरु ग्रंथ साहिब' का संकलन। उन्होंने एक-एक स्थान पर जाकर बड़ी श्रद्धा, प्यार और अदब के साथ अपने पूर्ववर्ती चारों गुरुओं की पवित्र वाणी को एकत्र किया और गुरु-घर के सम्माननीय लिपिकार भाई गुरदासजी के हाथों चारों गुरुओं और स्वयं की वाणी को लिपिबद्ध करवाया। यही नहीं, आदिग्रंथ में गुरु अर्जनदेवजी ने तीस अन्य संतों-भक्तों की आध्यात्मिक वाणी भी सम्मिलित की। ये संत और भक्त सूरदास जैसे ब्राह्मण भी थे और फरीद जैसे मुसलमान सूफी तथा कबीर, रविदास जैसे तथाकथित अस्पृश्य एवं नीची जातिवाले महापुरुष भी थे। सभी की वाणी को एक ही जिल्द रूपी माला मेँ पिरोकर गुरु अर्जनदेवजी ने ऊँच-नीच, ब्राह्मण-शूद्र का भेदभाव मिटा दिया। आदिग्रंथ का संकलन और संपादन संपन्न होने पर गुरुजी ने हरिमंदिर साहिब में पूर्ण मर्यादा के साथ उसका 'प्रकाश' (स्थापन) किया और बाबा बुड्डाजी को उसका प्रथम ग्रंथी नियुक्त किया।

सन् १६०५ में जब जहाँगीर अकबर का उत्तराधिकारी बना तो उसके पुत्र खुसरो ने उसके खिलाफ बगावत कर दी और शाही सेनाओं से घबराकर वह गुरु अर्जनदेव की शरण में आया। इसके लिए मुगलिया सल्तनत द्वारा गुरुजी पर दो लाख रुपए का जुर्माना किया गया। पर गुरुजी ने यह अनुचित जुर्माना देने से इनकार कर दिया। अंततः उन्हें बंदी बनाकर घोर अमानवीय यातनाएँ दी गईं और ज्येष्ठ की तपती दोपहरी में जलते तवे पर बिठाकर और ऊपर से उनके शरीर पर तपती रेत डालकर बड़ी निर्ममता से शहीद कर दिया गया। फिर भी गुरुजी ने उफ तक नहीं की, बल्कि यही फरमाया, **'तेरा कीआ मीठा लागे, हरि नामु पदार्थु नानक माँगे।'**

'गुरु ग्रंथ साहिब' में गुरु अर्जनदेव के कुल दो हजार दो सौ अठारह शबद 'महला ५' के नाम से दर्ज हैं।

६. गुरु हरिगोबिंद

'गुरु ग्रंथ साहिब' के संकलनकर्ता और पाँचवें सिख गुरु श्री गुरु अर्जनदेव की धर्मपत्नी माता गंगाजी विवाह के पंद्रह वर्ष बाद भी संतान न होने से दिन-रात इस चिंता में घुलती रहती थी

कि परिवार के वंश-वृक्ष को कौन आगे बढ़ाएगा। एक दिन उन्होंने अपनी चिंता पति गुरु अर्जनदेव से कह सुनाई। गुरुजी ने माता गंगाजी को सलाह दी कि वह गुरु-घर के पुरातन बुजुर्ग बाबा बुड्डाजी के पास जाकर उनकी सेवा करें और आशीर्वाद लें तो निश्चित रूप से उनकी संतान की मनोकामना पूरी होगी।

गुरु अर्जनदेव की सलाह के मुताबिक माता गंगाजी ने कई प्रकार के व्यंजन तैयार करवाए और दास-दासियों के साथ आलीशान रथ पर सवार होकर बाबा बुड्डाजी के पास पहुँचीं। बाबाजी ने भोजन तो ग्रहण कर लिया, लेकिन वह प्रसन्न नहीं हुए। मायूस माता गंगाजी ने लौटकर सारी बात पति अर्जनदेव को सुनाई।

गुरुजी ने कहा, ''महापुरुष लोग आडंबर और तड़क-भड़क से नहीं, विनम्रता से प्रसन्न होते हैं।''

गुरुजी के कहे मुताबिक माता गंगाजी ने अगले दिन प्रात:काल अपने हाथों से अनाज पीसकर ठेठ घरेलू ढंग से मिस्सी रोटी और लस्सी तैयार की तथा साथ में कुछ सूखे प्याज लेकर भरी दोपहरी, तपती गरमी में अकेली नंगे पाँव चलकर बाबा बुड्डाजी के निवास पर पुन: पहुँचीं।

माता गंगाजी के हाथ का बना हुआ भोजन खाकर बाबा बुड्डाजी अत्यंत प्रसन्न हुए। भोजन के दौरान एक मोटे से प्याज को मुक्का मारकर तोड़ते हुए उन्होंने माता गंगाजी को वर दिया, ''आपके घर एक ऐसा पराक्रमी युगपुरुष जन्म लेगा जो मीरी और पीरी का मालिक होगा। वह योद्धा दुष्टों के सिर वैसे ही तोड़ेगा जैसे हम यह प्याज तोड़ रहे हैं।''

प्रसन्न मन से माता गंगाजी घर लौटीं। बाबा बुड्डाजी का वरदान पूरा हुआ और २१ आषाढ़, संवत् १६५२ के दिन वडाली (जिला अमृतसर) में गुरु अर्जनदेव के घर बालक हरिगोबिंद का प्रकाश (जन्म) हुआ। आगे चलकर पिता गुरु अर्जनदेव के बाद वह सिख धर्म के छठे गुरु कहलाए। गुरु-सुपुत्र होने के कारण गुरु हरिगोबिंद साहिब का व्यक्तित्व भी भक्ति-भावना, परोपकार, त्याग, दानशीलता और करुणा के उदात्त संस्कारगत गुणों से परिपूर्ण था।

यद्यपि बालक हरिगोबिंद का बचपन माता-पिता के लाड़-दुलार और प्यार में बीता, पर बाल्यावस्था में उन्हें अपने ही ताया प्रिथीचंद और ताई करमो की ईर्ष्या के हाथों कष्ट और यातनाएँ भी सहनी पड़ीं। प्रिथीचंद गुरु अर्जनदेव का बड़ा भाई था और चौथे गुरु श्री गुरु रामदास के बाद, जो गुरु अर्जनदेव और प्रिथीचंद के पिता भी थे, स्वयं को गुरुगद्दी का असली उत्तराधिकारी समझता था। लेकिन प्रिथीचंद की गुरु-घर विरोधी नीतियों और बुरी संगत के कारण गुरु रामदास ने उससे अपना नाता तोड़ लिया तथा अपने छोटे सुपुत्र अर्जनदेव को गुरुगद्दी सौंप दी। तब से प्रिथीचंद और उसकी पत्नी गुरु-घर और विशेषकर गुरु अर्जनदेवजी के परिवार के कट्टर वैरी बन

बैठे। अपने दुष्ट स्वभाव के मुताबिक वे हमेशा गुरुजी को नीचा दिखाने का षड्यंत्र रचते रहते।

प्रिथीचंद खुद तो अपनी कुटिल हरकतों के कारण गुरुगद्दी प्राप्त नहीं कर सका, लेकिन पंद्रह वर्ष गुजर जाने पर भी छोटे भाई अर्जनदेव के यहाँ कोई संतान न होती देखकर वह खुश था कि चलो मुझे न सही, मेरे लड़के मेहरबान को गुरु अर्जनदेवजी के बाद गुरुगद्दी मिलेगी ही। लेकिन गुरु अर्जनदेव के यहाँ पुत्र के जन्म की खबर सुनकर प्रिथीचंद और करमो जल-भुन गए। अपनी उम्मीदों पर पानी फिरता देख दोनों ने बालक हरिगोबिंद को मरवाने के कई षड्यंत्र रचे। पहले उन्होंने हरिगोबिंद की दाई को लालच देकर खरीद लिया और उसके स्तनों पर जहर लगवाकर बालक हरिगोबिंद के पास भेजा। दाई की लाख कोशिशों के बावजूद बालक ने उसके स्तनों से दूध नहीं पिया, उलटे जहर के असर से खुद दाई ही मर गई। यह निशाना खाली जाता देख पापी प्रिथीचंद और करमो ने एक सपेरे के हाथों बालक हरिगोबिंद के कमरे में एक जहरीला साँप छोड़वा दिया। लेकिन 'जा को राखे साँईंया, मार सके न कोय' की उक्ति के मुताबिक सेवादारों को समय पर पता चल गया और उन्होंने साँप को मार दिया।

इसके बावजूद प्रिथीचंद और करमो अपनी दुष्टता से बाज नहीं आए। तीसरी बार उन्होंने बालक हरिगोबिंद के एक सेवक के जरिए दही में जहर डालकर उन्हें मरवाने का कुचक्र रचा। जब वह दुष्ट बालक को दही पिलवाने लगा तो वह रोने लगा। बच्चे का रोना सुनकर पिता अर्जनदेव आ गए। पर बालक ने उनके हाथ से भी दही पीने से इनकार कर दिया। गुरुजी ने वह दही एक कुत्ते को डाल दिया, जिसे पीते ही वह मर गया। इसपर उस गद्दार का सारा भेद खुल गया। प्रिथीचंद की पूरे शहर में बदनामी हुई और वह गद्दार सेवक भी दूसरे दिन शूल से मर गया। इस भारी बदनामी के बाद प्रिथीचंद और करमो ने अपनी दुष्ट हरकतें बंद कर दीं।

सर्वशक्तिमान् गुरु अर्जनदेव ने अपने आध्यात्मिक ज्ञान से यह अनुभव कर लिया था कि आनेवाले समय में जुल्म और अन्याय का मुकाबला करने के लिए सिखों को संत के साथ-साथ सिपाही भी बनना पड़ेगा। अत: उन्होंने अपने सुपुत्र हरिगोबिंद को युद्धकला और कौशल का प्रशिक्षण प्राप्त करने के लिए बाबा बुड्डाजी के पास भेजा। बाबाजी ने हरिगोबिंद साहिब को सर्वप्रथम गुरुवाणी की विद्या दी और तत्पश्चात् उन्हें शस्त्र संचालन, घुड़सवारी, कुश्ती इत्यादि जैसे करतब सिखाए। नतीजतन हरिगोबिंद साहिब एक ऐसे पुरुष के रूप में उभरे, जो शूरवीर योद्धा भी थे और ब्रह्मज्ञानी भी। गुरु हरिगोबिंदजी के इस विशिष्ट गुण पर भाई गुरुदासजी ने लिखा है—

'दल भंजन गुरु सूरमा बड जोधा बहु परउपकारी।'

मुगल बादशाह जहाँगीर के हाथों पिता गुरु अर्जनदेव की शहीदी के पश्चात् सिर्फ ग्यारह वर्ष की अल्पायु में हरिगोबिंदजी ने गुरुगद्दी का दायित्व ग्रहण किया। गुरु-पदवी का तिलक

लगाने के बाद बाबा बुड्डाजी ने, परंपरा के मुताबिक, जब गुरु हरिगोबिंद साहिब को सेली टोपी (संतों-फकीरों द्वारा पहनी जानेवाली रेशमी या ऊनी टोपी, जिसे गुरु नानकदेवजी से लेकर गुरु अर्जनदेवजी तक पाँचों गुरु साफे के साथ पहनते रहे) पेश की तो गुरुजी ने फरमाया, ''इसका युग अब खत्म हुआ। हमें आप दस्तार (पगड़ी), कलगी और तलवार पहनाइए।''

ऐसा ही हुआ। गुरुजी ने दो तलवारें पहनीं—एक मीरी की और एक पीरी की। पहली आध्यात्मिक मार्ग की प्रतीक थी तो दूसरी सांसारिक मामलों में पंथ और समूची मानवता की अगुआई की।

गुरुगद्दी पर विराजमान होने के पश्चात् गुरु हरिगोबिंद साहिब ने अपने अनुयायियों को यह आदेश दिया कि वे अन्य प्रकार की भेंट-सामग्री के साथ-साथ शस्त्र और घोड़े भी लाएँ, ताकि सिख शस्त्र विद्या सीखकर अन्याय तथा अत्याचार की उस आँधी से टक्कर ले सकें, जिसमें उनके पूज्य पिता गुरु अर्जनदेव शहीद हो गए थे। सिख कौम को नई दिशा देने के उद्देश्य से गुरुजी ने अमृतसर में दो प्रमुख कार्य किए। पहला—लौहगढ़ किले का निर्माण, जहाँ वे अपने अनुयायियों को शारीरिक सौष्ठव-निर्माण और युद्धकला का प्रशिक्षण दिया करते थे और दूसरा—स्वर्ण मंदिर के ठीक सामने अकाल तख्त का निर्माण। इसके जरिए गुरु हरिगोबिंदजी ने पहली बार सिखों की राजनीतिक पहचान कायम की। सोहन कवि ने अपनी रचना 'गुरु बिलास पातशाही छठी' में अकाल तख्त के निर्माण को अकाल पुरुष (परमात्मा) के आदेश की पूर्ति की संज्ञा दी है। कवि का कथन है—

'अकाल पुरख पुनि बचनि उच्चारे। हरिगोबिंद सुनीऐ निरधारे॥
तुम हमरे महि भेद न कोई। तोहि अवतार हेत इह होई॥
तोर पिता को बच कहे, पाछे मुहि इहि भाय।
सुत तुमरा तुमरे निकट, मेरे तख्त बनाय॥'

—अर्थात् परमात्मा ने स्वयं गुरु हरिगोबिंदजी को यह कहा कि मेरे और तुम्हारे बीच कोई भेद नहीं है और तुम्हारे पिता से हमने यह वचन किया था कि तुम्हारा सुपुत्र तुम्हारे दरबार के पास (ज्ञातव्य है कि दरबार साहिब का निर्माण गुरु अर्जनदेवजी ने करवाया था) मेरा तख्त बनाएगा।

जहाँ दरबार साहिब का वातावरण एकदम शांत और भक्तिमय होता, अकाल तख्त का वातावरण उतना ही जोशीला और वीर रस से पूर्ण होता। प्रतिदिन दोपहर के बाद गुरु हरिगोबिंदजी अकाल तख्त पर राजसी और सांसारिक सत्ता के प्रतीक बनकर बैठते। वे लोगों की शिकायतें सुनते और उनके झगड़ों का निपटारा करते।

गुरु हरिगोबिंद की बढ़ती शक्ति और रुतबा देखकर गुरु-घर के सदा से विरोधी रहे चंदू

और मेहरबान (प्रिथीचंद का बेटा) ने जहाँगीर के कान भरने शुरू कर दिए कि हरिगोबिंदजी ने बादशाही तख्त के मुकाबले में अकाल तख्त बना लिया है, जहाँ विराजमान होकर वे खुद को 'सच्चा पातशाह' कहलवाते हैं। उन्होंने सैनिक शक्ति भी संगठित कर ली है और उनकी बढ़ती ताकत को अगर रोका न गया तो किसी दिन वे हुकूमत के लिए खतरा साबित हो सकते हैं।

कान के कच्चे जहाँगीर ने, जो गुरु अर्जनदेव की शहीदी के कारण पहले ही अंदर से डरा हुआ था, बड़ी चालाकी और धोखे से गुरु हरिगोबिंद को गिरफ्तार करके ग्वालियर के किले में नजरबंद कर दिया, जहाँ बावन राजा पहले से ही बंदी थे और जेल की यातनाएँ भुगत रहे थे।

हिंदुओं और सिखों के अलावा कई नेक दिल मुसलमानों ने भी गुरुजी को बंदी बनाए जाने का कड़ा विरोध किया। नतीजतन करीब दो वर्ष बाद बादशाह ने गुरुजी को रिहा करने का फरमान जारी कर दिया। कैदखाने में बंद बावन राजाओं की दुर्दशा से द्रवित गुरु हरिगोबिंदजी ने कहलवा भेजा कि जब तक इन सभी बावन राजाओं को भी रिहा नहीं किया जाता, वे किले से बाहर नहीं जाएँगे। इसपर बादशाह जहाँगीर ने कहा कि ठीक है, जितने भी कैदी राजा गुरुजी का हाथ या पल्ला थामकर निकल सकते हैं, निकल जाएँ। गुरुजी ने चतुराई से काम लेते हुए पचास कलियों वाला जामा तैयार किया और इस प्रकार पचास राजाओं को अपने जामे की एक-एक कली थमाकर तथा बाकी दो राजाओं को अपना हाथ थमाकर कैद से छुड़ा लिया और तब से वे 'बंदी छोड़ पातशाह' कहलाए।

गुरु नानकदेवजी के बाद गुरु हरिगोबिंद पहले गुरु थे, जिन्होंने धर्म के प्रचार के लिए पंजाब से बाहर दौरा किया। श्रीनगर (कश्मीर) में आपकी मुलाकात शिवाजी मराठा के धार्मिक गुरु श्री समर्थ रामदासजी से हुई।

अस्त्र-शस्त्रों से लैस और घोड़े पर सवार हरिगोबिंदजी को देखकर समर्थ रामदासजी बोले, "हमने सुना था, आप गुरु नानकदेव की गद्दी पर विराजमान हैं। पर गुरु नानकदेव तो त्यागी साधु थे, जबकि आप तो शस्त्र, घोड़े और सैनिक रखते हैं और 'सच्चा पातशाह' कहलाते हैं। आप कैसे साधु हैं?"

गुरु हरिगोबिंदजी ने उत्तर दिया, " 'बातन फकीरी, जाहर अमीरी।' शस्त्र हमने गरीब की रक्षा और अत्याचारी के विनाश के लिए धारण किए हैं। बाबा नानक ने संसार नहीं त्यागा था, माया का त्याग किया था।"

समर्थ रामदासजी इस उत्तर से अत्यंत प्रभावित हुए। और सच भी है, मजलूमों की रक्षा के लिए गुरुजी ने चार लड़ाइयाँ लड़ीं। पर ये लड़ाइयाँ राजसी नहीं, धार्मिक (धर्मयुद्ध) थीं। उन्होंने विरोधी पक्ष की एक इंच भूमि पर भी कब्जा नहीं किया, बल्कि अपने खर्च पर मुसलमानों के लिए

करतारपुर में एक मसजिद बनवाई।

अपने पचास वर्षीय जीवनकाल के अंतिम दस वर्ष गुरु हरिगोबिंद साहिब ने ईश्वर के चिंतन में व्यतीत किए। आपके पाँच साहिबजादे (सुपुत्र) हुए—बाबा गुरदिताजी, श्री सूरजमलजी, श्री अणीरायजी, बाबा अटलरायजी और श्री तेगबहादुरजी। इनमें से तीन बाबा गुरदिताजी, बाबा अटल राय और श्री अणीरायजी पहले ही ईश्वर को प्यारे हो गए थे। श्री सूरजमलजी दुनियादारी में बहुत अधिक प्रवृत्त रहते थे; जबकि तेगबहादुरजी—जो आगे चलकर नौवें गुरु बने—दीन-दुनिया से बिलकुल ही विरक्त रहनेवाले त्यागी पुरुष थे। अत: अपना अंतकाल निकट आया महसूस कर गुरु हरिगोबिंदजी ने अपने पौत्र श्री हरिराय को गुरुपद परंपरा के निर्वहण का दायित्व सौंपा और ६ चैत्र, संवत् १७०१ के दिन उसी परम ज्योति में समा गए जिसका वे अंश थे।

७. गुरु हरिराय

सातवें गुरु श्री गुरु हरिराय स्वभाव से अत्यंत कोमल थे। बचपन में एक बार वे करतारपुर (जालंधर) के एक बाग में टहल रहे थे। अचानक तेज हवा चलने लगी, जिससे उनका खुला, लंबा चोगा लहराकर फूलों के पौधों से उलझ गया। कुछ फूल टूटकर जमीन पर आ गिरे। फूलों की पंखुड़ियाँ इधर-उधर बिखर गईं। यह देखकर हरिरायजी उदास हो गए और सोचने लगे, ये प्यारे-प्यारे फूल टहनियों पर लगे हुए कितने सुंदर लगते थे। लेकिन मेरे चोगे से उलझकर ये टूटकर मिट्टी में मिल गए हैं।

बालक हरिराय इसी उदासी में डूबे हुए थे कि छठे गुरु हरिगोबिंदजी, जो उनके दादा लगते थे, वहाँ आए। उन्होंने पोते हरिराय से उदासी का कारण पूछा। बालक हरिराय ने सारी बात बताई।

गुरु हरिगोबिंद बोले, ''बेटा, जब भी ऐसा चोगा पहनो, जिसके लहराने से कोमल वस्तुएँ नष्ट होने का डर हो, उसे (चोगे को) सँभालकर चलो।''

गुरु हरिगोबिंद की इस शिक्षा का अर्थ यह था कि व्यक्ति को अपनी ताकत का इस्तेमाल सोच-सँभलकर करना चाहिए और सपने में भी किसीको कष्ट नहीं देना चाहिए।

बालक हरिराय ने दादा-गुरु की यह शिक्षा पल्ले बाँध ली और पूरी जिंदगी उसपर अमल किया। वे शेख फरीद का निम्नलिखित श्लोक अकसर गुनगुनाया करते—

'सभना मन माणिक ठाहणु मूलि मचांगवा।
जे तउ पिरिआ दी सिक हि आउ न ठाहे कहीदा॥'

—अर्थात् सभी मनुष्यों का दिल बहुमूल्य हीरे की तरह होता है। इसे तोड़ना पाप है। अगर तुम प्रभु-परमात्मा से मिलना चाहते हो तो कभी किसीका दिल मत तोड़ो।

गुरु हरिराय का जन्म कीरतपुर (जिला होशियारपुर, पंजाब) में १६ जनवरी, १६३० के दिन हुआ। आपकी माता निहाल कौर और पिता बाबा गुरदिताजी थे, जो गुरु हरिगोबिंद के सबसे बड़े सुपुत्र थे। गुरु हरिगोबिंदजी के देहावसान के पश्चात् ८ मार्च, १६४४ को सिर्फ चौदह वर्ष की आयु में वे सिख धर्म के सातवें गुरु बने।

अपने दादा गुरु हरिगोबिंद की तरह गुरु हरिराय भी शिकार के बहुत शौकीन थे। लेकिन उनकी एक खास विशेषता यह थी कि वे शिकार को मारने की बजाय जीवित पकड़ते और पकड़े गए जानवरों को अपने बाग में लाकर रखते और बड़े चाव से उनका लालन-पालन करते।

एक ओर गुरु हरिराय लोगों को आध्यात्मिक ज्ञान और उपदेश देते, दूसरी ओर रोगियों के शारीरिक दु:ख दूर करने के लिए अपने दवाखाने से उन्हें दवाइयाँ भी देते। गुरुजी के दवाखाने में कई दुर्लभ तथा महँगी दवाइयाँ हमेशा उपलब्ध रहती थीं। उनके दवाखाने की प्रसिद्धि दूर-दूर तक फैली हुई थी। एक बार शाहजहाँ का बेटा दारा शिकोह काफी बीमार हो गया। शाही हकीमों को उसके इलाज के लिए आवश्यक जड़ी-बूटियाँ कहीं से न मिलीं। किसी व्यक्ति ने उसे गुरु हरिराय के दवाखाने के बारे में बताया। शाहजहाँ ने अपना दूत गुरुजी के पास भेजा। गुरुजी के दवाखाने से दारा शिकोह के इलाज के लिए आवश्यक सभी जड़ी-बूटियाँ प्राप्त हो गईं और शहजादा शीघ्र ही ठीक हो गया। कृतज्ञ शहजादे ने कीरतपुर जाकर गुरु हरिराय का आभार प्रकट किया।

शाहजहाँ के बेटों में दिल्ली के तख्त के लिए लड़ाई शुरू हो गई और दारा शिकोह अपने भाई औरंगजेब से हारकर लाहौर की तरफ भागा। उसे पकड़ने के लिए औरंगजेब ने फौज भेजी। दारा शिकोह घबराकर गोइंदवाल साहिब आया, जहाँ गुरु हरिराय ठहरे हुए थे, और उनसे मदद माँगी। गुरुजी ने दादा गुरु हरिगोबिंदजी की आज्ञा से बाईस सौ घुड़सवार रखे हुए थे, ताकि जरूरत पड़ने पर उपयोग में लाए जा सकें। गुरुजी अपने सभी घुड़सवार लेकर व्यास नदी के किनारे पहुँच गए और औरंगजेब की फौज को नदी पार करने से रोके रखा। दारा शिकोह सुरक्षित निकल गया। इस बात का पता औरंगजेब को लग गया। भाइयों को कत्ल करने के बाद वह दिल्ली के तख्त पर बैठा तो उसने गुरु हरिराय को बुला भेजा। गुरुजी स्वयं नहीं गए और अपनी जगह बड़े पुत्र रामराय को भेज दिया। रामरायजी ने औरंगजेब के सभी सवालों का जवाब बड़ी सूझ-बूझ से दिया।

आखिर में औरंगजेब ने पूछा, ''आपके 'गुरु ग्रंथ साहिब' में लिखा है—

'मिट्टी मुसलमान की पेड़े पई कुमिआर।
घड़ि भांडे इटाँ कीआँ जलदी करे पुकार॥'

इसका क्या अर्थ है?''

औरंगजेब को खुश करने के लिए रामरायजी कह गए कि ग्रंथ साहिब में 'मिट्टी मुसलमान

की' नहीं, बल्कि 'मिट्टी बेईमान की' लिखा है।

जब गुरु हरिराय को पुत्र रामराय की इस कमजोरी एवं झूठ का पता लगा तो उन्होंने रामराय को अपना फैसला सुना भेजा कि वह जिंदगी में कभी अपनी सूरत उन्हें न दिखाए। ग्रंथ साहिब की वाणी में हेर-फेर करनेवाले पुत्र को उन्होंने सदा के लिए त्याग दिया।

इकतीस वर्ष की आयु में अपना अंतकाल समीप आया जानकर गुरु हरिराय ने अपने छोटे पुत्र हरिकृष्ण को गुरुगद्दी सौंपी और ६ अक्तूबर, १६६१ को परलोक सिधार गए।

८. गुरु हरिकृष्ण

आठवें गुरु श्री गुरु हरिकृष्ण का जन्म ७ जुलाई, १६५६ को कीरतपुर, जिला रोपड़, पंजाब में हुआ। आपके पिता का नाम (गुरु) हरिराय और माता का नाम कृष्ण कौर था। केवल पाँच वर्ष और तीन माह की छोटी सी अवस्था में पिता हरिराय से गुरुगद्दी का उच्च आध्यात्मिक पद होने के कारण श्रद्धालु और भक्त गुरु हरिकृष्णजी को प्यार से 'बाला प्रीतम' (बाल गुरु) के नाम से भी पुकारते।

गुरु आयु से नहीं, ज्ञान और अपने भीतर प्रदीप्त दिव्य ज्योति से महान् होता है। अंबाला से आगे पंजोखरा गाँव का एक घमंडी पंडित था कृष्ण लाल। कीरतपुर से दिल्ली जाते हुए गुरु हरिकृष्ण पंजोखरा रुके। पंडित कृष्ण लाल ने आकर गुरुजी से कहा, ''इतनी छोटी सी उम्र में ही आप स्वयं को गुरु कहलाते हैं। अगर आपमें ईश्वर की शक्ति है तो आप मुझे 'गीता' के अर्थ करके सुनाएँ। तब मैं भी आपको गुरु मान लूँगा।''

गुरु हरिकृष्णजी बोले, ''पंडितजी, अगर आपको 'गीता' के अर्थ सुनने हैं तो आप अपने गाँव के किसी व्यक्ति को ले आएँ। हम उसके मुँह से आपको 'गीता' के अर्थ सुनवा देंगे।''

यह सुनकर पंडित कृष्ण लाल एक अनपढ़ छज्जू झीवर को ले आया।

गुरु हरिकृष्ण ने अपनी कृपादृष्टि छज्जू झीवर पर डाली और कहा, ''पंडितजी को 'गीता' के अर्थ करके सुनाओ।''

सचमुच, गुरु की कृपा से अनपढ़ छज्जू विद्वानों की तरह 'गीता' के अर्थ करने लगा। पंडित कृष्ण लाल का घमंड चूर-चूर हो गया और गुरुजी के चरणों में गिरकर उसने क्षमा माँगी।

दिल्ली पहुँचकर गुरु हरिकृष्ण राजा जयसिंह के बँगले में ठहरे, जहाँ आज गुरुद्वारा बँगला साहिब स्थित है। राजा जयसिंह की रानी को गुरुजी की अल्पायु के कारण उनकी आध्यात्मिक शक्ति पर कुछ संदेह था। उसने गुरुजी की परीक्षा लेनी चाही। रानी ने बाला प्रीतम को भोजन के लिए बुलाया और स्वयं दासियोंवाले मामूली वस्त्र पहनकर दासियों के साथ बैठ गई। अंतर्यामी गुरु

आए, सभी दासियों पर एक-एक निगाह डाली और यह भी रानी नहीं, यह भी रानी नहीं···' कहते हुए दासी बनी हुई रानी के पास जाकर खड़े हो गए तथा बोले, ''यही है असली रानी।''

रानी गद्‌गद हो गई। गुरुजी को उसने श्रद्धा से शीश झुकाकर प्रणाम किया और बड़े प्रेम से उन्हें भोजन कराया।

उन दिनों दिल्ली में हैजे की महामारी फैली हुई थी। गुरुजी का दिल्ली आगमन सुनकर रोगी अपने कष्ट निवारण के लिए उनके पास पहुँचने लगे। आध्यात्मिक गुरु ने पवित्र जल का एक कुंड बनवाया। जो भी इस कुंड से पवित्र जल लेता, उसके सभी रोग दूर हो जाते। दिल्ली के गुरुद्वारा बँगला साहिब में वह कुंड आज तक कायम है।

हैजा का प्रकोप कम हुआ तो चेचक की बीमारी फैल गई। गुरु हरिकृष्ण अपने शिष्यों को साथ लेकर बस्ती-बस्ती जाते और दुखियों की मदद करते। लगातार रोगियों के संपर्क में रहने से गुरुजी को चेचक ने जकड़ लिया। अपना अंतिम समय निकट आया जानकर गुरु हरिकृष्ण ने संगत को आदेश दिया—'बाबा बकाले', जिसका अर्थ था कि हमारे उत्तराधिकारी गुरु बकाला गाँव में हैं। यह कहकर गुरु हरिकृष्ण ३० मार्च, १६६४ को परलोक सिधार गए। दिल्ली में यमुना के किनारे जिस स्थान पर गुरुजी के पार्थिव शरीर का अंतिम संस्कार हुआ, वहाँ उनकी स्मृति में गुरुद्वारा 'बाला साहिब' निर्मित है।

९. गुरु तेगबहादुर

नौवें गुरु के लिए सिर्फ 'बाबा बकाला' शब्द कहकर गुरु हरिकृष्ण परलोक सिधार गए। लेकिन बकाला शहर में तो पूरे बाईस पाखंडी अपने-अपने डेरे लगाकर बैठे हुए थे और हर कोई अपने आपको असली तथा नौवाँ गुरु कह रहा था। लेकिन वास्तविक गुरु तो कोई और था। उसकी पहचान कैसे हुई, इस बारे में एक रोचक साखी (सच्ची घटना) इस प्रकार है—

काठियावाड़ (गुजरात) का एक बहुत बड़ा व्यापारी था मखणशाह लुबाणा। वह गुरु-घर का अनन्य सेवक और श्रद्धालु भी था।

एक बार मखणशाह समुद्री जहाज पर माल-असबाब लादकर दूसरे शहर जा रहा था। अचानक तेज तूफान आया और जहाज डगमगाने लगा। मखणशाह को चिंता सताने लगी। उसने ईश्वर से प्रार्थना की कि अगर जहाज डूबने से बच गया तो वह बकाला (पंजाब) में गुरुजी के दरबार में पाँच सौ सोने की मुहरें भेंट करेगा।

ईश्वर ने मखणशाह की प्रार्थना सुन ली। तूफान थम गया और जहाज बच गया। वचन के मुताबिक मखणशाह ने मुहरों की थैली ली और गुरु को भेंट करने के लिए बकाला पहुँचा।

पर यह क्या! वहाँ तो एक नहीं, पूरे बाईस व्यक्ति आसन लगाकर बैठे थे। हर कोई अपने आपको सच्चा गुरु और बाकियों को पाखंडी कह रहा था।

मखणशाह का सिर चकरा गया। 'गुरु तो एक ही होता है, बाईस नहीं। असली गुरु का पता कैसे चले, जिसे मैं पाँच सौ मुहरें भेंट कर सकूँ?' वह सोचने लगा।

आखिर उसने एक तरकीब ढूँढ़ ली। वह गुरु कहलानेवाले उन सभी बाईस व्यक्तियों के आगे दो-दो मुहरें रखकर माथा टेकता गया। उसे पता था कि गुरु अंतर्यामी होता है, इसलिए जो सच्चा गुरु होगा वह अपनी भेंट खुद माँग लेगा।

पर बात फिर भी न बनी। वे बाईस-के-बाईस पाखंडी और धोखेबाज थे। मुहरें उठाकर सबने अपनी-अपनी जेब में डाल लीं और झूठा आशीर्वाद देते गए।

मखणशाह बड़ा मायूस हुआ। उसने एक गाँववासी से पूछा, "क्यों भाई, क्या यहाँ इनके अलावा भी कोई है?"

"हाँ, है, उसका नाम है तेगबहादुर। वह उस तंग कोठरी में पिछले कई वर्ष से तपस्या कर रहा है। पर किसीसे मिलता-जुलता नहीं है।" जवाब मिला।

मखणशाह जा पहुँचा तंग कोठरी में। तपस्या में लीन तेगबहादुर का दीदार करके उसे परम शांति मिली। लगा कि यही है वह जिसकी उसे तलाश है। फिर भी निश्चिंत होने के लिए उसने तेगबहादुरजी के चरणों में भी दो मुहरें भेंट कीं और माथा टेका।

तेगबहादुरजी ने आँखें खोलीं और मुसकराकर बोले, "बस, दो मुहरें? तुम्हारा वायदा तो पाँच सौ मुहरों का था।"

मखणशाह लुबाणा खुशी से झूम उठा। उसने गुरु तेगबहादुरजी के चरणों में पाँच सौ मुहरें अर्पित कीं और बाहर जाकर चिल्लाया, "अरे लोगो, जल्दी आओ! सच्चा गुरु मिल गया, सच्चा गुरु मिल गया!"

सच्चे गुरु के प्रकट होते ही सभी पाखंडी बकाला से भाग खड़े हुए। इस प्रकार नौवें गुरु श्री गुरु तेगबहादुर प्रकट हुए और उन्हें गुरुगद्दी सौंपी गई।

सिख गुरु परंपरा में नौवें गुरु श्री गुरु तेगबहादुर का संपूर्ण जीवन इतिहास कुरबानी, धैर्य, त्याग, सहनशीलता, क्षमाशीलता, तपस्या, निर्भयता और सहज स्वभाव के उदात्त गुणों से परिपूर्ण रहा है। महज चार वर्ष की अवस्था में बालक तेगबहादुर ने अपने तन के बेशकीमती वस्त्र एक निर्वस्त्र गरीब बालक को पहनाकर उसकी गरीबी को ढाँपा। उसी तेगबहादुर ने पचपन वर्ष की अवस्था में सन् १६७५ में जब हिंदू धर्म की रक्षा के लिए दिल्ली के चाँदनी चौक में अपने अमर बलिदान रूपी चादर से भारत की अस्मिता को ढाँपा तो उसपर कवि सेनापति ने लिखा था—

'प्रगट भए गुरु तेगबहादुर। सगल सृष्टि पै ढापी चादर॥
करम धरम की जिनि पत राखी। अटल करी कलजुग में साखी॥'

गुरु तेगबहादुर परम योद्धा एवं छठे सिख गुरु श्री गुरु हरिगोबिंद के छोटे पुत्र और प्रथम सिख शहीद, पाँचवें गुरु श्री गुरु अर्जनदेव के पौत्र थे। गुरुजी का जन्म १ अप्रैल, १६२१ को गुरु के महल अमृतसर में हुआ और विवाह करतारपुर के एक खत्री भाई लालचंद की सुपुत्री गुजरी से हुआ। गुरुजी का मूल नाम त्यागमल था। तेरह वर्ष की अल्पायु में जिस बहादुरी के साथ उन्होंने करतारपुर की ऐतिहासिक जंग में 'तेग' (तलवार) का कमाल दिखाया, उससे प्रभावित होकर पिता हरिगोबिंद ने उनका नाम ही 'तेगबहादुर' रख दिया।

सन् १६४४ में जब गुरु हरिगोबिंद का स्वर्गवास हुआ तो तेगबहादुर ने अमृतसर शहर छोड़ दिया और माँ नानकी तथा पत्नी गुजरी को लेकर बकाला नामक गाँव में आ गए। वहाँ उन्होंने लगातार बीस वर्ष तक एकांत में कठिन तपस्या करके ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया। तैंतालीस वर्ष की अवस्था में श्रावण पूर्णिमा के दिन तेगबहादुरजी ने एकांतवास त्यागकर गुरुपद ग्रहण किया। तत्पश्चात् उन्होंने भारतीय समाज की मानसिक, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक दशा और दिशा के अध्ययन के लिए और विशेषकर लोगों में आध्यात्मिक जागर्ति पैदा करने के लिए सर्वप्रथम पंजाब की, उसके बाद उत्तरी भारत तथा बिहार के अनेक महत्त्वपूर्ण शहरों की और अंत में असम तथा बँगलादेश तक की यात्रा की। पूर्व की यात्रा के दौरान गुरुजी की माँ तथा पत्नी भी उनके साथ ही रहे। इसी दौरान पटना में उनके सुपुत्र गोबिंद राय का जन्म हुआ।

नम्रता, गंभीरता और सौम्यता गुरु तेगबहादुर को अपने दादा गुरु अर्जनदेवजी से विरासत में मिली थी। बचपन से ही सांसारिक विषयों के प्रति पुत्र की विरक्ति को देखकर जब माँ नानकी ने अपने पति गुरु हरिगोबिंदजी के समक्ष चिंता प्रकट की तो उन्होंने माँ नानकी को सांत्वना दी कि उसका पुत्र एक महान् धर्म-पुरुष बनेगा और धर्म-रक्षा के लिए अपना शीश तक कुरबान कर देगा।

यह एक दैवी संयोग ही है कि गुरु तेगबहादुर की एक नहीं बल्कि पूरी चार पीढ़ियाँ देश और पंथ की अस्मिता की रक्षा के लिए कुरबान हुईं। सर्वप्रथम दादा गुरु अर्जनदेव, तत्पश्चात् गुरु तेगबहादुर स्वयं और अंततः पुत्र गुरु गोबिंद सिंह तथा चार पौत्र (अर्थात् गुरु गोबिंद सिंहजी के चार साहिबजादे) अन्याय और अत्याचार की काली आँधी के खिलाफ लड़ते हुए धर्म और न्याय के लिए शहीद होकर विश्व में पीढ़ी-दर-पीढ़ी कुरबानी की एक अमर एवं अद्वितीय मिसाल कायम कर गए।

विकट और विषम परिस्थितियों में भी गुरु तेगबहादुर ने शांतिप्रियता और सौम्यता का त्याग नहीं किया। एक बार जब वह पवित्र हरिमंदिर साहिब (स्वर्ण मंदिर) के दर्शन के लिए गए तो

पुजारी, जो उस समय काफी भ्रष्ट हो चुके थे, दरवाजे बंद करके चले गए। मन में दर्शन की प्यास लिये गुरुजी काफी समय तक दरवाजे के बाहर बैठे रहे। पर पुजारियों ने दरवाजे नहीं खोले। अंततः गुरुजी हरिमंदिर साहिब के दर्शन किए बिना ही लौट गए। जब यह खबर शहर में पहुँची तो जैसे समूचा अमृतसर गुरुजी के चरणों में आ गिरा और पुजारियों की इस करतूत के लिए शहरवासियों ने उनकी कड़ी निंदा की।

जीवन के अंतिम दिनों में गुरु तेगबहादुर आनंदपुर साहिब की सुरम्य धरती पर आकर बस गए और अपने परिवार को भी उन्होंने पटना से वहीं बुलवा लिया। सन् १६७५ में जब उत्तरी भारत में औरंगजेब द्वारा जोर-जबरदस्ती के बल पर लोगों का धर्म-परिवर्तन किया जा रहा था, कश्मीरी पंडितों के एक जत्थे ने आनंदपुर साहिब आकर गुरु तेगबहादुरजी से उनके धर्म की रक्षा की फरियाद की।

उनकी फरियाद सुनकर गुरुजी सोच में पड़ गए। पिता को विचारमग्न देखकर बालक गोबिंद ने कारण पूछा। गुरुजी ने फरमाया, "बेटा, इनका धर्म खतरे में है और यह धर्म किसी पुण्यात्मा की कुरबानी से ही बच सकता है।"

बालक गोबिंद ने उत्तर दिया, "तो पिताजी, आपसे बड़ी पुण्यात्मा और कौन हो सकती है! आप अपनी कुरबानी देकर इनका धर्म बचाइए।"

पुत्र गोबिंद के इन शब्दों से जैसे उन्हें दो समस्याओं का एक साथ समाधान मिल गया— अपने उत्तराधिकारी की तलाश और हिंदू धर्म की रक्षा का उपाय। गुरुजी ने फरियादी पंडितों को आश्वस्त करके विदा किया और पुत्र गोबिंद राय को गुरुपद परंपरा के निर्वहण का दायित्व सौंपकर तथा समूह परिवार से विदा लेकर दिल्ली के लिए रवाना हुए। रास्ते में आगरा में उन्हें और उनके साथ आए पाँचों सिखों को बंदी बना लिया गया और दिल्ली लाया गया। औरंगजेब ने गुरुजी की आँखों के सामने उनके सिखों को शहीद करवाया और गुरुजी को कठोर यातनाएँ देते हुए इसलाम कबूल करने के लिए कहा, अन्यथा मृत्युदंड की धमकी दी। लेकिन यातनाएँ, डर या धमकियाँ उन्हें सत्य मार्ग से विचलित न कर सकीं। सो गुरुजी को शहीद कर दिया गया। लेकिन सत्ता और सत्य की इस लड़ाई में आखिर सत्य की जीत हुई और जबरन धर्म-परिवर्तन की आँधी थम गई। इस अद्वितीय शहीदी पर कवि सेनापति का कहना है—

'सगल सृष्टि जा का जस (यश) भयो। जिह ते सरब धरम बच्यो॥
तीन लोक में जै जै भई। सतिगुरु पैज राखि हम लई॥
तिलक जनेऊ अर धरमसाला। अटल करी गुरु भए दयाला॥
धर्म हेत प्रभ पुरहि सिधाए। गुरु गोबिंद सिंह कहलाए॥'

गुरु तेगबहादुरजी ने सर्वदा एक ऐसे निर्भय समाज की स्थापना पर जोर दिया जहाँ मनुष्य न तो स्वयं किसीसे डरे और न किसीको डराए। इस सिद्धांत के सच्चे अनुयायी को ही वह ज्ञानी मानते थे—

'भै काहू को देत नहि, नहि भै मानत आन।
कहु नानक सुनि रे मना, ज्ञानी तांहि बखान॥'

गुरु तेगबहादुर ने कुल उनचास शबदों और सत्तावन श्लोकों की रचना की, जो 'गुरु ग्रंथ साहिब' में 'महला ९' के शीर्षक से दर्ज है।

१०. गुरु गोबिंद सिंह

२२ दिसंबर, १६६६ का दिन था। इसलाम धर्म के बड़े पीर भीखणशाह को समाचार मिला कि पटना में गुरु तेगबहादुर के घर बालक ने जन्म लिया है। यह समाचार सुनकर पीर साहब के मुख पर एक अलौकिक तेज उभर आया। उस दिन उन्होंने अपनी नमाज पश्चिम की बजाय पूर्व दिशा (पटना) की ओर मुँह करके पढ़ी। शिष्यों ने जब उनसे परंपरा से हटकर पूर्व दिशा की ओर मुँह करके नमाज पढ़ने का कारण पूछा तो पीर साहब ने उत्तर दिया, "आज गुरु तेगबहादुर के घर अल्लाह का नूर प्रकट हुआ है। मैं उसीको प्रणाम कर रहा था।"

पीर भीखणशाह बालक गोबिंद के दर्शन के लिए पटना पहुँचे। साथ में उन्होंने मिठाई के दो दोने, एक दूध और एक पानी का कटोरा भी ले लिया। बालक गोबिंद के दर्शन करके मिठाई के दोने उनके सामने रखे। बालक ने अपने दोनों हाथ उनपर रख दिए। फिर पीर साहब ने पानी और दूध के कटोरे आगे रखे तो बालक ने दोनों को पैर मारकर बिखेर दिया।

पीर भीखणशाह ने शीश नवाकर बालक को नमन किया और भेद खोलते हुए कहा, "मिठाई के दोने पर हाथ रखकर और दूध तथा पानी को बिखेरकर अल्लाह के इस पैगंबर ने स्पष्ट संदेश दे दिया है कि इसकी दृष्टि में हिंदू-मुसलमान बराबर हैं और यह दोनों धर्मों को साथ लेकर चलेगा।"

नौ वर्ष की छोटी सी उम्र में अपने पिता गुरु तेगबहादुर को हिंदू धर्म की रक्षा के लिए बलिदान की प्रेरणा देनेवाले गोबिंद राय ही गुरु तेगबहादुर की शहीदी के बाद सिख धर्म के दसवें गुरु बने और गोबिंद सिंह कहलाए।

गुरु गोबिंद सिंह की माता का नाम गुजरी था। गुरुजी के चार साहिबजादे (पुत्र) थे। चारों धर्म और सच्चाई की रक्षा के लिए शहीद हो गए। दो बड़े साहिबजादे—अजीत सिंह और जुझार सिंह चमकौर के युद्ध में शत्रु से युद्ध करते हुए वीरगति प्राप्त कर गए, जबकि दो छोटे साहिबजादों—

पटना में बालक गोबिंद के दर्शन करते हुए पीर भीखण शाह (एकदम दाएँ)

जोरावर सिंह और फतह सिंह को इसलाम धर्म स्वीकार न करने पर मुगल शासकों ने दीवार में जिंदा चिनवाकर शहीद कर दिया। शहीदी के समय अजीत सिंह की उम्र पंद्रह साल, जुझार सिंह की तेरह साल, जोरावर सिंह की नौ साल और फतह सिंह की उम्र केवल सात साल थी। धर्म की रक्षा के लिए गुरु गोबिंद सिंह की पूरी चार पीढ़ियों ने कुरबानी दी—दादा गुरु अर्जनदेव, पिता गुरु तेगबहादुर, चार पुत्र और गुरु गोबिंद सिंह स्वयं ने। पीढ़ी-दर-पीढ़ी कुरबानी की ऐसी मिसाल विश्व में कहीं अन्यत्र नहीं मिलती।

बालक गोबिंद जब अपने साथियों के साथ खेलने के लिए निकलते तो सभी बच्चे उन्हें अपना नेता मानते। गोबिंद अन्य बच्चों की तरह सामान्य खेल नहीं खेलते थे बल्कि तीर-कमान, कवायद (फौजी परेड), युद्ध आदि जैसे जोशीले खेल खेला करते थे।

बालक गोबिंद राय पाँच वर्ष पटना में रहने के बाद अपने पिता के पास आनंदपुर साहिब (पंजाब) आ गए। यहाँ उन्होंने फारसी, हिंदी, संस्कृत, ब्रज आदि भाषाओं की शिक्षा प्राप्त की।

कुशल सेनापति, महान् तपस्वी, उच्च कवि और सर्वस्व दानी गुरु गोबिंद सिंह

यहीं पर घुड़सवारी, शस्त्र आदि चलाने का भी अभ्यास उन्होंने किया।

सन् १६७५ में पिता गुरु तेगबहादुर के दिल्ली में शहीद होने के बाद जब गोबिंद राय गुरुगद्दी पर बैठे तो उन दिनों मुगल शासकों के अत्याचार जोरों पर थे। मुगलों के अत्याचार और अन्याय का मुकाबला करने के लिए गुरुजी ने अपने शिष्यों को सैनिक प्रशिक्षण देना आरंभ किया। शिष्यों में वीर रस का संचार करने के लिए उन्होंने रणजीत नगाड़ा बनवाया और अपने दरबार में बावन कवि नियुक्त किए। ये कवि वीर रस की कविता सुनाकर शिष्यों में जोश पैदा करते। गुरु गोबिंद राय ने घोषणा कर दी कि भविष्य में अन्य कोई भेंट लाने की बजाय श्रद्धालु उनके लिए शस्त्र और घोड़े आदि भेंट में लाएँ। सढोरा गाँव के सैयद बुद्धु शाह ने पाँच सौ पठान गुरुजी की सेना के लिए अर्पित किए।

गुरुजी ने कुल अठारह युद्ध लड़े; लेकिन दौलत और जमीन के लिए नहीं बल्कि दुष्टों के दमन और धर्म की रक्षा के लिए। अपनी आत्मकथा 'विचित्र नाटक' में तलवार धारण का स्पष्ट उद्देश्य बताते हुए वे कहते हैं—

'खग खंड विहंडं खल दल खंडं अतिरण मंडं बरबंडं।
भुजदंड अखंड तेज प्रचंड जोति अमंडं भान प्रभं॥
सुख संतां करणं दुरमति दरणं किल बिख हरणं अस सरणं।
जै जै जग कारण स्रिष्टि उबारण मम प्रतिपारण जै तेगं॥'

—अर्थात् मेरी तलवार शत्रु का विनाश करनेवाली, संतों की (दुष्टों से) रक्षा करनेवाली और उन्हें सुख देनेवाली तथा दुरमति का दमन करनेवाली है। मेरी इस खड्ग रूपी शक्ति की जय हो।

मानव और मानवता के प्रति गुरु गोबिंद के उदार दृष्टिकोण का यह आलम था कि शत्रु के घायल सैनिकों को पानी पिलाकर जीवनदान देनेवाले सेवक पर क्रुद्ध होने की बजाय उसे शाबाशी दी। भंगाणी के युद्ध में यह शिकायत मिलने पर कि उनका सेवक भाई घनइया शत्रु के घायल सैनिकों को पानी पिलाकर जीवनदान दे रहा है, गुरुजी ने घनइया को बुलाकर कारण पूछा।

घनइया ने कहा, ''मैं तो आपके ही उपदेश '**मानस की जाति सबै एकै पहिचानबो**' पर अमल कर रहा हूँ और सभी घायलों में मुझे एक ही ईश्वर का नूर दिखाई दे रहा है।''

यह जवाब सुनकर गुरुजी ने घनइया को गले लगा लिया तथा अपनी ओर से मलहम की डिब्बी देते हुए कहा, ''जाओ घनइया, आहत सैनिकों के जख्मों पर मलहम लगाओ। ईश्वर तुम्हारी रक्षा करे।''

धर्म, जाति और वर्ण के नाम पर छोटे-छोटे टुकड़ों में बँटे और जर्जर हो चुके भारतीय समाज को फिर से एकसूत्र में पिरोने की जो क्रांतिकारी शुरुआत गुरु नानक ने '**नानक उत्तम नीच**

पाँच प्यारों से अमृत की दीक्षा लेते हुए गुरु गोबिंद सिंह : आपे गुरु चेला

न कोई' कहकर की थी, उसे सन् १६९९ की बैसाखी के दिन दसवें गुरु ने आनंदपुर साहिब में पूर्णता प्रदान की। बैसाखी के पवित्र अवसर पर उस दिन देश के कोने-कोने से आनंदपुर साहिब में अस्सी हजार लोगों का विशाल जनसमूह जुड़ा था। गुरु गोबिंद राय ने भरे पंडाल में नंगी तलवार हाथ में लेकर एक के बाद एक करके पाँच सिरों की माँग की। गुरु के आह्वान पर एक-एक करके उठे थे पाँच मरजीवड़े। गुरुजी ने पाँचों को एक-एक करके तंबू में ले जाकर शहीद किया और बाद में अपनी दैवी शक्ति से सभी पाँचों को पुन: जीवित करके पंडाल में लाए। स्वयं अपने हाथ से अमृत तैयार किया और उन्हें एक ही पात्र से अमृतपान करवाकर 'खालसा' सजाया। वे पाँच मरजीवड़े खालसा पंथ के 'पाँच प्यारे' कहलाए। उनके नाम हैं—भाई दया सिंह, भाई धर्म सिंह, भाई हिम्मत सिंह, भाई मोहकम सिंह और भाई साहिब सिंह। पाँच प्यारों में चार तथाकथित छोटी जातियों—जाट, भिश्ती, नाई और छीपा (रंगसाज) में से थे; जबकि सिर्फ एक प्यारा तथाकथित ऊँची जाति (क्षत्रिय) का था। पाँच प्यारों को अमृतपान करवाकर गुरुजी ने स्वयं भी उनसे एक विनम्र शिष्य की तरह अमृत की दीक्षा ली और गोबिंद राय से गोबिंद सिंह बने। इस प्रकार अपने ही शिष्यों से अमृत की दीक्षा लेकर गुरु गोबिंद सिंह ने गुरु और शिष्य के बीच का सदियों पुराना फर्क मिटा दिया। गुरु शिष्य बन गया और शिष्य खालसा सजने के बाद गुरु की उच्च, उदात्त एवं आध्यात्मिक पदवी तक जा पहुँचा। यह एक गूढ़ संदेश था जात-पाँत, छुआछूत और वर्ण-व्यवस्था के पैरोकारों को कि जिन खुदा के बंदों को तुम अछूत, हेय, निम्न तथा त्याज्य समझते हो, वे मेरे लिए गुरु के समान पूज्य और सम्मान के अधिकारी हैं। समाज के दलित अैर शोषित वर्गों को, जो अपनी स्थिति को 'भाग्य का लिखा' मानकर धर्म और सत्ता के धीशों के हाथों हर अन्याय, अपमान और अत्याचार को चुपचाप झेलते आ रहे थे, गुरु गोबिंद सिंह ने जिस प्रकार झकझोरकर जगाया और स्वाभिमान के साथ जीना एवं मरना सिखाया उसे इतिहास का अपूर्व चमत्कार ही कहा जाएगा। जात-पाँत, कुल-गोत्र के बंधन से मुक्त और सिर्फ एक अकाल पुरुष (प्रभु) की भक्ति करनेवाले खालसा को गुरु गोबिंद सिंह ने अपनी सभी उपलब्धियों और सफलताओं का श्रेय दिया। और तो और, खालसा के आगे गुरुजी ने अपनी सत्ता भी शून्य कर दी तथा कहा, ''हम जो कुछ भी हैं, इन्हींकी कृपा से हैं; वरना मुझ जैसे करोड़ों सामान्य जीव इस दुनिया में विचरण करते हैं—

'इन्हीं की किरपा के सजे हम हैं,
नहीं मो सो गरीब करोड़ परे हैं।'

गुरु गोबिंद सिंह का कहना था कि ईश्वर केवल एक है। केवल उसके नाम, उपासना के स्थल और ढंग अलग-अलग हैं—**'देहरा मसीत सोही, पूजा ओ नमाज ओही। मानुष सबै एक है, अनेक कोउ भ्रमाउ है।'** धार्मिक कट्टरता के वे सख्त विरोधी थे।

बहादुरशाह ने एक बार भरे दरबार में गुरु गोबिंद सिंह से सवाल किया था, ''हे दो जहान के मालिक, मजहब तुम्हारा खूब कि हमारा खूब?'' यानी किसका धर्म अच्छा है—आपका या हमारा।

जवाब में गुरु गोबिंद सिंह ने फरमाया था, ''तुमको तुम्हारा खूब, हमको हमारा खूब।''

ठीक यही था धार्मिक सह-अस्तित्व और आजादी का लीर-लीर हो चुका वह सिद्धांत जिसकी पुन:प्रतिष्ठा के लिए गुरु गोबिंद सिंह जीवन भर संघर्ष करते रहे। उस संघर्ष में पहले उन्होंने पिता श्री गुरु तेगबहादुर की और उसके बाद चारों बेटों की आहुति देकर भी उफ तक नहीं की। बल्कि खालसा पंथ की ओर इशारा करके कहा, **'इन पुत्रन के सीस पर वार दिए सुत चार। चार मुए तो क्या हुआ जीवित कई हजार॥'**

गुरु गोबिंद सिंह वैराग्य के घोर विरोधी थे। उनका मानना था कि मनुष्य भौतिक संसार में रहकर भी संन्यासी की पदवी पा सकता है, बशर्ते कि वह अल्प आहार, अल्पनिद्रा, दया, क्षमा, शील एवं संतोष के सात्त्विक गुणों को धारण करे और काम, क्रोध, अहंकार, लोभ, हठधर्मिता तथा मोह जैसे अवगुणों का त्याग करे।

गुरु गोबिंद सिंह एक संत, धर्मरक्षक सिपाही, जाँबाज सैनिक, कुशल सेनापति, महान् समाज सुधारक, उच्च कोटि के कर्मयोगी, गुणों के पारखी, मानवता की रक्षा के लिए सर्वस्व न्योछावर कर देनेवाले अद्वितीय दानी पुरुष के अलावा उच्च सर्जनात्मक प्रतिभा के धनी विद्वान् रचनाकार भी थे। हिंदी, फारसी, संस्कृत और ब्रजभाषा में गुरुजी ने अनेक काव्य रचनाएँ कीं। गुरु गोबिंद सिंह का संपूर्ण काव्य संग्रह 'दशम ग्रंथ' के नाम से प्रसिद्ध है। कुल बयालीस वर्ष के संक्षिप्त जीवन काल में गुरु गोबिंद सिंह ने भारतीय जीवन और इतिहास को निर्णायक मोड़ देनेवाले युद्धों और साहित्य रचना के अलावा पंजाब के साथ-साथ दक्षिण भारत की भी यात्रा की और लोगों को सत्य पर अडिग रहने, अत्याचार का डटकर मुकाबला करने का उपदेश दिया। जीवन के अंतिम दिन गुरुजी ने दक्षिण में नांदेड़ में व्यतीत किए। वे सिखों के अंतिम देहधारी गुरु थे। ७ अक्तूबर, १७०८ को परलोक गमन से पूर्व गुरु गोबिंद सिंह ने देहधारी गुरु की प्रथा का सदा के लिए समापन कर दिया और सभी सिखों को आदेश दिया कि उनके बाद वे केवल 'गुरु ग्रंथ साहिब' को ही प्रकट गुरु मानें। तब से 'गुरु ग्रंथ साहिब' की पवित्र वाणी न केवल सिख धर्म के अनुयायियों का बल्कि संपूर्ण मानव जाति का जीवन के हर क्षेत्र में मार्गदर्शन करती आ रही है। □

वाणीकार संत और भक्त

'गुरु ग्रंथ साहिब' में कुल पाँच हजार आठ सौ चौरानबे शबद हैं। इनमें से नौ सौ अड़तीस शबद भक्तों, सूफियों, संतों और फकीरों के हैं। ये महापुरुष पंजाब के अलावा सिंध, बंगाल, उत्तर प्रदेश, महाराष्ट्र, गुजरात, राजस्थान जैसे दूर-दराज के क्षेत्रों के रहनेवाले थे। क्षेत्रीय विविधता के अलावा इनकी जाति और भाषा भी अलग-अलग थी। लेकिन संदेश और सिद्धांत सभी का एक था—एक ईश्वर की भक्ति और सामाजिक एकता।

इन भक्तों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

जयदेव

इनका जन्म सन् ११७० में बंगाल के एक गाँव कंदूली में हुआ, जो वीरभूम जिले में है। जयदेवजी बंगाल के राजा लक्ष्मण सेन के दरबारी कवि थे। वे कृष्ण के उपासक थे। उनकी रचना 'गीतगोविंद' कृष्ण भक्ति काव्य की सबसे श्रेष्ठ रचना मानी जाती है। जाति से ब्राह्मण जयदेवजी के 'गुरु ग्रंथ साहिब' में दो शबद गुजरी और मारू राग में हैं। इनका देहावसान सन् १२५० में हुआ।

शेख फरीद

सन् ११७३ में पश्चिम पंजाब के मुल्तान जिले के गाँव खत्तोवाल (अब पाकिस्तान) में जनमे शेख फरीद मुसलमान सूफी फकीर थे। उनका पूरा नाम फरीद-उद्दीन-मस्सऊद था। वे 'फरीद शकरगंज' के लोकप्रिय नाम से जाने जाते थे। सोलह वर्ष की आयु में फरीदजी अपनी माँ मरीयम और पिता जमालुद्दीन के साथ हज करने के लिए मक्का शरीफ गए। वापसी पर इसलामी तालीम हासिल करने के लिए उन्हें काबुल भेजा गया। तालीम पूरी करके जब वे मुल्तान वापस आए तो वहाँ उन्हें दिल्लीवाले ख्वाजा कुतबुद्दीन बख्तियार मुंशी के दर्शन हुए और वे ख्वाजा साहिब के मुरीद बन गए। मुर्शिद के हुक्म के मुताबिक, कुछ समय तक फरीदजी हाँसी और सरसे में भी इसलामी विद्या पढ़ते रहे। ख्वाजा साहिब के परलोक गमन के बाद फरीद अजोधन आकर बस गए,

शेख फरीद

जो आज पाकपटन के नाम से मशहूर है। पाकपटन में ही हिजरी ६६४ के महीना मुहर्रम की ५ तारीख (सन् १२६६) को फरीद का देहांत हुआ। शेख साहिब के छह पुत्र और दो पुत्रियाँ थीं। सबसे बड़े पुत्र का नाम शेख बदरुद्दीन सुलेमान था, जो फरीदजी के देहांत के बाद उनकी गद्दी पर बैठे। पाकपटन में यह गद्दी अभी तक कायम है। शेख फरीदजी यूँ तो अरबी, फारसी के उच्च कोटि के विद्वान थे, पर चूँकि वे पंजाब में जनमे, पले और बड़े हुए, अत: सर्वसाधारण तक अपनी बात पहुँचाने के लिए उन्होंने अधिकांशत: पंजाबी में काव्य रचना की। 'गुरु ग्रंथ साहिब' में शेख

फरीद के एक सौ तीस श्लोक और चार शबद शामिल हैं। फरीद-वाणी में ईश्वरीय प्रेम और भक्ति पर जोर दिया गया है।

त्रिलोचन

महाराष्ट्र के रहनेवाले त्रिलोचनजी भक्त नामदेवजी के समकालीन थे। उनका जन्म सन् १२६७ में शोलापुर जिले के बारसी गाँव में हुआ। वह जाति से वैश्य थे। भक्त नामदेव का उनपर काफी प्रभाव था। 'गुरु ग्रंथ साहिब' में उनके चार शबद दर्ज हैं, जो श्री, गूजरी और धनासरी रागों में हैं।

नामदेव

'गुरु ग्रंथ साहिब' में भक्त नामदेवजी के साठ शबद संकलित हैं। ये शबद अठारह रागों में हैं। नामदेवजी महाराष्ट्र के जनप्रिय संत थे। उनका जन्म सन् १२७० में सतारा जिले के नरसी बामनी गाँव में हुआ। उनके पिता का नाम दमशेटि था और वे कपड़े पर छपाई का काम करते थे। जीवन के प्रारंभिक वर्षों में नामदेवजी वैष्णव मत के उपासक थे; लेकिन बाद में वे निर्गुण विचारधारा से बहुत प्रभावित हुए और उसीसे जुड़ गए। उन्होंने भारत के तीर्थस्थलों की व्यापक यात्रा की और पंजाब भी आए, जहाँ गुरदासपुर जिले के घुमण गाँव में उनकी स्मृति में एक मंदिर भी निर्मित है।

सदना

भक्त सदनाजी नामदेवजी के समकालीन थे। उनका जन्म सिंध प्रांत के सेहवाँ गाँव में हुआ। जाति और व्यवसाय से सदनाजी कसाई थे। 'गुरु ग्रंथ साहिब' में उनका एक शबद दर्ज है, जिसमें वे बताते हैं कि पाखंडी भक्तों की भी प्रभु लाज रखता है।

बेनी

भक्त बेनीजी चौदहवीं शताब्दी में हुए। उनके बारे में सिर्फ इतना ही मालूम है कि वे जाति से ब्राह्मण थे। 'गुरु ग्रंथ साहिब' में उनके तीन शबद संकलित हैं।

रामानंद

वे दक्षिण भारत के प्रसिद्ध संत रामानुज के शिष्य थे। उनका जन्म महाराष्ट्र के एक ब्राह्मण

परिवार में हुआ। बाद में वे प्रयाग, उत्तर प्रदेश में आकर बस गए। पीपा, सैण, धन्ना, रविदास और कबीर उनके शिष्य थे। उनका देहांत बनारस में हुआ। रामानंदजी का जीवन काल सन् १२९९ से १४१० के बीच माना जाता है। 'गुरु ग्रंथ साहिब' में रामानंदजी का एक ही शबद है, जो बसंत राग में है।

कबीर

भक्त कबीर का जन्म सन् १३९८ में हुआ। कहा जाता है कि उनकी माँ एक अब्याहता ब्राह्मण कन्या थी, जिसने जन्म देने के बाद कबीर को बनारस में एक तालाब के किनारे छोड़ दिया। एक मुसलिम जुलाहा दंपती नीरू और नीमा ने उन्हें उठाया और उनकी परवरिश की। 'गुरु ग्रंथ साहिब' में कबीरजी के पाँच सौ इकतालीस शबद और श्लोक दर्ज हैं। अपनी वाणी में कबीरजी ने ऊँच-नीच और कर्मकांड की कड़ी आलोचना की तथा भक्ति एवं शुद्ध कर्म की कमाई पर जोर दिया। उनके अनुयायी 'कबीरपंथी' के नाम से जाने जाते हैं।

धन्ना

जाति से जाट भक्त धन्नाजी का जन्म सन् १४१५ में राजपूताना (राजस्थान) के धुआन गाँव में हुआ। एक बार एक ब्राह्मण को ठाकुर की मूर्ति की पूजा करते देखकर धन्नाजी भी ठाकुर के उपासक हो गए और एक बार तो वे उससे भोग लगवाकर ही हटे। अपने भजनों में उन्होंने परमात्मा से भौतिक पदार्थों के अलावा अच्छी पत्नी भी माँगी। 'गुरु ग्रंथ साहिब' में धन्नाजी के चार शबद दर्ज हैं, जिनमें भक्त धन्नाजी का आरता काफी प्रसिद्ध है। इसमें उन्होंने खास नाम ले-लेकर भौतिक पदार्थ परमात्मा से माँगे हैं।

पीपा

कहा जाता है कि भक्त पीपाजी गुजरात राज्य की गगरोनगढ़ रियासत के राजा थे। जाति से वे ब्राह्मण थे। उनका जन्म सन् १४२५ में हुआ। प्रारंभ में वे दुर्गा के उपासक थे, लेकिन बाद में रामानंदजी के शिष्य बन गए और राजपाट त्याग दिया। 'गुरु ग्रंथ साहिब' में पीपाजी का एक शबद दर्ज है।

सैण

भक्त सैणजी का जीवन काल सन् १३९०-१४४० के बीच माना जाता है। वह धन्नाजी

और पीपाजी के समकालीन थे। वह जाति से नाई थे और रीवा के रहनेवाले थे। वह बिदर के राजा की सेवा करते थे। रामानंदजी के शिष्यों में वह भी थे। भाई गुरदासजी ने उनके जीवन से जुड़ी एक घटना का जिक्र किया है—एक बार वे सारी रात कीरतन में लगे रहे और राजा की सेवा के लिए न जा सके। कहा जाता है कि भगवान् स्वयं सैणजी का रूप धारण करके राजा की सेवा करते रहे। जब राजा को पता चला कि सैणजी तो आए ही नहीं तो वह उन्हें भगवान् तक पहुँचा हुआ जानकर उनका शिष्य बन गया। 'गुरु ग्रंथ साहिब' में सैणजी का एक शबद दर्ज है, जो राग धनासरी में है।

परमानंद

वह गुरु नानकदेवजी के समकालीन थे और महाराष्ट्र के बारसी गाँव के निवासी थे। जाति से वह ब्राह्मण थे। अपनी वाणी में उन्होंने सदाचारी गुणों और भक्ति-भावना पर जोर दिया। 'गुरु ग्रंथ साहिब' में उनका एक शबद संकलित है।

भाई मरदाना

भाई मरदाना गुरु नानकदेवजी के साथी थे। वह जाति से मुसलमान रबाबी थे। उनका जन्म तलवंडी में सन् १४६० में हुआ। उम्र में नानकजी से करीब दस वर्ष बड़े थे। रागों में ये काफी निपुण थे। नानकजी के साथ ये बचपन से ही रहे और देश-देशांतर की लंबी यात्राओं में भी उनके साथ गए। जन्मसाखी के अनुसार, एक बार कौडा राक्षस ने उनको तेल में तलकर खाने की कोशिश की; लेकिन नानकजी की कृपादृष्टि से वह बच गए। 'गुरु ग्रंथ साहिब' में उनके तीन शबद दर्ज हैं।

भीखन

संत भीखन काकोरी मुसलमान थे और उत्तर प्रदेश प्रांत से ताल्लुक रखते थे। उनका जीवन काल सन् १४८०-१५७३ के बीच माना जाता है। वह लखनऊ के एक कस्बा करोड़ी में रहते थे। 'गुरु ग्रंथ साहिब' में उनके दो शबद शामिल हैं।

सूरदास

भक्त सूरदासजी सम्राट् अकबर के समकालीन थे। कुछ लोग उन्हें 'सूरसागर' हिंदी काव्य के रचयिता समझते हैं, जबकि कुछ लोग अन्य भक्त सूरदास समझते हैं। मैकालिफ के अनुसार,

सूरदास का असली नाम मदन मोहन था। जाति से वे ब्राह्मण थे और सन् १५६८ में पैदा हुए। कहा जाता है कि वे अवध के इलाका संदीला के शासक थे; लेकिन बाद में उन्होंने राजपाट त्याग दिया। उनकी समाधि काशी में है। सूरदासजी के दो पद (एक पूरा और दूसरे की एक पंक्ति) 'गुरु ग्रंथ साहिब' में शामिल हैं।

बाबा सुंदर

बाबा सुंदर गुरु अमरदासजी के प्रपौत्र और बाबा मोहरीजी के पौत्र थे। उनका जीवन काल सोलहवीं शताब्दी में रहा। उन्होंने गुरु अमरदासजी के परलोक गमन पर राग रामकली में एक सद (छह पद) लिखी, जो 'गुरु ग्रंथ साहिब' में दर्ज है।

राय बलवंड और सत्ता डूम

वे दोनों जाति के मिरासी थे। वे पंजाब से ताल्लुक रखते थे। दोनों ही गुरु अंगददेवजी के दरबार में कीरतन करते थे। एक बार कन्या के विवाह के लिए उन्होंने गुरुजी से कुछ रकम माँगी। गुरुजी ने कहा कि बैसाखी के दिन सारा चढ़ावा तुम्हें दे दिया जाएगा। संयोगवश बैसाखी पर चढ़ावा कम चढ़ा। इससे कुपित होकर उन दोनों ने गुरुजी को अपशब्द कहकर उनका निरादर किया। ईश्वर का कुछ ऐसा प्रकोप हुआ कि दोनों को रोग ने आ घेरा। बाद में भाई लघाजी की प्रेरणा से दोनों ने गुरुजी की स्तुति में एक पद रचा और नीरोग हुए। वे दोनों गुरु हरिगोबिंदजी के जीवनकाल तक रहे और प्रत्येक गुरु के गद्दीनशीन होने पर एक-एक पउड़ी उनकी स्तुति में रचते रहे। 'गुरु ग्रंथ साहिब' में उनके पाँच पद शामिल हैं।

रविदास

भक्त रविदासजी का जन्म विक्रमी संवत् १४३३ में माघ पूर्णिमा के दिन काशी में चमार जाति के परिवार में हुआ। उनके पिता का नाम रावधनदास था और उनकी माता शांत स्वभाववाली एक धर्मपरायण महिला थीं। रविदासजी की पत्नी लोना भी सीधी-सादी धर्मभीरु महिला थीं। रामानंदजी के शिष्य रविदासजी ने सहज व विनम्र भाषा में वर्ण-व्यवस्था पर प्रहार किया। 'गुरु ग्रंथ साहिब' में उनके इकतालीस पद दर्ज हैं।

उपर्युक्त भक्तों के अलावा 'गुरु ग्रंथ साहिब' में भाटों की वाणी भी दर्ज है। भाटों की वास्तविक संख्या के बारे में विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वान् उनकी संख्या ग्यारह मानते हैं तो कुछ का कहना है कि भाटों की सही संख्या सत्रह है। उनके नाम इस प्रकार हैं—

१. कल	२. कलसहार	३. टल	४. जालप
५. जलह	६. कीरत	७. सल	८. भल
९. नल	१०. भीखा	११. जालान	१२. दास
१३. गयंद	१४. सेवक	१५. मथुरा	१६. बल
१७. हरबंस।			

गुरुओं की स्तुति में इन भाटों के एक सौ तेईस पद 'गुरु ग्रंथ साहिब' में दर्ज हैं, जो इस प्रकार हैं—

१. कल	४९ पद
२. कलसहार	४ पद
३. टल	१ पद
४. जालप	४ पद
५. जलह	१ पद
६. कीरत	८ पद
७. सल	३ पद
८. भल	१ पद
९. भीखा	२ पद
१०. नल	६ पद
११. दास	१४ पद
१२. जालान	१ पद
१३. गयंद	५ पद
१४. सेवक	७ पद
१५. मथुरा	१० पद
१६. बल	५ पद
१७. हरबंस	२ पद
कुल	१२३ पद

□

विषय वस्तु : अध्यात्म से आर्थिक जीवन तक शिक्षा

'गुरु ग्रंथ साहिब' जीवन से जुड़ी और ईश्वर से जोड़नेवाली एक श्रेष्ठ रचना है। इस पवित्र ग्रंथ की वाणी व्यक्ति की आध्यात्मिक प्यास भी बुझाती है और जीवन के हर पक्ष, हर पहलू में उसका मार्गदर्शन भी करती है। वाणीकार गुरुओं और संतों-भक्तों ने यह वाणी आम काव्य की तरह कल्पनालोक में नहीं बल्कि आत्मिक मंडल में रहकर रची। उनकी वाणी के आध्यात्मिक पक्ष में ईश्वर भक्ति, उसके सत्य रूप की स्तुति, माया-मोह के त्याग की प्रेरणा, नाम सुमिरन और उसके माध्यम से मोक्ष एवं मुक्ति की बात कही गई है। जबकि जीवन-सिद्धांत पक्ष में एक ऐसी पूरी आचार-संहिता है, जिसके पालन से न केवल व्यक्ति का चरित्र निर्माण होता है बल्कि रामराज्य की संकल्पना भी साकार हो सकती है। विषय वस्तु की दृष्टि से 'गुरु ग्रंथ साहिब' ज्ञान का विशाल सागर है। व्यक्ति इसमें जितना गहरा उतरता है, सतही जीवन से वह उतना ही ऊपर उठता जाता है। यह पवित्र ग्रंथ केवल परमात्मा, मोक्ष और परलोक सँवारने की ही बात नहीं करता बल्कि इस लोक में दिन-प्रतिदिन के जीवन में शुचिता, सादगी, संयम, अक्रोध, सहिष्णुता, शिक्षा, त्याग, अनुशासन, गृहस्थी में जीवनसाथी के प्रति निष्ठा, पराई स्त्री एवं पराई वस्तु के प्रति विमोह तथा अनासक्ति, अहिंसा, स्वाभिमान, विनम्रता, सामाजिक एकता, मेहनत की कमाई, सद्व्यापार, परोपकार, मर्यादित खान-पान, आत्मनिर्भरता, न्याय, निर्भयता, मित्रता, स्त्री जाति के सम्मान, मानवाधिकारों की रक्षा, विषय-विकारों, कर्मकांड, आडंबर, रूढ़ियों के साथ-साथ पर-निंदा तथा कुबुद्धि के त्याग इत्यादि जैसे शुद्ध सांसारिक विषयों के बारे में भी 'गुरु ग्रंथ साहिब' की वाणी जीव तथा जगत् का मार्गदर्शन करती है। आध्यात्मिक तथा सामाजिक जीवन के अलावा 'गुरु ग्रंथ साहिब' में आर्थिक तथा राजनीतिक पक्ष के बारे में भी भरपूर मार्गदर्शन मिलता है। समाज व्यवस्था के साथ-साथ राज व्यवस्था कैसी होनी चाहिए, राजा में क्या-क्या गुण होने चाहिए, इस बाबत भी इस पवित्र ग्रंथ में कई उल्लेख मिलते हैं। इस ग्रंथ की वाणी में बारहवीं शताब्दी से सत्रहवीं शताब्दी के भारतीय जीवन के धार्मिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक पहलुओं की अनेक झलक मिलती है। अपने किस्म की यह एकमात्र समकालीन भारतीय स्रोत

रचना है, जिसमें हिंदुस्तान पर बाबर के हमले का उल्लेख मिलता है और जिसमें बाबर की सेना को 'पाप की बारात' की संज्ञा दी गई है। भ्रष्ट, अन्यायी तथा अत्याचारी शासकों को बुरी तरह से फटकारा गया है।

इस आधार पर 'गुरु ग्रंथ साहिब' की विषय वस्तु को मोटे तौर पर चार पक्षों में बाँटा जा सकता है—

१. आध्यात्मिक पक्ष, २. सामाजिक पक्ष, ३. राजनीतिक पक्ष तथा ४. आर्थिक पक्ष।

आध्यात्मिक पक्ष

'गुरु ग्रंथ साहिब' का यह प्रमुख पक्ष है। इसमें ईश्वर, उसके रूप, अस्तित्व एवं गुण, गुरु और उसकी महिमा तथा महत्त्व, जीव, जगत्, कर्म, धर्म, मन, नाम सुमिरन, संसार चक्र, मुक्ति, परमात्मालोक (सचखंड) इत्यादि की बात की गई है। आध्यात्मिक पक्ष का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

ईश्वर एक है। वह सर्वव्यापी है। इस सृष्टि की रचना स्वयं ईश्वर ने की। वह निर्भय है। उसका कोई वैरी नहीं। वह जन्म-मरण के चक्र में नहीं आता। वह सर्वशक्तिमान् है और गुरु की कृपा से प्राप्त होता है। वह सभी जीवों की रक्षा और पालन करता है। सारी सृष्टि में उसीका हुक्म (इच्छा) चल रहा है। वह सृष्टि में सब जगह मौजूद है और सृष्टि का तमाशा (कार्य व्यापार) देखकर खुश होता रहता है। हर जीव संसार में सेवा तथा सुमिरन के लिए आया है। गुरु द्वारा बताए गए मार्ग पर चलकर जो प्राणी सेवा और सुमिरन करते हैं, उनका जन्म और जीवन सफल होता है और वे आवागमन के चक्र से मुक्ति प्राप्त कर जाते हैं। परमात्मा सर्वज्ञ है, इसलिए जीव अपने अनैतिक एवं पाप-कर्मों को उसकी निगाह से छिपा या बचा नहीं सकता। लेकिन सच्चे मन से ईश्वर का नाम जपने से पापी और पतित का भी उद्धार हो जाता है। लोभ तथा तृष्णा के वशीभूत होकर प्राणी छल-कपट तथा अनैतिक व्यापार करता है और इधर-उधर भटकता है। पर जो प्राणी ईश्वर की इच्छा में चलते हैं उन्हें संतोष का मानो परम खजाना मिल जाता है और वे तृप्त हो जाते हैं। मनुष्य जीवन का असली ध्येय है बंदगी और यह देन सतगुरु से प्राप्त होती है और परमात्मा से मेल-मिलाप होता है। जिस प्रकार सूर्य की किरणों से अंधकार का विनाश होता है, उसी प्रकार सतगुरु की शिक्षा पर अमल करने से मनुष्य के हृदय से अज्ञान और मोह-माया का अँधेरा दूर होता है, ज्ञान का प्रकाश होता है। इसके विपरीत जो प्राणी माया के लोभ में पड़कर विकारों के शिकार हो जाते हैं, वे प्रभु से बिछुड़ जाते हैं और उन्हें अनेक प्रकार के दुःख एवं कष्ट भोगने पड़ते हैं। प्राणी जैसा कर्म करता है वैसा ही उसे फल मिलता है। उसे पूर्वजन्म में किए गए कर्मों के अनुसार

ही सुख-दु:ख की प्राप्ति होती है। सभी पाप-कर्मों का कारण मन है, जो माया में जकड़ा रहने की वजह से कुमार्ग पर चल पड़ता है और विकारों का संचय करता रहता है। चंचल स्वभाव का होने के कारण वह एक जगह स्थिर नहीं रहता। मन शरीर का राजा है, जो सभी इंद्रियों का संचालन करता है। वह कभी मूर्ख, कभी गँवार और भिखारी भी बन जाता है। लेकिन प्रभु की भक्ति और स्तुति द्वारा मन को वश में किया जा सकता है। जिसने मन को जीत लिया उसने, समझो, जग को जीत लिया। इस संसार में जो पैदा हुआ है, एक दिन उसका मरना भी निश्चित है। जब मनुष्य का अंतकाल समीप आता है तो उसके जीवन रूपी खेत को काटने के लिए यमराज आ जाता है और बिना बताए उसे पकड़कर ले जाता है। गुरु की कृपा के बिना मनुष्य भवसागर से पार नहीं हो सकता।

अब हम गुरुवाणी के प्रमाण सहित इस पक्ष की चर्चा विस्तार से करेंगे।

एक ओंकार (१ਓ)—'गुरु ग्रंथ साहिब' में सर्वत्र एक ईश्वर की बात कही गई है। उसके समान कोई दूसरा नहीं है। नानकजी का स्पष्ट कथन है—

'साहिब मेरा एको है।
एको है भाई एको है॥'

(पृ. ३६०)

वह प्रभु जल, पृथ्वी तथा आकाश में समान रूप में विद्यमान है और वह बहुविध रूपों में प्रकट हो रहा है—

'जल थल महिअल पूरिआ सुआमी सिरजनहार।
अनिक भाँति होई पसरिआ नानक एकोंकार॥'

(पृ. २९६)

सतिनाम—उसका नाम सत्य है। सत्य परमात्मा है। वह अतीत के युगों में भी सत्य था, वर्तमान काल में भी सत्य है और आनेवाले युगों में भी सर्वदा सत्य बना रहेगा—

'आदि सच जुगादि सच। है भी सच,
नानक होसी भी सच॥'

(पृ. १)

दुनिया में समय बीतने के साथ-साथ हर वस्तु पुरानी हो जाती है। लेकिन प्रभु का सत्य नाम कभी पुराना नहीं पड़ता—

'सचु पुराणा होवे नाही।'

करता पुरखु—यह सृष्टि परमात्मा की ही बनाई हुई है। सबकुछ उस एक ईश्वर की इच्छा

से अस्तित्व में है। सृष्टि की रचना, पालन और विनाश भी वह स्वयं करता है—

'जिन कीआ तिन देखिआ जग धंधड़ै लाइआ।'

(पृ. ७६५)

तथा

'जो उसारे सो ढाहसी, तिस बिन अवर ना कोई।'

(पृ. ९३४)

ब्रह्माजी को सृष्टि का कर्ता, विष्णुजी को पालनहार और महेश (शिव) जी को संहारक माना जाता है। 'गुरु ग्रंथ साहिब' की वाणी के मुताबिक इन तीनों देवताओं की उत्पत्ति भी परमात्मा से हुई—

'ब्रह्मा बिस्नु महेसु देव उपाइआ।'

(पृ. १२७९)

निरभउ—परमपिता परमात्मा भय रहित है। सर्वशक्तिमान् होने के कारण वह किसीके भय में नहीं है। बल्कि पवन, नदियाँ, अग्नि, धरती, सूर्य, चंद्रमा इत्यादि सब उसके भय में अर्थात् परमात्मा के अधीन हैं और उसकी इच्छा के अनुसार चल रहे हैं—

'भै विचि पवणु वहै सदवाउ।
भै विचि चलहि लख दरीआउ।
भै विचि इंदु फिरै सिर भारि।
भै विचि राजा धरम दुआरु।
भै विचि सूरजु भै विचि चंदु।
कोह करोड़ी चलत न अंतु।
सगलिआ भउ लिखिआ सिरि लेखु॥'

(पृ. ४६४)

वह निर्भय परमात्मा आकार रहित (निराकार) है। वह सच्चे नामवाला है और समस्त विश्व का उसीने सर्जन किया है—

'निरभउ निरंकार सच नाम।
जा का कीआ सगल जहान॥'

(पृ. ४६५)

निरवैर—परमात्मा के समकक्ष या समान कोई दूसरा नहीं है। उसके भीतर विचारों, चिंतन या कार्यों आदि का कोई द्वंद्व नहीं है। वह संपूर्ण ध्यानावस्था (सुन्न समाधि) में लीन है। इसलिए उसका किसीसे कोई वैर-विरोध नहीं है—

'जब धारी आपन सुन्न समाध।
तब बैर बिरोध किस संग कमात॥'

(पृ. २९१)

तथा

'निरभउ निरंकारु निरवैरु पूरन जोति समाई।'

(पृ. ५९६)

अकाल मूरत, अजूनी—परमात्मा अमर है। वह शाश्वत है तथा समय के अधीन नहीं है। वह परिस्थितियों के बंधन से मुक्त है। वह जन्म-मरण के चक्र और योनि में नहीं आता, इसलिए वह 'अकाल' और 'अजूनी' है—

'तू अकाल पुरखु नाही सिरि काला।
तू पुरखु अलेख अगंम निराला॥'

(पृ. १०३८)

तथा

'न ओह मरे न होवै सोग।'

(पृ. ९)

सैभं—ईश्वर स्वयंभू, स्वयंसिद्ध और स्वयं अपने प्रकाश से प्रकाशित है। वह स्वयं अपनी शक्ति से अस्तित्व में है। उसकी स्थापना नहीं की जा सकती और न ही उसका निर्माण किया जा सकता है—

'थापिआ न जाइ कीता न होइ।
आपे आपि निरंजन सोई॥'

(पृ. २)

तथा

'आपीनै आपु साजिउ आपीनै रचिउ नाउ।'

(पृ. ४६३)

गुरप्रसादि—ऐसा प्रभु केवल गुरु के प्रसाद अर्थात् कृपा से ही प्राप्त हो सकता है—

'गुर परसादी हरि पाईऐ, मतु को भरमि भुलाइ।'

और जब गुरु की कृपा से अपने हृदय में परमात्मा से मिलाप हो जाता है तो मन की अशांति तथा विषय-विकारों की अग्नि शांत हो जाती है—

'गुर परसादि घर ही पिरु पाइआ, तउ नानक तपति बुझाई।'

ईश्वर की अन्य विशेषताएँ—उपर्युक्त के अलावा 'गुरु ग्रंथ साहिब' में ईश्वर की अन्य कई विशेषताओं का उल्लेख किया गया है। वह ईश्वर सबका पिता, माता, मित्र, भाई, स्वामी और संरक्षक है। परमात्मा के इस गुण का गुरु अर्जनदेव इन शब्दों में उल्लेख करते हैं—

'तूँ मेरा पिता, तूँ है मेरा माता।
तूँ मेरा बंधप, तूँ मेरा भ्राता।
तूँ मेरा राखा सभनी थाँई'''॥'

(पृ. १०३)

वह अनाथों का नाथ, बेसहारों का सहारा, दयालु, परोपकारी, निरंतर देनेवाला दाता, दुष्टों का संहार करनेवाला, अच्छे तथा बुरे दोनों तरह के मनुष्य की पीड़ा समझनेवाला, भूल तथा गलतियाँ क्षमा करनेवाला तथा संकट से उबारनेवाला है। उसमें इतनी सामर्थ्य है कि वह खाली पात्रों को भर सकता है और भरे हुए पात्रों को पल में खाली कर सकता है—

'हर जन राखे गुर गोबिंद।
कंठ लाइ अवगुण सभि मेटे,
दइआल पुरख बखसिंद॥'

(पृ. ६८१)

तथा

'रीते भरे भरे सखनावै, यह ताको बिवहार।'

(पृ. ५३७)

तथा

'घट-घट के अंतर की जानत।
भले-बुरे की पीर पछानत॥'

(गुरु गोबिंद सिंह)

गुरु—इस शब्द का संधि विच्छेद है—'गु' + 'रु'। 'गु' का अर्थ है अँधेरा और 'रु' का अर्थ है प्रकाश। अर्थात् जो अज्ञान रूपी अंधकार को ज्ञान रूपी प्रकाश से दूर करे, वह 'गुरु' है। दूसरे शब्दों में, गुरु वह मार्गदर्शक है जो मनुष्य को आध्यात्मिक ज्ञान प्रदान करता है, उसे परमात्मा से जोड़कर उसकी मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करता है। 'गुरु ग्रंथ साहिब' में 'गुरु' और 'सतगुरु' शब्द एक ही अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। ग्रंथ साहिब की आध्यात्मिक विचारधारा का केंद्र ही गुरु है। गुरु देहधारी होते हुए भी देह न होकर 'शबद' होता है। ईश्वर जीवों के मार्गदर्शन के लिए स्वयं उसमें शब्द की स्थापना करता है। गुरु उस शबद का ज्ञान लोगों में बाँटकर उनके हृदय शांत करता है—

'सब्दु गुर पीरा गहिर गंभीरा, बिनु सब्दै जगु बउरानं।'

तथा

'पवन अरंभु सतिगुर मति वेला।
सब्दु गुरु सुरति धुन चेला॥'

मनुष्य के लिए गुरु क्यों आवश्यक है—इस प्रश्न का समाधान वार आसा की छठी पउड़ी में गुरु नानकदेव देते हैं और फरमाते हैं कि गुरु के बिना न पहले किसीने प्रभु को प्राप्त किया है और न करेगा। प्रभु ने स्वयं को गुरु में रखा है, जिसे गुरु ने प्रकट करके सुना दिया है। गुरु से मिलाप करके जो प्राणी अपने भीतर से मोह-माया का त्याग कर देते हैं वे सदा के लिए मुक्त हो जाते हैं—

'बिनु सतिगुर किनै न पाइउ, बिनु सतिगुर किनै न पाइआ।
सतिगुर विचि आपु रखिउनु, करि परगटु आखि सुणाइआ।
सतिगुर मिलिऐ सदा मुक्तु है, जिनि विचहु मोहु चुकाइआ॥'

(पृ. ४६६)

गुरु के बिना प्रेम भक्ति की भावना पैदा नहीं होती और न ही मन से अहंकार दूर होता है—

'बिनु गुर प्रीति न उपजै, हउमै मैलु न जाइ।'

(पृ. ५९)

गुरु के बिना ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। ब्रह्मा, नारद और वेदव्यास भी इस सत्य की पुष्टि करते हैं—

'भाई रे गुर बिनु गिआनु न होइ।
पूछहु ब्रह्मै नारदै बेद बिआसै कोइ॥'

(पृ. ५९)

वही सिख सच्चे अर्थों में मित्र है जो गुरु के हुक्म (इच्छा) के अनुसार व्यवहार करता है, उसकी आज्ञा और शिक्षा का पालन करता है। जो अपनी इच्छा के अनुसार चलता है, वह गुरु से बिछुड़ जाता है और उसे कष्टों का सामना करना पड़ता है—

'सो सिख सखा बंधप है भाई, जि गुर के भाणे विचि आवै।
आपणै भाणै जो चले भाई, विछुड़ चोटा खावै॥'

(पृ. ६०१)

सच्चा गुरु कौन—इस प्रश्न का उत्तर भी 'गुरु ग्रंथ साहिब' की वाणी देती है। जिस महापुरुष के दर्शन मात्र से ही मन खिल उठे, दुविधा दूर हो जाए और प्रभु के चरणों के साथ प्रीति

हो जाए, वही सच्चा गुरु है—

'जिसु मिलिऐ मनि होउ अनंदु, सो सतिगुरु कहीऐ।
मन की दुबिधा बिनसि जाइ, हरि परमपदु लहीऐ॥'

(पृ. १६८)

प्रकाश का कोई भी अन्य स्रोत गुरु द्वारा दिए जानेवाले ज्ञान रूपी प्रकाश की बराबरी नहीं कर सकता। नानकजी का कथन है कि अगर सैकड़ों चंद्रमा उत्पन्न हो जाएँ और हजारों सूर्य भी उग आएँ, तब भी गुरु के बिना अंधकार ही रहेगा—

'जे सउ चंदा उगवहि सूरज चढ़हि हजार।
ऐते चानण होदिआँ गुर बिन घोर अँधार॥'

(पृ. ४६३)

जिस व्यक्ति का कोई गुरु नहीं होता, गुरुवाणी में उसे 'निगुरा' (गुरुहीन) कहा गया है। नानकजी के अनुसार, निगुरा मनुष्य बंजर धरती के समान है, जिसमें (गुणों की) कोई फसल पैदा नहीं होती—

'कालरि बीजसि दुरमति ऐसी निगुरे की नीसाणी।'

(पृ. १२७५)

जीव—'गुरु ग्रंथ साहिब' में जीव को ईश्वर का रूप माना गया है। उसमें भी सच के उन्हीं गुणों की कल्पना की गई है जो ईश्वर में मौजूद हैं—**'तोही मोही मोही तोही अंतरु कैसा।'** केवल अहंकार और मोह-माया के आवरण के कारण जीव अपने अलौकिक गुणों को भूल जाता है। गुरु अर्जनदेव फरमाते हैं कि अगर वह गुरु से ज्ञान का लाभ प्राप्त करके अपने यथार्थ को पहचान ले तो पुनः वह ईश्वर के साथ एकाकार हो सकता है—

'ब्रह्मै ब्रह्मु मिलिआ, कोई न साकै भिन्न करि बलिराम जीउ।'

(पृ. ७७८)

हर जीव शरीर और आत्मा के संयोग से बना है। शरीर और आत्मा का संयोग ईश्वर स्वयं बनाता है और फिर ईश्वर के हुक्म से जीव अस्तित्व में आता है—

'हुकमि होवनि आकार,

× × ×

हुकमि होवनि जीअ॥'

(पृ. १)

गुरुवाणी का स्पष्ट कथन है कि चौरासी लाख योनियों में से मानव जीवन सर्वश्रेष्ठ है। जो मनुष्य

इस जीवन का नेक कार्यों के लिए उपयोग करने से चूक जाता है वह विभिन्न योनियों में भटकता हुआ कष्ट भोगता रहता है—

'लख चउरासीह जोन सबाइ,
मानस कउ प्रभु देइ वडिआई।
इस पउड़ी ते जो नर चूकै,
सो आए जाए दुःख पाइदा॥'

(पृ. १०७५)

मानव शरीर का महत्त्व इतना अधिक है कि उसे पाने के लिए देवता भी तरसते हैं—

'इस देहि कउ सिमरहि देव।'

(पृ. ११५९)

जगत् अथवा सृष्टि—इस सृष्टि की रचना ईश्वर ने की, यह बात हम ऊपर 'करता पुरख' उपशीर्षक में जान चुके हैं। अब हम यह जानने का प्रयास करेंगे कि 'गुरु ग्रंथ साहिब' की वाणी के अनुसार, सृष्टि की रचना कब और कैसे हुई।

गुरु नानकदेव की वाणी से स्पष्ट पता चलता है कि सृष्टि की रचना से पहले कुछ नहीं था—न धरती, न आकाश; न दिन, न रात; न चाँद, न सूरज; न पवन, न पानी; न सागर, न नदी; न स्त्री, न पुरुष; न जाति, न जन्म; न दुःख, न सुख। और तो और, सृष्टि के निर्माण से पूर्व ब्रह्मा, विष्णु और महेश नामक देवता भी नहीं थे। चारों ओर घनघोर अँधेरा था तथा सिर्फ प्रभु था, जो समाधि (ध्यान) में था—

'अरबद नरबद धुंधुकारा,
धरणि न गगना हुकमु अपारा।
न दिनु रैनि न चंदु न सूरजु,
सुन्न समाधि लगाइदा।
खाणी ना बाणी पउण न पाणी,
उपत्ति खपति न आवण जाणी।
खंड पताल सपत नहीं सागर,
नदी न नीरु वहाइदा।

× × ×

ब्रह्मा बिस्नु महेसु न कोई,
अवरु न दीसै एको सोई।

नारि पुरखु नही जाति न जन्मा,
न को दुःखु-सुखु पाइदा॥'

(पृ. १०३५)

जब ईश्वर की समाधि टूटी और उसकी इच्छा हुई तो उसने सृष्टि की रचना कर दी। ब्रह्मा, विष्णु और महेश को पैदा किया और साथ ही माया के मोह का प्रसार किया। प्रभु ने खंड, ब्रह्मांड, पाताल आदि बनाए और स्वयं भी गुप्त स्थिति से प्रकट हुआ—

'जा तिसु भाणा ता जगतु उपाइआ,
बाझ कला आडाणु रहाइआ।
ब्रह्मा बिस्नु महेसु उपाई,
माइआ मोह वधाइदा।

× × ×

खंड ब्रह्मंड पाताल अरंभे,
गुप्तहु परगटी आइआ॥'

(पृ. १०३५)

बड़े-बड़े पंडित, काजी और ऋषि-मुनि भी इस बात का पता नहीं लगा सके कि सृष्टि की रचना किस समय, किस तारीख को और किस महीने में हुई और उस समय कौन सी ऋतु चल रही थी। केवल वह कर्ता प्रभु ही जानता है कि सृष्टि की रचना उसने कब की—

'थिति वारु न जोगी जाणै, रुति माह न कोई।
जा करता सिरठी कउ साजे, आपे जाणै सोई॥'

(पृ. १६)

सृष्टि के आकार और अंत के बारे में कोई नहीं जान सका। बस इतना ही कहा जा सकता है कि लाखों पाताल हैं, लाखों आकाश हैं। असंख्य द्वीप हैं, सौरमंडल हैं और ब्रह्मांड हैं। जपुजी का कथन है—

'इह अंत न जाणै कोई।

× × ×

पाताला पाताल लख आगासा आगास।

× × ×

तिथै खंड मंडल वरभंड॥'

कर्म—जीवन में हम जो कुछ करते हैं, उसे 'कर्म' कहते हैं। कर्म दो प्रकार के माने गए

हैं—अच्छे कर्म और बुरे कर्म। विषय-विकार, झूठ, छल-कपट, हिंसा आदि बुरे कर्म हैं। सच बोलना, दया, दान, नाम सुमिरन, पुण्य, अहिंसा आदि अच्छे कर्मों की श्रेणी में आते हैं। 'गुरु ग्रंथ साहिब' में शरीर को धरती और कर्म को बीज कहा गया है। उसकी आत्मा किसान है। इस धरती में जैसा कोई बीज बोएगा, उसे वैसा ही फल मिलेगा। मनुष्य को अपने हर एक कर्म का फल भुगतने के लिए बार-बार अलग-अलग योनियों में जन्म लेना पड़ता है—

'करमु धरती सरीरु जुग अंतरि, जो बोवै सो खाति।
जेहा बीजै सो लुणै करमा संदड़ा खेतु॥'

(पृ. १३४)

कर्म के बिना कुछ प्राप्त नहीं होता। जैसे मनुष्य के कर्म होंगे वैसा ही उसे फल प्राप्त होगा। नानकजी स्पष्ट कहते हैं—

'विणु करमा किछु पाईऐ नाही...''

(पृ. ७२२)

तथा

'फलु तेवेहो पाईऐ जेवेही कार कमाईऐ।'

(पृ. ४६८)

जो कर्म किसी कामना या फल को सामने रखकर किए जाते हैं उन्हें 'स्वार्थ कर्म' कहते हैं। इसके विपरीत जो कर्म किसी सांसारिक फल की कामना किए बिना निस्स्वार्थ भाव से किए जाते हैं उन्हें 'निष्काम कर्म' कहा जाता है। ऐसे ही कर्मों को 'अध्यात्म कर्म' कहा जाता है। ऐसे कर्म करने से मन से अहंकार का नाश होता है और उसमें प्रभु की ज्योति का निवास होता है—

'अधिआत्म करम करे दिनु राती।
निरमल जोति निरंतरि जाती॥'

धर्म—'गुरु ग्रंथ साहिब' में धर्म को परंपरागत संकुचित रूप से बाहर निकालकर एक व्यापक रूप प्रदान किया गया है। धर्म की परिभाषा गुरु अर्जनदेव इस प्रकार देते हैं—

'सरब धरम महि स्रेस्ट धरमु।
हरि को नामु जपि निरमल करमु॥'

—अर्थात् हरि का नाम जपना और कार्य-व्यवहार में हमेशा नेक कर्म करना ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है। इस दृष्टिकोण से 'गुरु ग्रंथ साहिब' में मुख्य रूप से तीन धर्म स्वीकार किए गए हैं—सच, संतोष और ज्ञान। इस पवित्र ग्रंथ के वाणीकारों ने सिर्फ एक सत्य धर्म पर दृढ़ता से अमल करने का आदेश दिया है, क्योंकि सच का पालन करने से ही प्रभु की प्राप्ति हो सकती है। केवल सच को

अपनानेवाला स्वयं नाम जपते हुए दूसरों को नेक राह पर चलने के लिए प्रेरित कर सकता है—

'जिसदै अंदरि सचु है, सो सचा नाम मुखि सचु अलाए।
उहु हरि मारगि आपि चलदा, होरना नो हरि मारगि पाए॥'

(पृ. ११८८)

दूसरा मुख्य धर्म संतोष है, जिसे अपनाने से अध्यात्म मार्ग की सबसे बड़ी रुकावट 'ममता' का अंत हो जाता है। मन में संतोष आ जाने से काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार नामक पाँच विकारों का नाश होता है और प्राणी ईश्वर की भक्ति में तल्लीन होता है। संतोष चंचल मन को काबू में रखने का प्रमुख साधन है—

'सतु संतोखु सदा सचु पलै, सचु बोलै पिर भाए॥'

(पृ. ७६४)

धर्म का तीसरा दरजा 'गुरु ग्रंथ साहिब' में 'ज्ञान' को दिया गया है। ज्ञान गुरु से प्राप्त होता है। यह एक ऐसा अंजन है जो ज्योति को इतना दिव्य बना देता है कि प्राणी अपने भीतर ही ईश्वर का दर्शन करने में समर्थ हो जाता है। उसके मन से अज्ञान रूपी अँधेरा मिट जाता है—

'गिआन अंजनु गुरि दीआ, अगिआन अँधेर बिनासु।
हरि किरपा ते संत भेटिआ, नानक मनि परगासु॥'

(पृ. २९३)

मन—'गुरु ग्रंथ साहिब' में एक ओर मन को खोटा, अविश्वसनीय और मस्त हाथी आदि कहकर उसके दुर्गुणों की चर्चा की गई है **(मन खुटहर तेरा नहीं बिसासु तू महा उदमादा)**, तो दूसरी ओर उसे ज्योतिस्वरूप मानकर असली सच को पहचानने की सलाह दी गई है। अपनी साधारण स्थिति में मन काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार जैसे विकारों में लीन रहता है और गुरु द्वारा बताए गए मार्ग से भटक जाता है। मन को वश में करने के लिए ज्ञान की आवश्यकता है और यह ज्ञान गुरु से ही प्राप्त होता है—

'गिआन का बधा मनु रहै, गुर बिनु गिआन न होइ।'

(पृ. ४६९)

मन को वश में कर लेने से सभी सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं—

'मन साधे सिद्धि होइ।'

नाम सुमिरन—गुरु द्वारा बताए गए रास्ते पर चलने के लिए 'गुरु ग्रंथ साहिब' में एक विशेष अभ्यास पर जोर दिया है। नाम सुमिरन और शबद-श्रवण उसी अभ्यास का गुरुवाणी में प्रचलित नाम है। 'जपुजी' में नानकजी ने नाम को एक ऐसी आध्यात्मिक शक्ति माना है जो समूचे

ब्रह्मांड को चलाती है। नाम के सुमिरन से जीव को सच, संतोष और ज्ञान की प्राप्ति होती है। नाम को माननेवालों की गति का शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सकता, जैसाकि नानकजी 'जपुजी' में बताते हैं—**'मनै की गति कही न जाए।'** 'गुरु ग्रंथ साहिब' में 'नाम' शब्द परमात्मा के लिए प्रयोग किया गया है जो अनादि, अनंत, असीम, परम सच और अटल है। नाम सुमिरन के बिना जीव की मुक्ति नहीं हो सकती। गुरु अर्जनदेव समझाते हैं कि यह मानव जीवन दुर्लभ है, जो बड़े सौभाग्य से प्राप्त होता है। जो मनुष्य इस जीवन में नाम नहीं जपते, वे मानो अपना विनाश (आत्मघात) स्वयं करते हैं—

'दुलंभ देह पाई बडभागी।
नाम न जपहि ते आत्मघाती॥'

(पृ. १८८)

नाम का जाप और सुमिरन ही नहीं, उसपर चिंतन-मनन और अमल भी होना चाहिए। बिना चिंतन-मनन और अमल के नाम का जाप व्यर्थ और निष्फल है। गुरु अमरदास समझाते हैं कि सिर्फ राम-राम (परमात्मा) कहने से किसीको राम प्राप्त नहीं हो जाता। जब तक शबद के भेद (अर्थ) को प्राणी मन में नहीं बसाएगा तब तक परमात्मा हृदय में नहीं बसेगा—

'राम-राम करता सभ जग फिरै, राम न पाया जाए।
गुर कै शब्दि भेदिआ, इन बिध वसिआ मन आए॥'

आवागमन—जन्म, मरण और पुनर्जन्म के चक्र को आवागमन कहा जाता है। गुरुवाणी के अनुसार, जीव मिलते हैं और बिछुड़ते हैं और बिछुड़कर फिर मिलते हैं। अर्थात् वे जनमते एवं मरते रहते हैं। अज्ञानवश किए गए कर्मों के कारण जीव की आत्मा आवागमन के चक्र में फँसी रहती है। गुरु अर्जनदेव स्पष्ट बताते हैं कि कीट, पतंगा, हाथी, मछली, हिरण, पक्षी, साँप इत्यादि जैसी अनेक योनियों से होकर गुजरने के बाद मानव जीवन मिलता है। मनुष्य के कर्मों से ईश्वर उसकी योनि तय करता है। अगर मनुष्य योनि में भी प्राणी अहंकार और अज्ञान के जाल से बाहर न निकल सका तो उसे योनियों में ही भटकना पड़ता है—

'कई जनम भए कीट पतंगा।
कई जनम गज मीन कुरंगा॥
कई जनम पंखी सरप होइउ।
कई जनम हैवर ब्रिख जोइउ॥'

(पृ. १७६)

'गुरु ग्रंथ साहिब' की यह भी मान्यता है कि जीव की प्राप्तियाँ बहुत कुछ उसकी अपनी

इच्छा-अनिच्छा पर निर्भर करती हैं, जैसाकि नानकजी के इस कथन से स्पष्ट है—

'साई वस्तु परापति होई, जिसु सिउ लाइआ हेतु।'

(पृ. ७५)

इस पवित्र ग्रंथ में दर्ज संत त्रिलोचन की वाणी में तो यहाँ तक कहा गया है कि मरने के समय जीव यदि धन-दौलत के बारे में सोचता है तो उसे साँप की योनि मिलती है। इसी प्रकार अंतकाल में स्त्री के बारे में सोचनेवाला वेश्या, पुत्रों के बारे में सोचनेवाला सूअर और महल आदि के बारे में सोचनेवाला प्रेत की योनि में पैदा होता है—

'अंतिकालि जो लछमी सिमरै'''
सरप जोनि वलि वलि अउतरै।
अंतकालि जो स्त्री सिमरै'''
बेसवा जोनि वलि वलि अउतरै।
अंतकालि जो लड़िकै सिमरै'''
सूकर जोनि वलि वलि अउतरै।
अंतकालि जो मंदर सिमरै'''
प्रेत जोनि वलि वलि अउतरै॥'

(पृ. ५२६)

सच्चे मन से प्रभु का नाम सुमिरन करने से योनियों के चक्र से छुटकारा मिलता है—

'अनिक जोनि जनमै मरि जाम।
नामु जपत पावै बिस्राम॥'

(पृ. २६४)

परमात्म लोक—'गुरु ग्रंथ साहिब' की वाणी में परमात्म लोक के लिए प्राय: 'सचखंड' शब्द इस्तेमाल किया गया है। सचखंड यानी वह लोक जहाँ ईश्वर साक्षात् वास करता है—**'सचिखंडि वसै निरंकारु।'** सचखंड में आनंद-ही-आनंद है। वहाँ अनंत खंड, मंडल और ब्रह्मंड हैं, जिनका शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सकता। जीव भी सचखंड पहुँच सकता है। लेकिन इसके लिए पहले उसे चार अन्य खंडों से होकर गुजरना जरूरी है। ये चार खंड हैं—धर्म खंड, ज्ञान खंड, श्रम खंड और कर्म खंड। इन चार खंडों को पार करके सचखंड में प्रवेश करनेवाला व्यक्ति न केवल स्वयं मोक्ष प्राप्त कर जाता है अपितु अपने साथ कई अन्य लोगों का भी उद्धार कर जाता है।

माया—'गुरु ग्रंथ साहिब' में अनेक स्थान पर माया के बुरे प्रभाव और उससे बचने का

उपाय बताया गया है। असत्य को सत्य मान लेना ही माया है। माया के अनेक रूप हैं और वह मोह का रूप धारण करके सांसारिक जीवों को डसती है। पुत्र, भाई, पत्नी, धन और यौवन, लोभ, अहंकार आदि सब माया का ही रूप है। जो मनुष्य माया के पीछे भागते हैं, वे अपना लोक और परलोक दोनों बिगाड़ लेते हैं—

'बाबा माइआ रचना धोहु।
अंधै नामु विसारिआ, न तिसु इहु न उहु॥'

ज्ञान—जिस प्रकार अँधेरा दूर करने के लिए दीपक की आवश्यकता होती है उसी प्रकार अज्ञान का नाश करने के लिए ज्ञान रूपी प्रकाश की जरूरत होती है—

'जह गिआन प्रगासु अगिआन मिटंतु।'

ज्ञान की प्राप्ति सिर्फ गुरु से होती है और जो प्राणी ज्ञान प्राप्त कर लेता है उसका जीवन और मन पवित्र हो जाता है—

'गिआनु धिआनु सभु गुर ते होई।
साची रहत साचा मनि सोई॥'

(पृ. ८३१)

अहंकार—मनुष्य का सबसे बड़ा दुर्गुण अहंकार (हउमै) है और यह अन्य दुर्गुणों का मूल कारण है। गुरुवाणी का स्पष्ट कथन है कि अहंकार और प्रभु का नाम एक-दूसरे के विरोधी हैं। दोनों एक साथ नहीं रह सकते—

'हउमै नावै नालि विरोध है, दोए न वसहि इक थाई॥'

(पृ. ५६०)

अहंकार एक तरह का रोग है और इसकी जड़ें काफी गहरी हैं। लेकिन गुरु के शबद की कमाई से इस रोग का इलाज भी संभव है—

'हउमै दीरघ रोग है दारु भी इस माहि।
किरपा करे जे आपणी ता गुर का सब्दु कमाहि॥'

(पृ. ४६६)

सामाजिक पक्ष

आध्यात्मिक मार्गदर्शक होने के अलावा 'गुरु ग्रंथ साहिब' सामाजिक शिक्षक भी है। मध्यकाल में भारतीय समाज अनेक विकृतियों, विकारों और विषमताओं से ग्रस्त था। लोभ, तृष्णा, क्रोध, वासना, ईर्ष्या के वशीभूत होकर लोग भक्ति मार्ग से भटककर पाप-कर्म में प्रवृत्त हो रहे थे।

सादगी और संयम की जगह दिखावा व असंयम प्रधान था। भूले-भटके हुए लोगों को सही रास्ते पर लाने और इस प्रकार एक सभ्य, सदाचारी, संयमी तथा नैतिक समाज की स्थापना के लिए गुरुओं और संतों-भक्तों ने जो उपदेश तथा संदेश दिए उन्हें गुरु अर्जनदेव ने 'गुरु ग्रंथ साहिब' में दर्ज करके शाश्वत बना दिया। समाज में आज भी मध्य युग जैसी परिस्थितियाँ विद्यमान हैं। उसके चारित्रिक और नैतिक उत्थान के लिए ये संदेश और उपदेश आज भी उतने ही प्रासंगिक हैं। आइए जानें 'गुरु ग्रंथ साहिब' के सामाजिक पक्ष के प्रमुख तत्त्व।

धार्मिक एकता—मध्यकाल में भारतीय समाज पूरी तरह से धर्म और जाति के आधार पर बँटा हुआ था। धार्मिक कट्टरता जोरों पर थी। हिंदुओं और मुसलमानों के बीच अपने-अपने धर्म को दूसरे से श्रेष्ठ और महान् साबित करने की होड़ लगी हुई थी। इस कारण देश के इन दोनों प्रमुख धर्मों के बीच टकराव और क्लेश बढ़ता जा रहा था। यही नहीं, खुद हिंदू धर्म जातियों और वर्णों में बँटा हुआ था। व्यक्ति का सामाजिक सम्मान और स्थान उसकी जाति और वर्ण के आधार पर तय होता था, चाहे उसके कर्म कैसे भी हों। समाज में वर्ण प्रधान था, व्यक्ति नहीं। धर्म, जाति और वर्ण के आधार पर बँटे और बिखरे हुए समाज को जोड़ने के लिए गुरुओं ने '**खत्री ब्राह्मण सूद वैस उपदेसु चहु वर्णां कउ साँझा**' के अनुसार समूची मानव जाति के लिए एक ही सर्वसाँझे ईश्वरीय उपदेश की बात की और स्पष्ट कहा कि व्यक्ति अपनी जाति और वर्ण से नहीं बल्कि कर्मों से महान् और श्रेष्ठ होता है—

'जाति जनमु नह पुछीऐ, सच घरु लेहु बताइ।
सा जाति सा पति है, जेहे करम होइ॥'

(पृ. १३३०)

'**एक नूर ते सब जग उपजिआ**' के समतावादी सिद्धांत के मुताबिक सभी मनुष्य एक ही परमात्मा की उत्पत्ति होने के कारण 'गुरु ग्रंथ साहिब' ने हिंदुओं और मुसलमानों को दो अलग-अलग श्रेणियाँ नहीं माना; बल्कि '**राह दोवै खसमु एको जाणु**' कहकर दोनों को एक समान धरातल पर रखकर इस सवाल को ही अर्थहीन कर दिया कि हिंदू धर्म श्रेष्ठ है या इसलाम।

भारतीय समाज में दलितों को शुरू से ही अपमानित और प्रताड़ित किया जाता रहा है। दलितों को सम्मान देने और दिलाने के लिए सिख गुरुओं ने उन्हें अपने साथ और अपने आपको उनके साथ जोड़ा, उन्हें अपनी संगत और पंगत में साथ बिठाया और खिलाया। नानकजी ने तो ऊँची जाति के एक अमीर मलिक भागो के शाही व्यंजन ठुकराकर एक दलित बढ़ई भाई लालो की सूखी रोटी खाई और डंके की चोट पर कहा कि अगर नीच से भी नीच और उस नीच से भी नीच कोई जाति है तो नानक उसके साथ है। बड़ी जाति से मेरा कोई सरोकार नहीं। नानकजी

ने यहाँ तक कहा कि जहाँ तथाकथित नीच लोगों की सेवा-सँभाल होती है वहाँ प्रभु की कृपा होती है—

'नीचा अंदरि नीच जाति, नीची हू अति नीचु।
नानक तिन कै संगि साथि, वडिआ सिउ किआ रीस।
जिथै नीच समालिअन, तिथै नदर तेरी बख्सीस॥'

(पृ. १५)

परिवार और रिश्ते-नाते—'गुरु ग्रंथ साहिब' में समाज के लगभग सभी प्रचलित संबंधों और रिश्तों का उल्लेख मिलता है। माता-पिता, भाई-बहन, पुत्र-पुत्रवधू, देवरानी-जेठानी आदि जैसे प्रचलित रिश्तों को 'गुरु ग्रंथ साहिब' ने सामाजिक मान्यता दी है। लेकिन चूँकि इस पवित्र ग्रंथ में अध्यात्म प्रधान है, अत: इन सभी सांसारिक रिश्तों से बड़ा भक्त और भगवान् का रिश्ता माना गया है। यहाँ तक कि कहीं-कहीं तो ये सारे रिश्ते ईश्वर तक सीमित कर दिए गए हैं और उसे सभी रिश्तों का केंद्र मानकर बाकी सब रिश्तों को दरकिनार कर दिया गया है—

'तूँ मेरा पिता तूँ है मेरा माता।
तूँ मेरा बंधपु तूँ मेरा भ्राता॥'

(पृ. १०३)

गुरुवाणी में कई जगह पारिवारिक संबंधों की नैतिक गुणों के साथ स्थापना की गई है। बुद्धि को माता, संतोष को पिता, सत्य को भाई व श्रम और सुरति (ध्यान) को सास-ससुर की पदवी दी गई है। जीव को इन संबंधियों (गुणों) को धारण करके ईश्वर तक पहुँचने का आह्वान किया गया है—

'माता मति पिता संतोखु।
सतु भाई करि एहु विसेखु॥

× × ×

सरम सुरति दुइ ससुर भए।
करणि कामणि करि मन लए॥'

(पृ. १५१-५२)

विवाह और गृहस्थ जीवन—स्त्री-पुरुष के संबंधों और उनसे उत्पन्न संतान को सामाजिक मान्यता एवं मान-सम्मान देने के लिए हजारों वर्षों पहले विवाह संस्था कायम की गई। 'मनुस्मृति' में आठ प्रकार के विवाहों (ब्राह्म विवाह, दैव विवाह, आर्ष विवाह, प्राजापत्य विवाह, आसुर विवाह, गांधर्व विवाह, राक्षस विवाह और पैशाच विवाह) की चर्चा की गई है। लेकिन 'गुरु ग्रंथ साहिब' में केवल प्राजापत्य विवाह को मान्यता दी गई है। गुरुवाणी में सभी सांसारिक संबंधों में

गृहस्थ मार्ग का पालने करनेवाला स्त्री-पुरुष संबंध को सबसे श्रेष्ठ माना गया है। विवाह को दो पवित्र आत्माओं का मिलन कहा गया है। गुरु अमरदास का कथन है—'**एक जोति दुइ मूरति।**' यही नहीं, 'गुरु ग्रंथ साहिब' में पति-पत्नी के संबंध को उच्च आध्यात्मिक दरजा दिया गया है और सभी जीवों को स्त्री तथा ईश्वर को उनका पति कहा गया है—

'इस जग महि पुरख एकु है, होर सगली नारि सबाई।'

(पृ. ५९१)

गुरुवाणी के अनुसार, वर-वधू का संयोग और विवाह संबंधी सारे कार्य ईश्वर स्वयं संपन्न करता है—

'हरि प्रभि काज रचाइआ, गुरमुखि विआहणि आइआ...'

(पृ. ७७५)

दहेज विवाह से जुड़ी एक बहुत बड़ी सामाजिक बुराई है। देश में हर साल हजारों मासूम बेटियाँ और बहुएँ इस बुराई की बलि चढ़ जाती हैं। 'गुरु ग्रंथ साहिब' में आध्यात्मिक दहेज को श्रेष्ठ बताया गया है और पदार्थवादी दहेज को झूठा तथा आडंबरपूर्ण कहा गया है। सयानी वधू अपने पिता से विदा होते समय केवल प्रभु के नाम रूपी दहेज की माँग करती है—

'हरि प्रभ मेरे बाबुला, हरि देवहु दान मै दाजो।

× × ×

होर मनमुख दाज जि रखि दिखालहि, सु कूड़ि अहंकार कच पाजो॥'

(पृ. ७९)

सिख धर्म में विवाह को 'आनंद कारज' कहा गया है। इसका शाब्दिक अर्थ है—ऐसा कार्य जिससे आनंद प्राप्त हो। हिंदू धर्म में अग्नि के सात फेरों के विपरीत आनंद कारज 'गुरु ग्रंथ साहिब' के चार फेरों (परिक्रमा) से संपन्न होता है, जिन्हें 'लाँवा फेरे' भी कहा जाता है। गुरुवाणी के अनुसार, पहली लाँव विवाह की रस्म का आरंभ और कर्मशीलता (गृहस्थ जीवन में प्रवेश) की प्रतीक है। दूसरी लाँव वर और वधू के मिलाप और उनकी आपसी पवित्र भावनाओं के मिलन की प्रतीक है। तीसरी लाँव साधु जनों के मिलन और ईश्वर के गुणगान से सांसारिक वस्तुओं से वैराग्य उत्पन्न होने की प्रतीक है। चौथी लाँव गृहस्थ जीवन की सिद्धि और पति-परमात्मा की पूर्ण प्राप्ति की प्रतीक है।

'गुरु ग्रंथ साहिब' की वाणी में विवाह के लिए लग्न, मुहूर्त, शकुन-अपशकुन, नक्षत्रों की गणना, जन्मपत्रियों के मिलाने आदि के लिए कोई स्थान नहीं है। गुरुवाणी में ईश्वर पर आस्था रखनेवाले के लिए सभी दिन पवित्र माने गए हैं—

'साहा गणहि न करहि बीचारु।
साहे ऊपरि एकंकारु॥'

(पृ. ९०४)

सुहागिन—सामान्य बोलचाल और व्यवहार में सुहागिन उस ब्याहता स्त्री को कहा जाता है जिसका पति जीवित है। पर 'गुरु ग्रंथ साहिब' की विचारधारा इससे कहीं व्यापक है। गुरुवाणी के अनुसार, सुहागिन वह स्त्री है जो अपने पति को दिल में धारण करे, उसके साथ मीठे वचन बोले, नम्र व्यवहार करे और अपने पति की सेज पर प्रसन्नता अनुभव करे, जिसपर पति की कृपा और प्यार बना रहे और जो तन-मन से पति को समर्पित हो—

**'गुरुमुखि सदा सोहागणी पिरु राखिआ उरधारि।
मिठा बोलहि निवि चलहि सेजै रवै भतारु॥'**

(पृ. ३१)

तथा

**'से सहीआ सोहागणी जिन कउ नदरि करेइ।
खसमु पछाणहि आपणा तनु मनु आगै देइ॥'**

(पृ. ३८)

पतिव्रता—गुरुवाणी के अनुसार, सच्ची पतिव्रता स्त्री अपने पति की अनुपस्थिति में भी अपनी सखियों के साथ बातचीत में उसकी प्रशंसा करती है और उसकी याद में लीन रहती है—

**'आवहु भैणे गलि मिलह अंकि सहेलड़ीआह।
मिलि कै करह कहाणीआ संमथ कंत कीआह॥'**

(पृ. १७)

इसके विपरीत पति से विमुख और व्यभिचारिणी (पराए पुरुष के साथ संभोग करनेवाली) स्त्री को 'गुरु ग्रंथ साहिब' में 'कमजात' और 'कुलछिनी' तथा 'कुनारी' कहा गया है। ऐसी स्त्री सच, शर्म, संयम, सदाचार आदि जैसे उच्च गुणों की हकदार नहीं कहला सकती—

'खसमु विसारहि ते कमजात।'

(पृ. १०)

तथा

**'मनमुख मैली कामणी कुलखणी कुनारि।
पिरु छोडिआ घरि आपणा पर पुरखै नालि पिआरु॥'**

(पृ. ८९)

सती—मध्ययुग में विधवाओं की पारिवारिक और सामाजिक स्थिति बहुत दयनीय थी। वैधव्य के साथ अंधविश्वास और सामाजिक कलंक के कारण उन्हें उपेक्षा और तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाता था। इस अपमान से बचने के लिए अनेक विधवाएँ पति की चिता में ही जलकर सती हो जाती थीं, या समाज स्वयं उन्हें मृत पति के शव के साथ जलाकर सती बना देता था। मृत्यु के डर से यदि कोई विधवा सती होने से इनकार करती थी तो उसे बदचलन कहकर और ज्यादा अपमानित किया जाता था।

'गुरु ग्रंथ साहिब' के वाणीकारों ने सती प्रथा का जमकर विरोध किया और किसी स्त्री को जलकर मरने के लिए मजबूर करने को घोर अत्याचार कहा। गुरुवाणी के अनुसार, मजबूरी में पति की चिता के साथ जल मरनेवाली स्त्री सती नहीं। सती स्त्री तो पति के विरह की आग में हमेशा जलती है, और जो स्त्री मन से पति को अपना समझती ही नहीं, उसे चिता में जलने से क्या प्राप्त होगा? उसके लिए तो पति जिए या मरे, वह उससे दूर ही भागती है—

'कंता नालि महेलीआ सेती अगि जलाहि।
जे जाणहि पिरु आपणा ता तनि दुःख सहाहि।
नानक कंत न जाणनी से किउ अगि जलाहि।
भावै जीवउ कै मरउ दूरहु ही भजि जाहि॥'

(पृ. ७८७)

मित्र और शत्रु—मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। मित्रता एक उच्च सामाजिक संबंध है, जो निस्स्वार्थ, आपसी स्नेह और प्यार पर आधारित होती है। शत्रुता इसकी विपरीत स्थिति है, जो अहं और निजी स्वार्थों के टकराव के कारण पैदा होती है। मनुष्य की इन दोनों प्रवृत्तियों के बारे में 'गुरु ग्रंथ साहिब' में कई उल्लेख मिलते हैं। गुरु अमरदासजी का कथन है कि दुष्टों के साथ दोस्ती और सज्जन लोगों के साथ दुश्मनी करनेवाला व्यक्ति न केवल अपना बल्कि अपने पूरे कुटुंब का भी नाश करता है—

'दुस्टा नालि दोस्ती संता वैरु करंनि।
आपि डूबे कुटंब सिउ सगले कुल डोबंनि॥'

(पृ. ७५५)

नासमझ व्यक्ति के साथ दोस्ती कभी सफल नहीं होती, न ही ऐसी दोस्ती कभी स्थायी होती है। इस दोस्ती के टूटने में देर नहीं लगती और इसमें रोजाना अनेक विकार पैदा होते रहते हैं। अतः 'गुरु ग्रंथ साहिब' की वाणी नासमझ के साथ दोस्ती न करने की सलाह देती है—

'मनमुख सेती दोस्ती थोड़ड़िआ दिन चारि।
इसु परीति तुटदी विलमु न होवई,
इतु दोस्ती चलनि विकार॥'

(पृ. ५८७)

मनुष्य का एकमात्र सच्चा मित्र सिर्फ ईश्वर है, जो सर्वशक्तिशाली है और बुरे मित्रों तथा उनके दुष्ट प्रभावों से बचाने की सामर्थ्य रखता है—

**'नानक मित्राई तिसु सिउ, सभ किछु जिस कै हाथि।
कुमित्रा सेई कांढीअहि, इक व्रिख न चलहि साथि॥'**

(पृ. ३१८)

पराई स्त्री के साथ अनैतिक संबंध—'गुरु ग्रंथ साहिब' में अगर स्त्री के लिए सत्य, शील की रक्षा और मन, वचन तथा कर्म से पवित्र होने का विधान किया गया है तो पुरुषों के लिए भी अपनी स्त्री के अलावा किसी अन्य स्त्री के साथ अनैतिक संबंध स्थापित करने को एकदम वर्जित करार दिया गया है। पराई स्त्री के साथ अनैतिक संबंध को गुरु अर्जनदेव ने साँप की संगति करने के समान बताया है—**'जैसा संगु बिसीअर सिउ है रे तैसो ही इहु परग्रिहु।'** और तो और, चोरी-छिपे पराई स्त्री की ओर देखना भी पाप माना गया है और गुरुवाणी के अनुसार, ऐसा करनेवाले पुरुष को कोल्हू में तिल की तरह पीसा जाता है—

**'तकहि नारि पराईआ लुकि अंदरि ठाणी।
अज़राईलु फरेसता तिल पीड़े घाणी॥'**

(पृ. ३१५)

'गुरु ग्रंथ साहिब' को लिपिबद्ध करनेवाले भाई गुरदास अपनी वाणी में पराई स्त्री को माँ, बहन और बेटी समझने का उपदेश देते हैं और कहते हैं कि मैं उस पुरुष पर बलिहार जाता हूँ जो पराई स्त्री से दूर रहते हैं—

'देख पराईआ चंगीआ मावाँ भैणाँ धीआ जाणै।'

तथा

'हउ तिसु घोलि घुमाइआ पर नारी के नेड़ि न जावै।'

भिक्षावृत्ति—वर्तमान युग की तरह गुरुओं के जीवनकाल में भी समाज में आम भिखारियों के अलावा ऐसे अनेक पाखंडी साधु, जोगी और संन्यासी भरे पड़े थे जो स्वयं को गुरु और पीर कहते तथा कहलवाते थे, लोगों से अपने पाँव पर माथा टिकवाते थे और माँगकर खाते थे। सिख गुरुओं ने सदा मेहनत की कमाई करने, खाने और उस कमाई का कुछ हिस्सा जरूरतमंद लोगों के

लिए निकालने **(घालि खाइ किछु हथहु देइ)** का उपदेश दिया और उसपर स्वयं भी अमल किया। अत: गुरुओं ने माँगकर खानेवालों की कड़ी आलोचना की। नानकजी ने घर-घर भीख माँगनेवालों को 'निर्लज्ज' कहा—**'घरि-घरि माँगत लाज न लागै।'** गुरुवाणी यहाँ तक आदेश देती है कि जो व्यक्ति गुरु और पीर होने का दावा करता है और तिसपर माँगकर खाता है, ऐसे नीच व्यक्ति का कभी भी चरण स्पर्श नहीं करना चाहिए—

'गुरु पीरु सदाए मंगण जाइ।
ता कै मूलि न लगीऐ पाइ॥'

(पृ. १२४५)

बुजुर्गों का सम्मान—माँ-बाप बच्चों को पाल-पोसकर बड़ा करते हैं, उन्हें अच्छी-से-अच्छी शिक्षा-दीक्षा देकर स्वावलंबी बनाते हैं। बदले में संतान का भी यह परम कर्तव्य है कि वह अपने बड़े-बुजुर्गों का पूर्ण सम्मान करे। पुत्र द्वारा पिता के साथ झगड़ा और उसका अपमान करने को महापाप माना गया है—

'काहे पूत झगरत हउ संगि बाप।
जिन के जणे बडीरे तुम हउ, तिन/सिउ झगरत पाप॥'

(पृ. १२००)

परोपकार—'गुरु ग्रंथ साहिब' में परोपकार को बहुत ऊँचा स्थान दिया गया है। 'सुखमनी' में गुरु अर्जनदेव ने **'मिथिआ तन नही परउपकारा'** कहकर उस व्यक्ति का जीना व्यर्थ बताया है जिसने जीवन में कभी कोई परोपकार नहीं किया। परोपकार केवल कर्म (दान, सेवा इत्यादि) से ही नहीं बल्कि मन से भी होता है। गुरुवाणी का स्पष्ट कथन है कि जो प्राणी अहित की बजाय सबके हित की सोचता है, वह सभी दु:खों और कष्टों से मुक्त रहता है—

'पर का बुरा न राखहु चीत।
तुम कउ दुखु नही भाई मीत॥'

(पृ. ३८६)

दया, करुणा—'गुरु ग्रंथ साहिब' में सभी जीवों को समान और एक ही परमात्मा से उत्पन्न माना गया है। अत: किसीको दु:ख देना या कष्ट पहुँचाना खुद अपने आपको पीड़ा पहुँचाने के समान है। सच्चा धार्मिक व्यक्ति वही है जो किसीको दु:ख नहीं देता और इस प्रकार दया-धर्म का पालन करता है—

'दूखु न देई किसै जीअ, पति सिउ घर जावउ।'

(पृ. ३२२)

विनम्रता—संसार के सभी महापुरुषों ने विनम्रता को मनुष्य का सबसे पहला परम आवश्यक गुण और जीवन में सफलता की कुंजी माना है। 'गुरु ग्रंथ साहिब' में विनम्रता को समाज के नैतिक नियम के रूप में स्वीकार किया गया है तथा उसके लिए अकसर कई जगह 'गरीबी' शब्द इस्तेमाल किया गया है। विनम्र व्यक्ति न केवल इस लोक में निडर और जीवन की चिंताओं से मुक्त रहता है, बल्कि परलोक में भी सुख प्राप्त करता है—

'करि किरपा जिस कै हिरदै गरीबी बसावै।
नानक ईहा मुक्तु आगै सुखु पावै॥'

(पृ. २७८)

सेवा—सिख धर्म और चिंतन में सेवा सिर्फ एक क्रिया नहीं बल्कि संपूर्ण जीवन शैली है। स्वयं सिख गुरुओं ने निष्काम सेवा की अमूल्य कमाई करके गुरु की उच्च और उदात्त पदवी प्राप्त की। सेवा से अहंकार समाप्त होता है, मन में विनम्रता आती है और व्यक्ति लोक तथा परलोक में सम्मान पाता है—

'आप गवाए सेवा करे ता किछ पाए मान।'

(पृ. ४७४)

सिख विचारधारा में सेवा का दायित्व और दायरा बहुत व्यापक है—गुरु की सेवा, संगत की सेवा, माता-पिता की सेवा, पीड़ितों, अनाथों, अपाहिजों और गरीबों की सेवा। मनुष्यमात्र की सेवा आध्यात्मिक आनंद की पहली सीढ़ी है। सुखमनी में गुरु अर्जनदेव स्पष्ट शब्दों में फरमाते हैं कि निस्स्वार्थ भाव से सेवा करनेवाले व्यक्ति को ईश्वर प्राप्त होता है—

'सेवा करत होए निहकामी।
तिस कउ होत परापति सुआमी॥'

(पृ. २८६-८७)

दान—अपनी नेक अर्थात् परिश्रम द्वारा अर्जित की गई कमाई में से गरीब और जरूरतमंद लोगों की मदद के लिए कुछ हिस्सा निकालना सेवा का ही दूसरा रूप है। गुरु अर्जनदेव का कथन है कि जो प्राणी अपनी नेक कमाई दूसरों के साथ मिल-बाँटकर खाते और खर्चते हैं उनके जीवन में कभी अभाव नहीं आता, बल्कि उनका खजाना हमेशा बढ़ता जाता है—

'खावहि खरचहि रलि मिलि भाई।
तोटि न आवै वधदो जाई॥'

'गुरु ग्रंथ साहिब' में भूखे व्यक्ति को भोजन खिलाने के कार्य को पुराणों का पाठ बाँचने और सुनने से भी अधिक महत्त्व दिया गया है—

'तै नर किआ पुरानु सुनि कीना।
अनपावनी भगति नही उपजी, भूखै दानु न दीना॥'

(पृ. १२५३)

कोई भी दान-पुण्य निष्फल या बेकार नहीं जाता। 'आसा दी वार' में नानकजी स्पष्ट फरमाते हैं कि इस जन्म में परिश्रम की कमाई में से दिए गए दान का फल अगले जन्म में अवश्य मिलता है—

'नानक अगै सो मिलै जे खटे घालै देइ।'

(पृ. ४७२)

शोषण—मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण की अमानवीय प्रवृत्ति की गुरुवाणी में जमकर आलोचना की गई है। नानकजी ने तो इसे मानव का खून पीने की राक्षसी प्रवृत्ति के समान बताया और कहा कि शोषण करनेवाले मनुष्य का हृदय कभी पवित्र नहीं हो सकता—

'जो रतु पीवहि माणसा तिन किउ निरमलु चीतु।'

(पृ. १४०)

परनिंदा—अपनी प्रशंसा और दूसरे की निंदा मनुष्य का सहज स्वभाव है। इसके बावजूद 'गुरु ग्रंथ साहिब' में निंदा को एक घृणित कार्य माना गया है तथा इसे सदाचारहीनता की पराकाष्ठा कहा गया है। निंदक व्यक्ति सब जगह दुत्कारे जाते हैं। निंदक न केवल खुद नरक का भागीदार होता है, बल्कि उसके संगी-साथी भी उसके साथ नरक भुगतते हैं। नरक में उसे अग्नि में जलाया जाता है। जलन की पीड़ा से वह चीखता, चिल्लाता है; लेकिन उसपर प्रभु की कृपा कभी नहीं होती—

**'अरढ़ावै बिललावै निंदकु।
पारब्रह्म परमेसरु बिसरिआ अपणा कीता पावै निंदकु।
जे कोई उसका संगी होवे नाले लए सिधावै।
अणहोदा अजगरु भारु उठाए निंदकु अग्नि माहि जलावै॥'**

(पृ. ३७३)

चुगली—गुरुवाणी में स्पष्ट हिदायत दी गई है कि चुगली करनेवाले व्यक्ति के सभी पुण्य इस एक दुर्गुण अर्थात् चुगलखोरी के कारण नष्ट हो जाते हैं। वह दूसरों के खिलाफ झूठी बातें कहता है, इसलिए उसका मुँह काला होता है—

**'जिसु अंदरि चुगली चुगलो वजै,
कीता करतिआ उस दा सभु गइआ।**

नित चुगली करे अणहोदी पराई,
मुहु कढि न सकै उस दा काला भइआ॥'

(पृ. ३०८)

गरीब को दुत्कारना—ईश्वर के हुक्म (इच्छा) से इस संसार में कोई व्यक्ति अमीर पैदा होता है और कोई गरीब। लेकिन धन-दौलतवाले व्यक्ति को यह अधिकार कतई नहीं कि वह निर्धन को दुत्कारे, फटकारे और उसका अपमान करे। गुरुवाणी के अनुसार, जो व्यक्ति गरीब का अपमान करते हैं, ईश्वर उन्हें कठोर सजा देता है—

'गरीबा ऊपरि जि खिंजै दाढ़ी।
पारब्रह्म सा अग्नि महि साढ़ी॥'

(पृ. १९९)

झूठी गवाही—स्वार्थी लोगों द्वारा धन के लालच में अकसर झूठी गवाही देना वर्तमान काल की तरह मध्य काल में भी एक सामान्य बात थी। झूठी गवाही देना एक बहुत बड़ा पाप है, क्योंकि इससे असली अपराधी छूट जाता है और निरपराध व्यक्ति फँस जाता है। इस नीच कार्य को 'गुरु ग्रंथ साहिब' में अविवेकपूर्ण कहकर इसकी सख्त आलोचना की गई है—

'लै कै वढि देनि उगाही, दुरमति का गलि फाहा हे।'

(पृ. १०३२)

रिश्वत—रिश्वत लेना अनैतिक ही नहीं, अन्यायकारी भी है; क्योंकि रिश्वतखोर व्यक्ति कभी भी सत्य के आधार पर न्याय का निर्णय नहीं करेगा। 'गुरु ग्रंथ साहिब' में रिश्वतखोरी की कड़ी निंदा की गई है और रिश्वत खानेवाले को मनुष्य खानेवाला (नरभक्षी) एवं दूसरों के गले पर छुरी चलानेवाला (कसाई) कहा गया है—

'माणसखाणे करहि निवाज।
छुरी वगाइनि तिन गलि ताग॥'

(पृ. ४७१)

लड़ाई-झगड़ा—मनुष्य के लिए लड़ाई-झगड़ा बहुत बुरी बात मानी गई है। झगड़ने से न केवल क्रोध बढ़ता है और मानसिक अशांति पैदा होती है, बल्कि इससे आपसी दुश्मनी और सामाजिक तनाव भी पैदा होता है। इसलिए गुरुवाणी में कुवचन बोलने और लड़ाई-झगड़े से बचने की हिदायत दी गई है—

'मंदा किसै न आखि झगड़ा पावणा।'

(पृ. ५६६)

राजनीतिक पक्ष

'गुरु ग्रंथ साहिब' के वाणीकार गुरुओं और संतों-भक्तों के जीवनकाल में राजनीतिक अराजकता का बोलबाला था। उस समय की राजनीतिक स्थिति कौटिल्य के विधान से एकदम विपरीत थी, जिसमें राज्य के कल्याणकारी और प्रजा के लिए राजा के पिता समान होने की बात कही गई थी। लेकिन नानक की वाणी के अनुसार, वह काल तलवार समान तथा शासक कसाई समान थे। दुनिया से धर्म मानो पंख लगाकर उड़ गया था **(कलि काति, राजे कसाई, धरम पंख करि उडि रिआ)**। शासकों और उनके कर्मचारियों की निरंकुश अत्याचारवाली दुष्ट प्रवृत्ति से नानकजी ने तत्कालीन राजाओं को खूँखार शेर और उनके लालची अधिकारियों को कुत्ते तक कहने का साहस किया, जो प्रजा का संरक्षण करने की बजाय उसे नोच-नोचकर खा रहे थे **(राजे सीह मुकदम कुत्ते, जाइ जगाइनि बैठे सुते)**। सोलहवीं शताब्दी में आक्रमणकारी बाबर की सेनाओं ने काबुल की ओर से आकर पंजाब में अत्याचार की काली आँधी चलाई। मासूम बच्चों सहित हजारों स्त्री-पुरुषों की हत्या कर दी गई। गुरु नानक ने ये सब अत्याचार अपनी आँखों से देखे। उनका कोमल दिल रो उठा और उन्होंने ईश्वर तक की आलोचना करते हुए करुण शब्दों में कहा—निर्बलों पर इतने जुल्म हुए, क्या तुम्हें इनपर जरा भी रहम नहीं आया। यदि कोई बलवान् दूसरे बलवान् पर आक्रमण करे तो कोई बात नहीं; परंतु यदि कोई भयानक शेर कमजोर भेड़ों और गऊओं पर टूट पड़े, जैसे बाबर पंजाब के निर्बल लोगों पर टूट पड़ा है, तो तुम अपनी जवाबदेही से बच नहीं सकते। बाबर के जालिम सैनिकों ने कुत्तों की तरह बर्बर कृत्य किए हैं और इन संवेदनाहीन सैनिकों के लिए इनसान की जान की कोई कद्र-कीमत नहीं है—

'एती मार पई करलाणे तैं की दर्द न आइआ।
करता तूँ सबना का सोई।
जे सकता सकते कउ मारि ता मनि रोसु न होई।
सकता सीहु मारे पै वग्गे, खसमै सा पुरसाई।
रतन बिगाड़ि बिगोए कुत्ती मुइआ सार न काई...''

(पृ. ३६०)

सन् १५२४ में बाबर ने पंजाब पर चौथे आक्रमण के समय लाहौर शहर पर जो कहर बरपाया, उसका भी नानकजी ने अपनी वाणी में जिक्र किया है—

'लाहौर सहरु जहरु कहरु सवा पहरु।'

(पृ. १४१२)

सत्ता और शक्ति के नशे में चूर हुए बाबर और उसके सैनिकों ने बेबस स्त्रियों की इज्जत को पाँवों

तले रौंद डाला और उन्हें बंदी बनाकर ले गए। स्त्रियों का रूप और यौवन ही उनका वैरी हो गया—

'धनु जोबनु दुइ वैरी होए जिनी रखे रंगु लाइ।
दूता नो फुरमाइआ लै चलै पति गवाइ॥'

(पृ. ४१७)

अनेक औरतों के बुरके सिर से पाँव तक फट गए। कई औरतें हमले में मर गईं। अनेक विधवा हो गईं। उनके रणबाँकुरे पति रात को घर वापस नहीं लौट सके। इन स्त्रियों की तरस योग्य हालत को नानकजी ने कल्पना से परे कहा—

'इक हिंदवाणी अवर तुरकाणी भटि आई ठकुराणी।
इकना पेरण सिर खुर पाटे इकना वासु मसाणी।
जिन के बँके घरी न आइआ तिनु किउ रैणि विहाणी॥'

(पृ. ४१८)

प्रजा को न राजनीतिक सूझबूझ थी और न कोई अन्य ज्ञान। प्रजा की इसी अज्ञानता के कारण शासक उसपर अत्याचार करते थे और वह (प्रजा) दु:ख भोग रही थी—

'अंधी रयति गिआन विहूणी भाहि भरे मुरदारु।'

(पृ. ४६९)

देश में अन्याय प्रधान था। इनसाफ का मंदिर कहे और समझे जानेवाले न्यायालयों में नाइनसाफी और भ्रष्टाचार का बोलबाला था। काजी रिश्वत लेकर सच को झूठ और झूठ को सच साबित कर देते थे। अगर कोई उनके फैसले को चुनौती देता था तो वे कुरान की आयतें पढ़कर सुना देते थे—

'काजी होइ कै बहि निआइ फेरे तस्बी करे खुदाइ।
वढी लै के हकु गवाए जे को पुछे ता पढ़ि सुणाए॥'

(पृ. ९५१)

इतिहास गवाह है कि मध्यकालीन मुगल शासन व्यवस्था में अनेक शासकों ने तलवार और जुल्म-जबरदस्ती के जोर पर सत्ता हासिल की। सिख गुरुओं ने इस तरह के शासकों और उनकी राज व्यवस्था की कड़ी आलोचना की और स्पष्ट कहा कि राजगद्दी (तख्त) पर केवल उसी व्यक्ति को बैठने का अधिकार है जो उसके लायक हो और जिसे सच तथा झूठ और न्याय तथा अन्याय के बारे में वास्तविक ज्ञान हो—

'तख्ति राजा से बहै जि तख्तै लाइक होई।
जिनि सचु पछाणिआ सचु राजे सेई॥'

(पृ. १०८८)

'गुरु ग्रंथ साहिब' की वाणी यह भी घोषणा करती है कि राजा को शासन योग्य केवल तब तक माना जाना चाहिए जब तक प्रजा उसकी ताकत को माने और उसके अधीन अपने आपको सुरक्षित महसूस करे। अगर पंचायत की दृष्टि में राजा पतित हो जाए या उसे पापी अथवा अविश्वसनीय घोषित कर दिया जाए तो उसे सिंहासन पर बने रहने का कोई अधिकार नहीं—

'राजा तख्ति टिकै गुणी भै पंचाइण रतु।'

(पृ. ९९२)

राजकाज के लिए पंचायती राज व्यवस्था और विवादों के सौहार्दपूर्ण एवं शांतिपूर्ण समाधान के लिए पंच-निर्णय की व्यवस्था भारत में प्राचीन काल से चली आ रही है। भारतीय समाज में पंच को परमेश्वर तक का उच्च दरजा और सम्मान दिया गया है। 'गुरु ग्रंथ साहिब' में न केवल पंचायती राज व्यवस्था का समर्थन किया गया है, बल्कि यहाँ तक कहा गया है कि पंच (समाज में) प्रधान हैं, राजदरबार में उनकी शोभा होती है और ईश्वर के दरबार में वे सम्मान पाते हैं—

'पंच परवाण पंच परधान।
पंचे पावहि दरगहि मानु।
पंचे सोहहि दरि राजानु॥'

(पृ. ३)

राजा में शासकीय निपुणता के साथ आध्यात्मिक और धार्मिक गुण होना भी आवश्यक है। केवल तभी वह सहिष्णु, दयालु और न्यायप्रिय होगा। नानकजी का स्पष्ट वचन है कि चाहे कोई ताज, कुल्लेदार पगड़ी और छत्र धारण कर ले, चाहे वह स्वयं को 'खान' (पठान सरदार), 'मलिक' (हिंदू और मुसलिम सरदार) या 'राजा' कहलवाता फिरे; लेकिन गुरु के बिना उसकी सारी शान-शौकत बेकार है—

'ताज कुलह सिरि छत्र बनावउ।
बिनु जगदीस कहा सचु पावउ॥
खानु मलूकु कहावउ राजा।
अबे तबे कूड़े है पाजा॥
बिनु गुर शबद न सवरसि काजा॥'

(पृ. २२५)

आर्थिक पक्ष

'गुरु ग्रंथ साहिब' में दर्ज भक्त कबीर की वाणी के अनुसार, **'भूखे भगति न कीजै'**

अर्थात् भूखे पेट भक्ति करना असंभव है। भूख एक आर्थिक समस्या है, जो आज की तरह मध्यकाल में भी विद्यमान थी। देश छोटे-छोटे राज्यों में बँटा हुआ था, समाज जातियों और वर्णों में बँटा हुआ था। इन स्थितियों का फायदा उठाकर विदेशी आक्रमणकारी अकसर भारत पर आक्रमण करके यहाँ की धन-संपत्ति लूट ले जाया करते थे। इससे देश में कभी भी आर्थिक प्रगति नहीं हो सकी। बाबर के हमले ने तो बड़ी-बड़ी जायदादों के मालिकों को मिट्टी में मिला दिया और उनके बच्चों को रोटी के एक-एक टुकड़े के लिए मोहताज बना दिया; जैसाकि नानकजी के इस कथन से स्पष्ट है—

'साहाँ सुरति गवाइआ रंगि तमासै चाइ।
बाबरवाणी फिरि गई कुइरु न रोटी खाइ॥'

(पृ. ४१७)

देश की इस शोचनीय आर्थिक हालत, समाज में व्याप्त अमीरी-गरीबी, आर्थिक लूट-खसूट और शोषण, आजीविका के तत्कालीन प्रचलित साधनों और व्यवसायों को वाणीकार गुरुओं एवं संतों-भक्तों ने सूक्ष्मता से देखा और महसूस किया तथा एक ऐसी आदर्श आर्थिक व्यवस्था कायम करने का उपदेश दिया जिसमें लूट-खसोट और शोषण की बजाय व्यक्ति अपनी मेहनत से कमाए और खून-पसीने की कमाई में से कुछ हिस्सा (गुरु गोबिंद सिंह के निर्देशानुसार, आय का कम-से-कम दसवाँ अंश) गरीबों और जरूरतमंद लोगों की सहायतार्थ दान-पुण्य करे—

'घाल खाए किछु हथि देइ। नानक राह पछाणहि सेइ॥'

'गुरु ग्रंथ साहिब' की वाणी में अनेक स्थान पर तत्कालीन आर्थिक व्यवस्था का चित्रण मिलता है। श्रीराग में उच्चरित वाणी में गुरु नानक स्पष्ट बताते हैं कि व्यापार में झूठ, फरेब, छल, कपट एक आम बात थी और व्यापारी लोग झूठ की ही कमाई खाते थे—

'कूढ़ी रासि कूढ़ा वापारु।
कूढ़ु बोलि करहि आहारु॥'

(पृ. ४७१)

आर्थिक रूप से मध्यकालीन समाज दो श्रेणियों में बँटा हुआ था—अमीर और गरीब। ज्यादा धन थोड़े से अमीरों की जेब में चला जाता था और थोड़ा धन बहुत गरीबों के हिस्से आता था। अमीर भोग-विलास में डूबे हुए थे तो गरीब कर्ज के बोझ से दबे हुए थे और रोटी के लिए तरसते थे। अमीर इस बात से चिंतित था कि कहीं उसका धन चोरी न हो जाए, तो गरीब अभाव के कारण चिंतित था—

'जिसु ग्रिहि बहुतु तिसै ग्रिहि चिंता।
जिसु ग्रिहि थोरी सु फिरै भ्रमंता।
दुहू विवस्था ते जो मुक्ता सोइ सुहेला भालीऐ॥'

(पृ. १०१९)

अमीर घमंडी हो चुके थे और गरीब मायूस तथा निराश। कुछ मदद पाने की उम्मीद में गरीब अगर किसी अमीर के पास जाता था तो वह (अमीर) उससे पीठ फेर लेता था। कबीरजी का कथन है—

'जउ निरधनु सरधन कै जाइ।
आगे बैठा पीठि फिराइ॥'

(पृ. ११५९)

तत्कालीन मुगल राज में कर (टैक्स) प्रणाली घोर भेदभावपूर्ण थी। हिंदुओं को उत्पीड़ित करने के लिए उनके धार्मिक कार्यों पर कर (जजिया) वसूल किया जाता था। 'आसा दी वार' में उल्लेख आता है कि नदी पार करने के लिए भी ब्राह्मण और उसकी गाय पर कर लगाया जाता था। यहाँ तक कि देवताओं और मंदिरों पर भी कर लगता था—

'देवल देवतिआ करु लागा ऐसी कीरति चाली।'

(पृ. ११९१)

उस समय भी खेतीबाड़ी प्रमुख आर्थिक व्यवसाय और आजीविका का मुख्य साधन थी। इसमें भी दो श्रेणियाँ थीं—जमींदार और किसान। पहला पूँजीपति एवं शोषक था और दूसरा गरीब एवं शोषित, जो जमींदार की जमीन पर खेती करता था। हर फसल पर जमींदार को जमीन का कर चुकाने के लिए किसान को समय पर फसल काटनी ही पड़ती थी, चाहे फसल कच्ची हो या पकी—

'जैसे किरसाणु बोवै किरसानी।
काचि पकी बाढि परानी॥'

(पृ. ३७५)

अर्थशास्त्र में कृषि के बाद व्यापार को प्रमुख आर्थिक गतिविधि माना गया है। व्यापारिक प्रणाली में एक बड़ा व्यापारी होता है जिसके आगे कई छोटे व्यापारी होते हैं। बड़े व्यापारी का गोदाम माल से भरा रहता है, लेकिन किसी विश्वस्त व्यक्ति की सिफारिश पर ही वह अपना माल बिक्री के लिए छोटे व्यापारी को देता है। आर्थिक क्षेत्र के इस भौतिक यथार्थ का 'गुरु ग्रंथ साहिब' में बहुत सुंदर आध्यात्मिक रूपांतरण किया गया है। इसमें बड़ा व्यापारी ईश्वर है और जीव छोटे व्यापारी। बिचौला गुरु है और प्रभु का नाम बड़े व्यापारी का माल है—

'मनु मंदरु तनु साजी बारि।
इस ही मधे बसतु अपार॥
इस ही भीतरि सुनीअत माहु।
कवनु बापारी जा का ऊहा विसाहु॥
नाम रतन को को बिउहारी।
अंमृत भोजन करे आहारी॥
मनु तनु अरपी सेव करीजै।
कवन सु जुगति जितु करि भीजै॥
पाइ लगउ तजि मेरा तेरै।
कवनु सु जनु जो सउदा जोरै॥
महलु साह का किन बिधि पावै।
कवन सु बिधि जितु भीतरि बुलावै॥
तूँ वड साहु जा के कोटि वणजारे।
कवनु सु दाता ले संचारे॥'

(पृ. १८०-८१)

जो व्यक्ति धर्म के मार्ग पर चलते हुए ईमानदारी से प्राप्त की गई धनराशि से व्यापार करता है, उसका व्यापार दिन-रात फलता-फूलता है और उसकी कमाई भी सची होती है—

'सचा साहु सचे वणजारे। सचु वणंजहि गुर हेति अपारे॥
सचु विहाझहि सचु कमावहि सचो सचु कमावणिआ॥'

(पृ. ११७)

निठल्ले लोगों द्वारा उदरपूर्ति और विलासिता के लिए चोरी करने और जुआ खेलने की आदत की गुरुवाणी में कड़ी निंदा की गई है। ये दुष्कर्म इनसान की नैतिक गिरावट के प्रतीक हैं। नानकजी के अनुसार, चोर और जुआरी मृत्यु के बाद घानी में पीसे जाने की भयंकर सजा के भागीदार होते हैं—

'चोर जार जूआर पीढ़े घाणीऐ।'

(पृ. १२८८)

इन चार प्रमुख पक्षों के अलावा 'गुरु ग्रंथ साहिब' में प्रकृति और पर्यावरण तथा सांस्कृतिक जीवन का भी अनेक स्थान पर उल्लेख मिलता है। आज दुनिया में पवन (वायु), जल और धरती पर आए दिन घातक प्रहार हो रहे हैं। कुदरत की इन सबसे बड़ी और मूल्यवान् देनों के अस्तित्व

पर खतरा मँडरा रहा है। अत: दुनिया के सभी वैज्ञानिक, सरकारें तथा संस्थाएँ धरती, वायु व जल को बचाने की अपीलें तथा आह्वान कर रहे हैं। पर गुरु नानक ने तो पाँच सौ वर्ष पूर्व पवन को गुरु, पानी को पिता एवं धरती को माता का सर्वोच्च सम्मानजनक दरजा देकर मानव जाति के लिए मानो यह अमर संदेश छोड़ दिया था कि इनका सम्मान तथा संरक्षण भी तुम्हें वैसे ही करना है जैसे माँ, बाप और गुरु का—

'पवन गुरु पाणी पिता माता धरति महतु।
दिवसु राति दुइ दाई दाइआ खेलै सगल जगतु॥'

(जपुजी)

कालगणना में दो महीनों की एक ऋतु और छह ऋतुओं का एक वर्ष माना गया है। 'गुरु ग्रंथ साहिब' में भी सभी छह ऋतुओं और बारह देशी महीनों (बारहमाह) का उल्लेख हुआ है और हर महीने के उल्लेख में उस समय के आध्यात्मिक वातावरण का भी जिक्र किया गया है। उदाहरण के लिए, ज्येष्ठ-आषाढ़ की ग्रीष्म ऋतु में जब धूप और गरमी अपने चरम शिखर पर होती है, जीवात्मा प्रभु रूपी पति के वियोग में तड़पती और व्याकुल होती है—

'ग्रीख्म रुति अति गाखड़ी जेठ अखाड़ै घाम जीउ।
प्रेम बिछोहु दुहागड़ी दृस्टि न करी राम जीउ॥'

(पृ. १२८)

ऋतुओं के उपर्युक्त क्रमवार वर्णन के अतिरिक्त वर्षा और वसंत ऋतु का 'गुरु ग्रंथ साहिब' में विशेष एवं अत्यंत मनमोहक वर्णन हुआ है। राग गउड़ी माझ में उच्चरित निम्नलिखित शबद में गुरु रामदास फरमाते हैं कि सावन की फुहार पड़ते ही मानो चारों ओर अमृत बरस जाता है, मन रूपी मोर कूकने लगता है, भक्त रूपी चात्रिक (चकवे) के मुँह में नाम रूपी स्वाति बूँद पड़ जाती है और उसे सहज ही प्रभु की प्राप्ति हो जाती है—

'सावणि वरसु अमृंतु जगु छाइआ जीउ।
मनु मोरु कुहुकिअड़ा सब्दु मुखि पाइआ।
हरि अंमृत वुठढ़ा मिलिआ हरि गाइआ जीउ।
जन नानक प्रेमि रतंना॥'

(पृ. १७३)

सभी ऋतुओं में वर्षा ऋतु का सबसे अधिक आर्थिक महत्त्व है। किसान की सारी मेहनत का फल वर्षा ऋतु पर निर्भर करता है। वर्षा अच्छी हो तो अनाज, कपास आदि की फसल भी भरपूर होती है। धरती पर वर्षा का पानी पड़ता है तो गाय-भैंसों के लिए घास-फूस का चारा भी पर्याप्त मात्रा

में पैदा होता है और दूध-दही, घी-मक्खन पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होने की संभावना प्रबल हो जाती है। संक्षेप में कहा जाए तो इनसान की आजीविका और अस्तित्व दोनों वर्षा ऋतु पर निर्भर करते हैं। 'गुरु ग्रंथ साहिब' में वर्षा के इस महत्त्वपूर्ण पहलू का भी बहुत सुंदर वर्णन हुआ है—

'वुठै (वर्षा होने पर) होइअै होइ बिलावलु जीआ जुगति समाणी।
वुठै अंनु कमादु कपाहा सभसै पड़दा होवै।
वुठै घाहु चरहि निति सुरही साधन दही बिलोवै॥'

(पृ. १५०)

इसी प्रकार वसंत ऋतु का भी आध्यात्मिक संदर्भ में कई जगह वर्णन हुआ है। गुरु अमरदास का कथन है कि जो प्राणी सदा गुरु की शिक्षा पर मनन करता है और हरदम ईश्वर का स्मरण करता है उसका जीवन सदा वसंत ऋतु की तरह प्रफुल्लित रहता है—

'सदा बसंतु गुर सब्दु वीचारे।
राम नामु राखै उरधारे॥'

(पृ. ११७३)

जिस प्रकार वसंत ऋतु के आने पर वनस्पतियाँ खिल उठती हैं उसी प्रकार प्रभु-परमात्मा में अपना ध्यान लगाने पर जीव के मन में आनंद छा जाता है—

'बसंतु चढ़िआ फूली बनराइ।
एहि जीअ जंत फूलहि हरि चितु लाइ॥'

(पृ. ११७७)

प्रकृति के वनस्पति वर्णन में चंदन का काफी गुणगान किया जाता है; क्योंकि वह अपने संपर्क में आनेवाली प्रत्येक वस्तु को सुगंधित कर देता है। संभवत: उसके इसी गुण के कारण आध्यात्मिक काव्य के रचनाकारों ने साधु की उपमा अकसर चंदन से दी है। गुरु अर्जनदेव का कथन है कि जिस प्रकार आरिंड और पलाश जैसे मामूली और सुगंधरहित वृक्ष भी चंदन के संपर्क में आकर सुगंधित हो जाते हैं, उसी प्रकार संत-महात्मा की शरण में आने पर पापी भी निर्मल हो जाता है—

'हरि हरि नामु सीतल जलु धिआवहु,
हरि चंदन वासु सुगंध गंधईआ।
मिलि सत संगति परम पदु पाइआ,
मै हिरड पलास संगि हरि बुहीआ॥'

(पृ. ८३४)

पशु-पक्षियों के स्वभाव को माध्यम बनाकर मानव स्वभाव के गुण-अवगुणों का चित्रण भी 'गुरु

ग्रंथ साहिब' में कई जगह मिलता है। उदाहरण के लिए, राग सुही में उच्चरित एक शबद में गुरु अमरदास बताते हैं कि जिस प्रकार साँप को दूध पिलाने पर भी उसका जहर समाप्त नहीं होता, उसी प्रकार दुष्ट स्वभाववाला व्यक्ति साधु जनों की संगति में आकर भी अपना बुरा स्वभाव नहीं बदलता—

'सपै दुधु पीआईऐ अंदरि विसु निकोर।'

(पृ. ७५५)

सांस्कृतिक पक्ष में देश के विभिन्न पर्वों और त्योहारों, खेल-कूद एवं मनोरंजन के साधनों, पहनावे आदि का उल्लेख भी 'गुरु ग्रंथ साहिब' में विभिन्न आध्यात्मिक संदर्भों में मिलता है। प्राचीन काल से ही पर्व और त्योहार भारतीय सांस्कृतिक जीवन का अभिन्न अंग रहे हैं। पर्व-त्योहार न केवल उनसे जुड़े दिव्य पुरुषों की शिक्षाओं को पुन: याद करने और उनपर अमल करने का संकल्प लेने का अवसर प्रदान करते हैं बल्कि सामाजिक एकता और मेल-मिलाप को भी बढ़ावा देते हैं। अधिकांश त्योहारों का 'गुरु ग्रंथ साहिब' में आदर्शीकरण किया गया है। उदाहरण के लिए, वसंत के पर्व को आदर्श रूप देते हुए गुरु अंगददेव का कथन है कि वसंत का पर्व तो केवल उन स्त्रियों के लिए आनंदमय है जिनके पति उनके साथ हैं। जिन स्त्रियों के पति विदेश में हैं, वे (वसंत ऋतु में भी) दिन-रात विरह की आग में जलती हैं—

'नानक तिना बसंतु है जिनि घर वसिआ कंतु।
जिन के कंत दिसापुरी से अहनिसि फिरहि जलंत॥'

(पृ. ७९१)

इसी प्रकार रंग-गुलाल के पर्व होली का भी गुरुवाणी में उल्लेख आया है। गुरु अर्जनदेव का कथन है कि संत की सेवा ही सच्ची होली है—

'होली कीनी संत सेव रंगु लागा अति लाल देव।'

(पृ. ११८०)

गुरु से प्राप्त होनेवाले ज्ञान को 'गुरु ग्रंथ साहिब' में बहुत ऊँचा स्थान दिया गया है। गुरु नानकदेव फरमाते हैं कि गुरु-ज्ञान में न केवल तीर्थयात्रा जैसा महत्त्व है, बल्कि यह दस पर्व (अष्टमी, चौदस, अमावस, पूर्णिमा, संक्रांति, उत्तरायण, दक्षिणायण, सूर्य ग्रहण, चंद्र ग्रहण, व्यतिपात) और दशहरा (विजयादशमी) भी है—

'गुर गिआनु साचा थानु तीरथु दस पुरब सदा दसाहरा।'

(पृ. ६८७)

□

प्रमुख वाणियाँ

'गुरु ग्रंथ साहिब' का संपादन करते समय गुरु अर्जनदेव ने वाणी को बहुत ही सुव्यवस्थित ढंग से क्रमबद्ध किया। सर्वप्रथम गुरुजी ने स्वयं अपने पवित्र हाथों से ग्रंथ साहिब के प्रथम पृष्ठ पर मूल मंत्र (जपुजी का प्रारंभिक अंश) **'१ॐ सतिनामु करता पुरखु निरभउ निरवैरु अकाल मूरति अजूनि सैभं गुर प्रसादि'** लिखा। इसके बाद सारी वाणी भाई गुरदास ने लिपिबद्ध की। जपुजी के बाद 'सोदर' शीर्षक के अधीन 'रहिरास' की वाणी को रखा। इसके बाद 'सोहिला' की वाणी दर्ज की गई। इसमें पाँच शबद हैं।

इसके पश्चात् तीस रागों में वाणी दर्ज की गई। इकतीसवें जैजावंती राग को, जिसमें गुरु तेगबहादुर की वाणी रचित है, गुरु गोबिंद सिंह ने 'गुरु ग्रंथ साहिब' में शामिल किया। रागों में श्रीराग को सबसे पहले रखा गया।

रागों के पश्चात् श्लोक सहसकृति रखे गए। इसके बाद गाथा फुन्हे और चौबोल दर्ज किए गए। तत्पश्चात् भक्त कबीर और शेख फरीद के श्लोक रखे गए। श्लोकों के बाद गुरु अर्जनदेव के सवैये और भाटों (पंजाबी उच्चारण भट्ट) द्वारा दूसरे, तीसरे, चौथे और पाँचवें गुरु की उपमा में उच्चारण किए गए सवैये अंकित हैं। इसके पश्चात् 'श्लोक वारां ते वधीक' शीर्षक के अधीन गुरु नानक, गुरु अमरदास, गुरु रामदास, गुरु अर्जनदेव और गुरु तेगबहादुर के श्लोक दर्ज हैं। फिर मुंदावणी महला पाँच रखकर भोग डाला गया और श्लोक दर्ज करके (परमात्मा के प्रति) कृतज्ञता भाव प्रकट किया गया। सबसे अंत में रागमाला दर्ज की गई और इस प्रकार 'गुरु ग्रंथ साहिब' की रचना संपूर्ण हुई।

'गुरु ग्रंथ साहिब' में कुल एक हजार चार सौ तीस पृष्ठ हैं। पृष्ठानुसार इसमें वाणी के संयोजन की व्यवस्था और क्रम निम्नलिखित प्रकार से हैं—

पृष्ठ १ से ८	: जपुजी
पृष्ठ ८ से १२	: सोदरु रहिरास
पृष्ठ १२ से १३	: सोहिला

पृष्ठ १४ से १३५३ : रागों में रची गई सिख गुरुओं, अन्य भक्तों तथा संतों की वाणियाँ

पृष्ठ १३५३ से १३६० : श्लोक सहसकृति महला १ (४ श्लोक) एवं श्लोक सहसकृति महला ५ (६७ श्लोक)

पृष्ठ १३६० से १३६१ : गाथा, महला ५ (२४ पद)

पृष्ठ १३६१ से १३६३ : फुन्हे महला ५ (२३ पद)

पृष्ठ १३६३ से १३६४ : चौबोल महला ५ (११ पद)

पृष्ठ १३६४ से १३७७ : श्लोक भक्त कबीर (२४३ श्लोक)

पृष्ठ १३७७ से १३८४ : श्लोक शेख फरीद (१३० श्लोक)

पृष्ठ १३८५ से १३८९ : सवैये श्री मुखवाक (महला ५, २० सवैये)

पृष्ठ १३८९ से १४०९ : भाटों के सवैये (१२३ सवैये, जिसमें गुरु नानक तथा गुरु अंगददेव की महिमा में १०-१०, गुरु अमरदास की महिमा में २२, गुरु रामदास की महिमा में ६० तथा गुरु अर्जनदेव की महिमा में २१ सवैये शामिल हैं)

पृष्ठ १४१० से १४२६ : श्लोक वारां ते वधीक। इसमें गुरु नानक के ३३, गुरु अमरदास के ६७, गुरु रामदास के ३० तथा गुरु अर्जनदेव द्वारा उच्चारण किए गए २२ श्लोकों सहित कुल १५२ श्लोक दर्ज हैं।

पृष्ठ १४२६ से १४२९ : इसमें श्लोक महला ९ शीर्षक के अधीन गुरु तेगबहादुर के कुल ५७ श्लोक दर्ज हैं।

पृष्ठ १४२९ : मुंदावाणी महला ५ शीर्षक के अधीन २ श्लोक।

पृष्ठ १४३० : रागमाला। इसमें 'गुरु ग्रंथ साहिब' में प्रयुक्त सभी रागों को सुंदर पद्यबद्ध शैली में सूचीबद्ध किया गया है।

जपुजी साहिब

'गुरु ग्रंथ साहिब' का शुभारंभ गुरु नानकदेव द्वारा रचित वाणी 'जपुजी' से होता है। यह अड़तीस पउड़ियों (पद) की एक उत्कृष्ट रचना है। इसमें दो श्लोक हैं। जपुजी में सिख धर्म और दर्शन का सार-तत्त्व निहित है। जपुजी को 'गुरु ग्रंथ साहिब' में सर्वप्रथम स्थान दिया गया है। अमृतपान की दीक्षा के लिए अमृत तैयार करते समय पढ़ी जानेवाली पाँच वाणियों में जपुजी की वाणी सबसे पहले पढ़ी जाती है। रचना के प्रारंभ में प्रभु के गुणों का बड़े सुंदर, सरल, संक्षिप्त और

स्पष्ट शब्दों में वर्णन किया गया है—

"१ੳ (एक ओंकार) सतिनामु करता पुरखु निरभउ,
निरवैरु अकाल मूरति अजूनि सैभं गुर प्रसादि॥"

—अर्थात् ईश्वर एक है और वह सभी प्राणियों में समान रूप से व्याप्त है। उसका नाम सदा के लिए अटल है। वह इस सृष्टि का कर्ता है। वह निर्भय है, यानी उसे किसीका डर नहीं। उसका किसीके साथ वैर-विरोध नहीं। वह काल के बंधन से मुक्त है। यानी वह शाश्वत है और मौत उसे नहीं मार सकती। वह योनि (गर्भ) में नहीं आता। वह स्वयंभू है और अपने ही प्रकाश से प्रकाशित है। ऐसा ईश्वर केवल गुरु की कृपा से प्राप्त होता है।

जपुजी का उद्देश्य ईश्वर को पाने के लिए प्रयत्न करना और अंतत: उसे प्राप्त करना है। रचना में गुरु नानकदेव स्वयं ही जिज्ञासु के लिए पहले यह प्रश्न करते हैं कि सत्य की प्राप्ति कैसे होगी और अगली पंक्तियों में स्वयं ही उसका उत्तर भी दे देते हैं। यथा—

'किव सचिआरा होईऐ, किव कूड़ै तुटै पालि।'

(प्रश्न)

—अर्थात् अपने भीतर प्रभु-परमात्मा के प्रकाश के लिए मैं योग्य कैसे बनूँ, अपने अंदर बने हुए झूठ के आवरण को कैसे हटाऊँ? अगली पंक्ति में इसका जवाब देते हुए नानकजी फरमाते हैं—

'हुकमि रजाई चलणा, नानक लिखिआ नालि।'

—अर्थात् प्रभु की इच्छा के अनुसार चलने से ही झूठ का आवरण दूर हो सकता है। यह इच्छा जीव के जन्म के समय ही लिख दी जाती है।

जपुजी की पहली से सातवीं पउड़ी में गुरु नानकदेव तीर्थयात्रा, तीर्थस्नान आदि जैसे बाहरी आडंबरों को व्यर्थ बताते हैं और फरमाते हैं कि इन क्रियाओं से सच की प्राप्ति नहीं हो सकती। नानकजी का कथन है कि यदि मैं (जीव) परमात्मा को भा गया तो समझो, मैंने (जीव ने) सभी तीर्थों का स्नान कर लिया—

'तीरथ नावा जे तिस भावा।'

परमात्मा को पाने के लिए गुरु नानकदेव संसार को छोड़कर वनों, पहाड़ों, गुफाओं या कंदराओं में जा बसने की सिफारिश नहीं करते। वे पलायनवाद के विरुद्ध हैं और कहते हैं कि ईश्वर को पाने के लिए संसार छोड़कर जाने की कोई जरूरत नहीं। तुम्हारी सुरति परमात्मा से जुड़ गई तो तुम्हें सभी लोकों का ज्ञान हो जाएगा और आवागमन के चक्र से भी मुक्ति मिल जाएगी—

'मँनै सुरति होवै मनि बुद्धि।
मँनै सगल भवण की सुधि॥

मँनै मुहि चोटा न खाई।
मँनै जम के साथि न जाइ॥'

यही नहीं, हरि के भक्त नाम श्रवण से सिद्ध, पीर, देवता तथा नाथ की पदवी प्राप्त कर लेते हैं। नाम श्रवण से मौत का डर समाप्त हो जाता है। नाम श्रवण से सत्य, संतोष और ज्ञान की प्राप्ति होती है और अड़सठ तीर्थों के स्नान का फल मिलता है—

'सुणिऐ सिद्ध पीर सुरि नाथ।
सुणिऐ धरति धवल आकास॥
सुणिऐ दीप लोअ पाताल।
सुणिऐ पोहि न सकै कालु॥
नानक भगता सदा विगास।
सुणिऐ दूख पाप का नासु॥'

नानकजी का ईश्वर एक है, लेकिन उसके नाम असंख्य हैं। उसके घर तथा वास भी असंख्य हैं। उसके असंख्य खंड तथा प्रदेश, सागर तथा नदियाँ अपार हैं। उसके उपासक भी असंख्य हैं। वह परमात्मा किसीकी इच्छा के अधीन नहीं है। संसार में सबकुछ उसके आदेश से होता है। वह परमात्मा सदा अटल रहनेवाला है—

'असंख नाव, असंख थाव।
अगंम अगंम, असंख लोअ।
असंख कहहि सिरि भारु होइ॥

× × ×

जो तुधु भावै, साई भली कार।
तू सदा सलामति, निरंकार॥'

नानकजी का परमात्मा बहुत विशाल हृदयवाला है। उसकी देन का कोई अंत नहीं। वह युगों-युगों से जीवों को देता आ रहा है। जीव लेते-लेते थक जाते हैं, लेकिन वह देते हुए कभी नहीं थकता। देता जाता है, देता जाता है—

'देदा दे लैदे थकि पाहि।
जुगा जुगंतरि खाही खाहि॥'

जपुजी में नानकजी यह भी बताते हैं कि अगर तुम्हारे पास सतयुग से लेकर कलियुग तक चारों युगों की उम्र से भी दोगुनी उम्र हो, नवों खंडों के लोग तुम्हें जानते हों, तुम्हारे साथ चलते हों, चाहे तुम्हारा कितना ही सुंदर नाम हो और सारे जगत् में तुम्हारी कीर्ति हो, फिर भी अगर उसकी

दृष्टि में तुम न जँचे तो सबकुछ बेकार है—

'जे जुग चारे आरजा, होर दसूणी होइ।
नवा खंडा विचि जाणीऐ, नालि चलै सभु कोइ।
चंगा नाउ रखाइकै, जसु कीरति जगि लेइ।
जे तिसु नदरि न आवई, त वात न पूछै के॥'

जपुजी में नानकजी इस संसार में मनुष्य के अच्छे-बुरे कर्मों के फल को भी बड़े सुंदर शब्दों में स्पष्ट करते हैं। वे फरमाते हैं कि मनुष्य जो बीज (कर्म) बोता है, उसकी फसल (फल) भी वह खुद काटता है। यानी हर प्राणी को उसके कर्मों के अनुसार फल मिलता है—

'आपे बीजि, आपे ही खाहु।'

सृष्टि के आकार के बारे में भी नानकजी जपुजी में सभी प्रश्नों और शंकाओं का समाधान प्रस्तुत करते हैं। वे बताते हैं कि इस धरती के नीचे भी लाखों धरतियाँ हैं और दृश्यमान आकाश से ऊपर भी कई आकाश हैं। इन ज्ञात एवं अज्ञात खंडों को जानने के प्रयास में प्राणी थककर हार गए—

'पाताल पाताल लख, आगासा आगास।
ओड़क ओड़क भालि थके वेद कहनि इक वात॥'

जिस परमात्मा ने इस सृष्टि की रचना की है, वही इसे जान सकता है। और किसीमें यह सामर्थ्य नहीं—

'जा करता सिरठी कउ साजे, आपे जाणै सोई।'

ऐसे परिपूर्ण परमात्मा का नाम सुमिरन करनेवाले व्यक्ति इस संसार में अपनी मेहनत सफल कर जाते हैं। परमात्मा के घर न केवल वे खुद उज्ज्वल मुख लेकर पहुँचते हैं बल्कि अपने संग रहनेवाले कई अन्य लोगों का भी वे उद्धार कर जाते हैं। यही जपुजी का अंतिम संदेश है—

'जिनि नामु धिआइआ, गए मसकति घालि।
नानक ते मुख उजले, केती छुट्टी नालि॥'

सुखमनी साहिब

इस वाणी की रचना पाँचवें गुरु श्री गुरु अर्जनदेव ने की। 'गुरु ग्रंथ साहिब' में यह वाणी 'गउड़ी सुखमनी महला ५' शीर्षक के अधीन दर्ज है, अर्थात् गउड़ी राग में पाँचवें गुरु की रचना सुखमनी।

सुखमनी में कुल चौबीस अष्टपदियाँ हैं। हर अष्टपदी में आठ-आठ पउड़ियाँ हैं। प्रत्येक

अष्टपदी से पूर्व एक-एक श्लोक दर्ज है। इस रचना में सत्यं, शिवं और सुंदरम् का बड़े सुंदर ढंग से संयोजन किया गया है। रचना में उस सत्य का बखान है जो अमर है, प्रभु रूप है, कल्याणकारी है, मंगलमयी है, अविनाशी है, स्वयं मुक्त और संसार को मुक्ति दिलानेवाला है।

प्रत्येक अष्टपदी के शीर्ष में दर्ज श्लोक सुखमनी के संपूर्ण आशय के अनुरूप है। प्रथम श्लोक में ही यह बताया गया है कि जिस व्यक्ति के मन और मुख दोनों में सच बसता है और जो परम सच के अलावा किसी और पर टेक नहीं रखता, वह व्यक्ति सच्चा ब्रह्मज्ञानी और पूर्ण मनुष्य है—

'मनि साचा मुखि साचा सोइ।
अवर न पेखै ऐकस बिन कोइ।
नानक इह लक्षण ब्रह्म गिआनी होइ॥'

सुखमनी की पहली अष्टपदी में गुरु अर्जनदेव नाम सुमिरन का महत्त्व बताते हैं। दूसरी अष्टपदी में वे मनुष्य की मृत्यु के बाद दिवंगत आत्मा की शांति के लिए किए जानेवाले क्रिया-कर्म आदि को व्यर्थ बताते हैं और फरमाते हैं कि आखिर में केवल ईश्वर का नाम ही मनुष्य के काम आएगा और उसके साथ जाएगा। तीसरी अष्टपदी में गुरुजी ने **'जाप ताप गिआन सभि धिआन…नही तुलि राम नाम बीचार'** कहकर ईश्वर के नाम को सर्वोच्च और अतुल्य बताया है। चौथी अष्टपदी में अकृतज्ञ मनुष्य को प्रभु की उसपर कृपाओं से अवगत करवाया गया है। पाँचवीं अष्टपदी का भावार्थ है कि जो मनुष्य ईश्वर से विमुख हो जाता है वह हर जगह विफल होता है। छठी अष्टपदी में मनुष्य को कृतज्ञता भाव में जीवन जीने का संदेश दिया गया है। अष्टपदी संख्या सात और तेरह में सद्संगति की महिमा बताई गई है। दसवीं अष्टपदी में परमात्मा की व्यापकता और उसकी दृष्टि की विविधता का वर्णन किया गया है। ग्यारहवीं अष्टपदी में गुरु अर्जनदेव ईश्वर की शक्तियों का वर्णन करते हैं और बताते हैं कि उसकी शक्तियों की कोई सीमा नहीं है। बारहवीं से बीसवीं अष्टपदी में गुरुजी उस प्रक्रिया (अर्थात् आत्मसमर्पण) का विस्तार से वर्णन करते हैं जिसके माध्यम से व्यक्ति गुरु की कृपा प्राप्त कर सकता है। और आखिर में अष्टपदी संख्या इक्कीस से चौबीस में ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप से सगुण (सृष्टि जो उसी ब्रह्म की रचना है) रूप धारण करने का जिक्र है, लेकिन उसका वास्तविक और स्थायी रूप वह निर्गुण रूप ही है जिसके बारे में नानकजी ने जपुजी में कहा है—

'थापिआ न जाइ कीता न होई, आपे आपि निरंजन सोइ।'

—अर्थात् वह परमात्मा न तो स्थापित किया जा सकता है और न किसी अन्य द्वारा बनाया जा सकता है। वह स्वयंभू और माया के प्रभाव से मुक्त है।

नाम सुमिरन का महत्त्व, साधु, गुरु और ब्रह्मज्ञानी की स्तुति, संतों के निंदकों और विरोधियों

की आलोचना, अहंकार और उसके दुष्परिणाम, सृष्टि का अनंत रूप सुखमनी के मुख्य विषय हैं। इन मुख्य विषयों की पुष्टि के लिए गुरु अर्जनदेव इस कृति में कई सहायक विषयों को भी साथ लेकर चले हैं।

सुखमनी में भक्ति मार्ग के साधक-आराधक के लिए साधु, ब्रह्मज्ञानी, वैष्णव, संत, सेवक, भगत, हरिजन इत्यादि जैसे कई नाम प्रयोग किए गए हैं। गुरुजी ने हरेक नाम के चारित्रिक गुणों की स्पष्ट व्याख्या की है। जैसे—संत के लक्षण बताते हुए वे फरमाते हैं कि उसे हरदम परमेश्वर याद रहता है जिसके कारण वह अटल और सदा सुखी रहता है—

'जिस कउ हरि प्रभु मनि चिति आवै।
सो संतु सुहेला नही डुलावै॥'

उसका जीवन हर पक्ष और पहलू से सत्य होता है। वह मिथ्या ढोंग नहीं रचता। वह व्यक्ति की बजाय परमात्मा का आज्ञाकारी होता है। वह मन में तुच्छ लालसा नहीं रखता। निष्काम भक्ति उसका ध्येय होता है। अपने इन्हीं गुणों के कारण वह परमात्मा की निकटता प्राप्त कर लेता है—

'मनु बेचै सतिगुर कै पासि।
तिसु सेवक के कारजि रासि।
सेवा करत होइ निहकामी।
तिस कउ होत परापति सुआमी॥'

सुखमनी में आगे चलकर गुरु अर्जनदेव फरमाते हैं कि इस अवस्था को प्राप्त हुआ साधक अपनी साधना के बल पर स्वयं तो जन्म-मरण के बंधन से मुक्त होता ही है, अपनी संगत में आए अन्य प्राणियों को भी मुक्त करवा लेता है—

'आपि मुक्तु मुक्तु करे संसारु।'

'पंडित' का परंपरागत रूप से प्रचलित अर्थ है धर्मशास्त्रों का ज्ञाता। लेकिन सुखमनी में गुरु अर्जनदेव पंडित की एकदम नई परिभाषा देते हैं और फरमाते हैं कि पंडित वह है जो सर्वप्रथम अपने मन को जगाता है तथा अपने भीतर ही राम को खोजता है और उसका अमृत रस पीता है। वह केवल किताबी ज्ञानवाला पंडित नहीं होना चाहिए। बल्कि उसमें इतनी सूझ होनी चाहिए कि वह सूक्ष्म से स्थूल की व्यापकता को समझ सके, अर्थात् सृष्टि के कर्ता और उसकी रचना को एक करके देखे। ज्ञान का प्रचार-प्रसार करते समय वह धर्म-जाति, कुल-गोत्र के आधार पर मनुष्य-मनुष्य के बीच भेदभाव न करे; बल्कि चारों वर्णों (क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और ब्राह्मण) को समदृष्टि और सम्मान के साथ शिक्षा प्रदान करे। ऐसा आचरण करनेवाला पंडित हमेशा सम्मान का पात्र होता है और आवागमन के चक्र से मुक्त हो जाता है—

'सो पंडितु जो मनु प्रबोधै।
राम नामु आत्म महि सोधै॥
राम नाम सारु रस पीवै।
उसु पंडित कै उपदेसि जग जीवै॥
हरि की कथा हिरदै बसावै।
सो पंडितु फिरि जोनि न आवै॥
बेद पुरान सिमिति बूझै मूल।
सूखम महि जाने अस्थूलु॥
चहु वरना कउ दे उपदेसु।
नानक उस पंडित कउ, सदा आदेसु॥'

इसी प्रकार सुखमनी में गुरु अर्जनदेव 'वैष्णव' की भी विस्तृत व्याख्या करते हैं। वे बताते हैं कि सच्चा वैष्णव वही है जिसपर हरि प्रसन्न है। वह माया के लोभ-लालसा से हमेशा निर्लिप्त रहता है। वह निष्काम भाव से कर्म करता जाता है और कभी फल की इच्छा नहीं रखता। वह केवल प्रभु-परमात्मा की भक्ति और कीर्तन में मग्न रहता है। वह सबके प्रति नम्र और विनीत रहता है। वह खुद भी नाम जपता है और दूसरों को भी नाम जपाता है तथा परम पद को प्राप्त करता है—

'बैस्नो सो जिसु ऊपरि सु प्रसन्न।
बिस्न की माइआ ते होइ भिन्न॥
करम करत होवै निहकरम।
तिसु बैस्नो का निरमल धरम॥
काहू फल की इच्छा नहीं बाछै।
केवल भगति कीरतन संगि राचै॥
मन तन अंतरि सिमरन गोपाल।
सभ ऊपरि होवत किरपाल॥
आपि दृढ़ै अवरह नामु जपावै।
नानक उहु बैस्नो परमगति पावै॥'

सुखमनी में 'प्रभु कै सिमरन', 'हरि का नाम', 'जिह प्रसादि', 'साध कै संगि', 'ब्रह्म गिआनी', 'संत कै दूखन', 'संत का निंदक', 'संत का दोखी' इत्यादि शब्दों का बार-बार प्रयोग करके गुरु अर्जनदेव ने सिमरन, साधु और संत की उच्च महिमा और **'सिमरउ सिमरि सिमरि सुख पावउ, कलि क्लेस तन माहि मिटावउ'** की आनंदावस्था तक पहुँचने में उनके महत्त्व को रेखांकित

किया है। संक्षेप में, सुखमनी का मूल संदेश यह है कि हर मानव में परमात्मा बसा हुआ है। लेकिन माया के मोह में फँसा-धँसा एवं अहंकार में अकड़-उकड़ा मनुष्य उसे देख नहीं पाता। नाम सुमिरन से जब अज्ञान का कोहरा छँट जाता है और अहंकार रूपी मैल उतर जाती है तो परमात्मा से साक्षात्कार हो जाता है।

आसा दी वार

'गुरु ग्रंथ साहिब' में संकलित गुरु नानकदेव की वाणियों में 'आसा दी वार' का प्रमुख स्थान है। चूँकि प्रारंभ से ही यह वाणी राग 'आसा' में गाई जाती रही है, इसलिए इसका नाम 'आसा दी वार' पड़ा।

आसा दी वार में कुल चौबीस पउड़ियाँ हैं। हर पउड़ी से पहले श्लोक दर्ज हैं। श्लोक तथा पउड़ियाँ दोनों को मिलाकर कुल तिरासी पद हैं। प्रत्येक गुरुद्वारे में आसा दी वार का कीर्तन प्रतिदिन प्रात:काल रागी जत्थो (यानी कीर्तन का गायन करनेवाली मंडली) द्वारा रागमय ढंग से किया जाता है। वाणी की भाषा पंजाबी है। आसा दी वार का गायन-कीर्तन गुरु नानकदेव के समय से ही प्रारंभ हो गया था। वाणी के साथ गायन किए जानेवाले श्लोकों में उस समय के समाज में व्याप्त पाखंड, अंधविश्वास, कर्मकांड, रूढ़ियों और दकियानूसी विचारों तथा प्रथाओं की कड़ी भर्त्सना की गई है।

आसा दी वार में गुरु नानकदेव ने जपुजी की तरह एक सर्वव्यापक परमात्मा का रूप चित्रित किया है। इस वाणी का शुभारंभ भी सिख धर्म के मूल मंत्र **१ੴ (एक ओंकार) सतिनामु करता पुरखु निरभउ निरवैरु अकाल मूरति अजूनी सैभं गुर प्रसादि** से होता है। आसा दी वार में नानकजी के परमात्मा के नाम चाहे अनेक हों, पर स्वरूप में वह एक है। यह परमात्मा राजाओं का राजा, सर्वशक्तिमान् और जनसाधारण का साथी है। वह अपने ही प्रकाश से प्रकाशित होता है। स्वयं ही परमात्मा ने कुदरत की रचना की और फिर उस कुदरत में आसन लगाकर वह अपने ही हाथों से रची कुदरत का रंग-तमाशा देख रहा है—

'आपीनै आपु साजिउ, आपीनै रचिउ नाउ।
दुयी कुदरति साजीऐ, करि आसणु डिठो चाउ॥'

वह परमात्मा सर्वशक्तिमान् है और वायु, लाखों नदियाँ, अग्नि, धरती, चाँद, सूरज इत्यादि सभी उसके भय में रहकर अपना-अपना कार्य करते हैं। प्रत्येक जीव परमात्मा के ध्यान में है और वह हर जीव को काम-धंधे में लगाए रखता है। उस परमात्मा के कहर की सिर्फ एक दृष्टि बादशाहों और सुलतानों को दर-दर का भिखारी बना सकती है—

'वडहु वडा वड मेदनी, सिरि सिरि धंधे लाइदा।
नदरि उपठी जे करे, सुलतान घाहु कराइदा।
दरि मंगनि भिख न पाइदा॥'

उस असीम परमात्मा के गुण भी असीम हैं। अल्पबुद्धिवाला मनुष्य उसके गुणों का बखान नहीं कर सकता—

'वडै कीआँ वडिआईआँ, किछ कहणा कहणु न जाइ।'

भारतीय दर्शन में ज्ञान और मुक्ति के लिए गुरु को सर्वोच्च स्थान और महत्त्व दिया गया है। आसा दी वार में भी गुरु नानकदेव इस बात पर जोर देते हैं कि सतगुरु के बिना परमसत्ता और सत्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। मनुष्य के भटकते मन को सिर्फ गुरु के ज्ञान से ही स्थिरता प्राप्त होती है। सतगुरु की शरण में आने पर मनुष्य के मन से मोह आदि विकार दूर हो जाते हैं और चित्त परमात्मा के साथ जुड़ जाता है। और इस प्रकार उसकी मुक्ति का मार्ग प्रशस्त हो जाता है—

**'सतिगुरु मिलिऐ सदा मुक्त है, जिनि विचहु मोह चुकाइआ।
उत्तम इह बीचारु है, जिनि सचे सिउ चितु लाइआ।
जग जीवनु दाता पाइआ॥'**

जो मनुष्य गुरु की शिक्षाओं को अपने जीवन में नहीं उतारते और अहंकार के वशीभूत होकर अपने आपको चतुर और सयाना समझते हैं, उनकी स्थिति ऐसी होती है जैसे खेत में जले हुए तिल के पौधे पड़े हुए होते हैं। ऐसे पौधे फलते भी हैं और फूलते भी हैं, पर इनकी फलियों में तिलों की जगह राख ही होती है—

**'नानक गुरु न चेतनी, मनि आपणै सुचेत।
छुटे तिल बूआड़ जिउ, सुंवे अंदरि खेत।
खेतै अंदरि छुटिआ, कहु नानक सउ नाह।
फलीअहि फुलीअहि बपुड़े, भी तन विचि सुआह॥'**

नानकजी गुरु पर बार-बार बलिहार जाते हैं, जो साधारण मनुष्य को अपना उपदेश देकर (मनुष्य से) देवता बना देता है। संसार में अगर सौ चंद्रमा और हजार सूर्य चढ़ जाएँ तो भी वे गुरु के ज्ञान के प्रकाश की बराबरी नहीं कर सकते। गुरु के बिना संसार में घनघोर अँधेरा है—

**'बलिहारी गुर आपणे, दिउहाड़ी सद वार।
जिनि माणस ते देवते कीए, करत न लागी वार॥
जे सउ चंदा उगवहि, सूरज चढ़हि हजार।
ऐते चानण होदिआँ, गुर बिनु घोर अँधार॥'**

आसा दी वार में गुरु नानकदेव यह भी बताते हैं कि इस संसार में एक ईश्वर के अलावा राजा, प्रजा, महल, सोना, चाँदी, काया (शरीर), कपड़ा, सगे-संबंधी और दोस्त मिथ्या तथा नाशवान् हैं। लेकिन यह जानकर भी जीव अटल परमात्मा को भूलकर इन मिथ्या वस्तुओं में लिप्त रहता है और उनमें डूब जाता है—

'कूढ़ राजा कूढ़ परजा, कूढ़ सभु संसारु।
कूढ़ मंडप, कूढ़ माढ़ी, कूढ़ बैसणहारु।
कूढ़ सुइना, कूढ़ रूपा, कूढ़ पैनणहारु।
कूढ़ काइआ, कूढ़ कपड़ु, कूढ़ रूपु अपारु।
कूढ़ मीआ, कूढ़ बीबी, खपि होए खारु।
कूढ़ि कूढ़ै नेहु लगा, विसरिआ करतारु।
किस नालि कीचै दोस्ती, सभु जगु चलणहारु।
कूढ़ मिठा, कूढ़ माखिउ, कूढ़ डोबे पूरु।
नानक वखाणै बेनती, तुधु बाझु कूढ़ो कूढ़॥'

तो फिर झूठ के बोलबालेवाली इस स्थिति में सत्य क्या है? उसकी पहचान तथा प्राप्ति कैसे हो? इसका समाधान नानकजी आगे चलकर देते हैं और फरमाते हैं कि नश्वर वस्तुओं की बजाय प्रभु-परमात्मा के साथ नेह लगाने से, समस्त जीवों पर दया करने और अपनी नेक कमाई में से जरूरतमंद लोगों के लिए दान-पुण्य करने से बाहरी तीर्थों की बजाय अपनी आत्मा के तीर्थ में मन टिकाने से सच की प्राप्ति होती है। और जो व्यक्ति इस विधि से सच को प्राप्त कर लेते हैं, उनके सभी रोगों और दुःखों का इलाज ईश्वर स्वयं बन जाता है और उनके हृदय से सभी पाप-विकार धो डालता है।

जीव और जगत् के लिए जो कुछ प्रभु-परमेश्वर ने तय किया है, वह घटित होकर रहेगा। संसार में सभी जीव अपने-अपने लक्ष्य और उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए जोर लगाते हैं। लेकिन उन्हें हासिल वही होता है जो ईश्वर को मंजूर है। उस ईश्वर के दरबार में न ऊँची जाति की दलील काम आती है और न किसी प्रकार का जोर चलता है। बल्कि वहाँ तो वही श्रेष्ठ साबित होते हैं जिनका जीवन धार्मिक रहा है—

'वदी सु वजगि नानका, सचा वेखै सोइ।
सभनी छाला मारीआ, करता करे सु होइ।
अगै जाति न जोरु है, अगे जीउ नवे।
जिन की लेखै पति पवै, चंगे सेई केइ॥'

आसा दी वार में '**सिंमल रुखु सराइरा...**' श्लोक में गुरु नानकदेव सेमल के वृक्ष का

उदाहरण देकर विनम्रता को स्पष्ट करते हैं। वे फरमाते हैं कि विनम्रता केवल दिखावे के लिए नहीं, बल्कि मन से होनी चाहिए। नानकजी बताते हैं कि सेमल का पेड़ बहुत सीधा, ऊँचा और मोटा होता है। पर क्या कारण है कि जो पक्षी उसका फल खाने की आशा में उसपर आकर बैठते हैं वे निराश होकर बिना फल खाए ही उड़ जाते हैं। कारण यह है कि उसका फल फीका और स्वादहीन होता है और उसके पत्ते भी किसी काम नहीं आते। गुरुदेव फरमाते हैं कि विनम्रता में ही असली मिठास है—और विनम्रता सभी गुणों एवं अच्छाइयों का सार है। इसी श्लोक में नानकजी आगे बताते हैं कि संसार में हर जीव अपने स्वार्थ के लिए झुकता है। दूसरे के हित के लिए कोई नहीं झुकता। केवल सिर झुकाने से कुछ नहीं होगा। झुकना वही स्वीकार्य है जहाँ मन झुके। लेकिन झुकने-झुकने में भी अंतर है। दोषी व्यक्ति दोगुना झुकता है, ठीक वैसे ही जैसे शिकारी हिरण को मारने के लिए झुकता है। मनुष्य एक ओर तो खोटे तथा अशुभ कार्य करे लेकिन दूसरी ओर धर्मस्थानों पर जाकर शीश नवाए और माथा टेके, यह सब निष्फल है और इससे कुछ भी हासिल नहीं होने वाला—

'सीसि निवाइऐ किआ थीऐ, जा रिदै कुसुधे जाहि।'

नानकजी के काल में देश ब्राह्मणी रीतियों और नीतियों के जाल में फँसा हुआ था। आत्मिक ज्ञान की बजाय आडंबरों और तिलक, जनेऊ जैसे बाहरी प्रतीकों का ज्यादा जोर था। लोग इन प्रतीकों को ही धर्म-कर्म समझ बैठे थे। नानकजी ने इसका खंडन किया। आसा दी वार की पंद्रहवीं पउड़ी के पूर्व **'लख चोरीआ लख जारीआ लख कूढ़ीआ लख गलि…'** नामक श्लोकों में वे जनेऊ धारण की निरर्थकता का वर्णन करते हुए फरमाते हैं कि चोरी, झूठ, गाली, ठगी और पाप-कर्मों से भरे हुए शरीर को जनेऊ धारण करने से भला क्या आत्मिक आनंद प्राप्त होगा। प्रभु का यश गायन ही असली जनेऊ है। कपास का काता हुआ और ब्राह्मण द्वारा धारण करवाया गया जनेऊ जब पुराना पड़ जाता है तो उसे उतारकर फेंक दिया जाता है तथा उसकी जगह दूसरा जनेऊ धारण किया जाता है। गुरुदेव आगे फरमाते हैं कि अगर इस जनेऊ में जोर होता अर्थात् अगर वह आत्मा के लिए उपयोगी होता तो इस प्रकार न टूटता—

'…होई पुराणा सुटीऐ, भी फिरि पाईऐ होरु।
नानक तगु न तुटई, जे तगि होवै जोरु॥'

इसी प्रकार **'जे मोहाका घरु मुहै…'** श्लोक में गुरु नानकदेव पितृदान जैसी क्रियाओं को निष्फल बताते हुए फरमाते हैं कि परलोक में मनुष्य को जीवन में कमाए हुए कर्मों का ही फल मिलता है। अगर कोई व्यक्ति ठगी या चोरी से हासिल किए गए धन से ब्राह्मणों को दान देकर अपने पितरों का उद्धार करवाने की बात सोचता है तो यह उसकी भूल है; बल्कि ऐसा करके वह

अपने पितरों को भी चोर बनाता है।

आसा दी वार में नानकजी यह भी बताते हैं कि मन से झूठे और कपटी व्यक्ति अगर अड़सठ तीर्थों का स्नान भी कर ले तो भी उसके मन से कपट की मैल दूर नहीं होगी। सिर्फ शारीरिक स्नान से मनुष्य पवित्र नहीं हो सकता। असली पवित्र वह है जिसके मन में ईश्वर का निवास हो गया है।

गुरु नानकदेव ने भारतीय समाज में बच्चे के जन्म के समय 'सूतक' (एक तरह की अपवित्रता) मानने की अंधविश्वासी परंपरा की भी आलोचना की और फरमाया कि मनुष्य के लिए असली सूतक तो लोभ, झूठ, पराई स्त्री का संग-साथ, निंदा और चुगली है। जिस व्यक्ति ने गुरु की शिक्षाओं को समझ लिया, वह सूतक के भ्रमजाल में नहीं फँसता।

ईश्वर के दरबार में स्वीकार होने के लिए नानकजी वाणी की मिठास को आवश्यक मानते हैं। वे फरमाते हैं कि फीके या प्रेमहीन वचन बोलने से मनुष्य का तन और मन भी फीका (प्रेमहीन) हो जाता है। रूखे मनुष्य को लोग रूखा कहकर ही बुलाते हैं और उनमें उसके बारे में राय भी रूखी ही बनती है। ऐसे मनुष्य ईश्वर के दरबार में भी दुत्कारे जाते हैं और उनके मुँह पर लानत रूपी थूक पड़ती है। फीके वचन बोलनेवाला व्यक्ति मूर्ख कहलाता है और हर जगह उसे निरादर मिलता है।

आसा दी वार में गुरु नानकदेव यह भी बताते हैं कि इस नश्वर संसार में कोई भी व्यक्ति स्थायी नहीं है। हर व्यक्ति को अपनी बारी आने पर संसार से जाना (मरना) पड़ता है। इसलिए जिस मालिक ने हमें जन्म और जीवन दिया उसे हमें कभी नहीं भूलना चाहिए। इसी पउड़ी में नानकजी मनुष्य को आत्मनिर्भर बनने का उपदेश देते हुए कहते हैं कि प्राणी को अपने सभी कार्य खुद अपने हाथ से सँवारने अर्थात् पूरे करने चाहिए—

'जो आइआ सो चलसी, सभु कोई आई वारीऐ।
जिसके जीअ प्राण हहि, किउ साहिबु मनहु विसारीऐ।
आपण हथी आपणा, आपे ही काज सवारीऐ॥'

अंतिम पउड़ी **'वडे कीआ वडि आईआ'''** में नानकजी फरमाते हैं कि उस सर्वोच्च ईश्वर के गुणों का वर्णन नहीं किया जा सकता। वह सृष्टि का मालिक है और सभी जीवों को रोजी देता है। इसलिए उस परमेश्वर के अलावा किसी और के आगे अरदास (प्रार्थना) करना व्यर्थ है। वह परमात्मा अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करता है।

आनंद साहिब

इस वाणी की रचना तीसरे गुरु श्री गुरु अमरदास ने की। 'गुरु ग्रंथ साहिब' में यह वाणी राग

रामकली में दर्ज है। इसमें कुल चालीस पद हैं। गुरु अमरदास ने इस वाणी में 'आनंद' शब्द की विस्तृत व्याख्या की है। सिख द्वारा रोजाना नियम से पढ़ी जानेवाली (नितनेम) पाँच वाणियों में आनंद साहिब भी शामिल है। अन्य चार वाणियाँ हैं—जपुजी, जाप साहिब, सवैये और रहिरास।

मोह-माया और विषय-विकारों के बंधन में जकड़ा मनुष्य सगे-संबंधियों और मित्रों से हास-परिहास, सांसारिक कीर्ति और झूठी वाहवाही, सुंदर वस्तुओं और स्वादिष्ट व्यंजनों के भोग-उपभोग को ही असली आनंद समझता है। लेकिन ये सब भौतिक पदार्थ हैं। इनसे शारीरिक तृप्ति तो हो सकती है, आत्मा की आध्यात्मिक प्यास नहीं मिट सकती। गुरु अमरदास बताते हैं कि जब तक सांसारिक पदार्थों से मनुष्य का मोह नहीं छूटता और टूटता तब तक उसकी आत्मा तृप्त नहीं हो सकती। और जब तक आत्मा तृप्त नहीं होगी तब तक उसमें ईश्वर से मिलन करानेवाला आत्मिक रस पैदा नहीं होगा। जो मनुष्य काम, क्रोध, लोभ, मोह तथा अहंकार नामक पाँच दुष्ट विकारों का गुलाम है, उसमें आत्मिक रस पैदा नहीं हो सकता। आत्मिक रस की प्राप्ति के लिए इन विकारों से छुटकारा पाना जरूरी है।

प्रभु के नाम सुमिरन और सेवा से मन के विकारों का नाश होता है, उसमें प्रफुल्लता आती है और अंतरात्मा में वसंत ऋतु की तरह सुगंध महक उठती है तथा खुशी के बाजे बजने लगते हैं—

'आनंद भइआ मेरी माओ, सतिगुरु मैं पाइआ।
सतिगुरु त पाइआ सहज सेती, मनि वजीआ वाधाईआ।
राग रतन परवार परीआ, शबद गावण आईआ॥'

गुरु अमरदास फरमाते हैं कि आनंद के दाता परमात्मा से मिलन का एकमात्र तरीका यह है कि मनुष्य अपने आपको गुरु के आगे अर्पित कर दे, गुरु के बताए गए मार्ग पर चले और परमात्मा का गुणगान करता रहे। गुरुदेव यह भी बताते हैं कि चतुराई और चालाकी से किसी भी व्यक्ति ने आत्मिक आनंद को प्राप्त नहीं किया। अर्थात् भीतर से तो मनुष्य का मन विषय-विकारों में जकड़ा रहे और बाहर से वह प्रभु भक्ति का ढोंग करे, ऐसा नहीं हो सकता। यदि कोई सिख दोषमुक्त रूप में गुरु के समक्ष हाजिर होना चाहता है, यदि सिख यह चाहता है कि किसी दोष के कारण उसे गुरु के सामने शर्मिंदा न होना पड़े तो उसका एकमात्र तरीका यही है कि वह सच्चे दिल से गुरु के चरणों में टेक लगाए—

'जे को सिखु, गुरु सेती सनमुखु होवै।
होवै त सनमुखु सिखु कोई, जीअहु रहै गुर नालै॥'

मौका चाहे खुशी का हो या गमी का, सिख धर्म के हर धार्मिक अनुष्ठान का समापन आनंद साहिब की छह पउड़ियों (पहली पाँच और अंतिम चालीसवीं) के साथ होता है। आनंद साहिब की प्रथम

पउड़ी में गुरु से मिलन की खुशी अंकित है। दूसरी पउड़ी में आनंद देनेवाले समर्थ हरि के साथ रहने के लिए मन को समझाया गया है और यह बताया गया है कि हरि के साथ रहने से दु:खों का विनाश होता है और सभी कार्य उसकी कृपा से संपन्न होते हैं। तीसरी पउड़ी में परमेश्वर से मिलाप करवानेवाले गुणों की बख्शिश के लिए विनती है। चौथी पउड़ी में संत जनों को शबद में लीन रहने की सलाह दी गई है। पाँचवीं पउड़ी में बताया गया है कि नाम जपनेवालों को यह सौभाग्य परमात्म लोक से ही प्राप्त होता है।

अगली पउड़ियों में समुच्चय रूप में यह बताया गया है कि नाम की कृपा कैसे प्राप्त होती है। मनुष्य में सच्ची लगन हो तो गुरु स्वयं मनुष्य का माया-मोह रूपी जाल काटकर उसका आचरण सँवारता है। परमेश्वर के हुक्म को मानने के लिए तन, मन और धन सबकुछ सौंपने का समर्पण भाव उत्पन्न होता है।

आनंद साहिब का निचोड़ यह भी है कि हरि अगम्य और अगोचर है। कोई भी व्यक्ति उसका अंत नहीं पा अथवा जान सका। गुरु की कृपा से उस हरि के नाम को प्राप्त कर लेनेवाले भक्तों की चाल आम सांसारिक लोगों से भिन्न हो जाती है। हरि के मार्ग पर चलना एक कठिन कार्य है। लेकिन गुरु की शिक्षा पर अमल करके मनुष्य हरि के मार्ग को प्राप्त कर लेता है—

'भगता की चाल निराली।
चाला निराली भगताह केरी, बिखम मारगि चलणा।
लबु लोभु अहंकारु तजि तृस्ना, बहुतु नाही बोलणा॥'

हरि ही मनुष्य के शरीर में ज्योति रखता है और तब मनुष्य संसार में आता है। इस ज्योति के प्रवेश करने से शरीर स्वयं हरिमंदिर हो जाता है। इस मंदिर में हरि का यश गायन करने से रोग, शोक और दु:खों का नाश होता है। यह ज्योति सदा हरि का दीदार करती रहे। इसके बिना बाकी सब दीदार व्यर्थ हैं। कान सदा हरि का नाम सुनते रहें, क्योंकि इससे जीवन पवित्र होता है—

'ऐ नेत्रहु मेरिहो, हरि तुम महि जोति धरी,
हरि बिनु अवरु न देखहु कोई।
हरि बिनु अवरु न देखहु कोई,
नदरी हरि निहालिआ।

× × ×

ऐ स्रवणहु मेरिहो,
साचै, सुनणै नो पठाए।

साचै, सुनणै नो पठाए,
सरीरि लाए, सुणहु सति बाणी ॥'

सोदरु रहिरास

'सोदरु' गुरु नानकदेव की एक प्रसिद्ध वाणी है, जबकि रहिरास नितनेम की एक संपादित की हुई वाणी है। 'गुरु ग्रंथ साहिब' में सोदरु की वाणी मामूली शबद भेद के साथ तीन स्थानों पर दर्ज हुई मिलती है। सर्वप्रथम यह वाणी जपुजी की सत्ताईसवीं पउड़ी के रूप में, दूसरी बार गुरु अर्जनदेव द्वारा संध्या-पाठ के लिए संपादित रहिरास की वाणी के रूप में और तीसरी बार आसा राग के आरंभ में मिलती है। ऐसा माना जाता है कि पहले गुरु अर्जनदेव ने 'गुरु ग्रंथ साहिब' का संपादन करते समय सोदरु के साथ आठ शबद और जोड़कर संध्या-पाठ में वृद्धि की और फिर गुरु गोबिंद सिंह के समय में या उनके बाद पंथ-प्रमुखों ने सोदरु को नितनेम की या गुरु ज्योति की प्रतिनिधि एवं प्रामाणिक वाणी निश्चित करने के लिए गुरु गोबिंद सिंह द्वारा रचित 'चौपाई' को भी इसमें शामिल कर दिया। सोदरु का यह विस्तृत और वर्तमान रूप ही आज रहिरास की वाणी कहलाती है। इसका पाठ प्रतिदिन संध्याकाल में सूर्य ढलने के बाद किया जाता है।

सोदरु का अर्थ है—परमात्मा का दरबार और रहिरास का भाव है—आध्यात्मिक मार्ग की पूँजी। इस पूँजी को प्राप्त करके जीव संसार रूपी अंधकार से बच सकता है और ईश्वर की कृपा प्राप्त करके अपने तन-मन को प्रफुल्लित कर सकता है।

'सोदरु रहिरास' का समूचा भाव और संदेश यह है कि ईश्वर के विशाल और व्यापक अस्तित्व को स्वीकार करके अगर जीव उस परमात्मा के हुक्म और इच्छा के आगे स्वयं को समर्पित करके अपने आपको आध्यात्मिक संस्कारों की प्राप्ति के लिए पात्र साबित करता है तो उस मनुष्य का तन और मन आनंद से खिल उठता है।

सोदरु के प्रारंभ में ही वाणी के नाम के अनुरूप गुरु नानकदेव ने परमात्मा के भव्य दरबार का चित्रण किया है। इस दरबार में संगीत और उसके सभी साज, देवतागण, साधु, सदाचारी, पंडित, ऋषि-मुनि, सुंदर नारियाँ, भक्त, योद्धा, सूरमे और अदृश्य तत्त्व मौजूद हैं, जो उसके दरबार की शोभा बढ़ाते हैं और उसकी महिमा का गुणगान करते हैं—

'सो दरु तेरा केहा सो घरु केहा, जित बहि सरब सँभाले।
वाजे तेरे नाद अनेक असंखा, केते तेरे वावण हारे।
केते तेरे राग परी सिउ कहीअहि, केते तेरे गावणहारे।

गावनि तुधनो पवणु पाणी बैसंतरु, गावै राजा धरमु दुआरे।
गावनि तुधनो चितु गुप्तु लिखि जाणनि लिखि लिखि धरमु बीचारे।

× × ×

होर केते तुधनो गावनि, से मै चिति न आवनि,
नानक किआ बीचारे॥'

'सो दरु' (उसका दरबार) के बाद 'सो पुरखु' (यानी अकाल पुरुष परमात्मा) रहिरास की वाणी का दूसरा प्रमुख अंग है। 'सो दरु' में परमात्मा के दरबार का वर्णन है तो 'सो पुरखु' में खुद परमात्मा के गुणों का जिक्र है। यह शबद गुरु रामदास द्वारा रचित है। वह पुरुष (परमात्मा) 'निरंजन' अर्थात् माया से मुक्त है। वह 'दातारा' अर्थात् धन, मान, पद, प्रतिष्ठा देनेवाला है। वह अगम्य है। वह निर्भय और भक्ति का भांडार है। वह सृष्टि को बनानेवाला और अटल है। वह सभी दुःखों का विनाश करता है। सब जीवों में विद्यमान होने के कारण वह स्वयं मालिक भी है और सेवक भी। किसी जीव को दाता और किसीको भिखारी बना देना भी उसका अजब तमाशा है। उसे पाने के लिए अनगिनत जीव तप-साधना करते हैं, अनेक जीव स्मृतियाँ और शास्त्र पढ़ते हैं। वह परमात्मा सब जीवों के हृदय की बात जानता है—

'सो पुरखु निरंजनु, हरि पुरखु निरंजनु, हरि अगमा अगम अपारा।
सभि धिआवहि सभि धिआवहि तुधु जी, हरि सचे सिरजणहारा॥
सभि जीअ तुमारे जी, तूँ जीआ का दातारा।
हरि धिआवहु संतहु जी, सभि दूख विसारण हारा॥
तूँ घट घट अंतरि, सरब निरंतरि जी, हरि एको पुरखु समाणा।
इकि दाते, इकि भेखारी जी, सभि तेरे चोज विडाणा॥'

रहिरास में राग आसा में महला ५ के अधीन दर्ज शबद '**भई परापति मानुख देहुरीआ**...' में जीव को प्रभु सुमिरन द्वारा मानव जीवन को सफल करने का उपदेश दिया गया है। इस शबद में गुरु अर्जनदेव फरमाते हैं कि हे भाई, तुम्हें सुंदर मानव शरीर प्राप्त हुआ है। परमात्मा से मिलने का तेरे पास यही अवसर है। अगर तूने उससे मिलने का कोई उद्यम नहीं किया तो तेरे सभी कार्य बेकार हैं। माया के वश होकर तेरा जन्म व्यर्थ जा रहा है। न तूने जप-तप किया, न धर्म की कमाई की, न सेवा की और न प्रभु को जाना। प्रभु के चरणों में प्रार्थना कर और कह—हे ईश्वर, मैं नीचकर्मी जीव हूँ और तुम्हारी शरण में आया हूँ। मेरी लाज रखो।

रहिरास के चौपाई शबद में गुरु गोबिंद सिंह ने परमात्मा के उस असिधुज और खड़्गकेत रूप का वर्णन किया है जो अपने भक्तों की रक्षा और दुष्टों, शत्रुओं तथा म्लेच्छों का संहार

करता है—

'दीन बंधु दुस्टन के हंता। तुम हो पुरी चतुर दस कंता॥'

वाणी के अंतिम दो श्लोकों में गुरु अर्जनदेव भक्त की उच्च विनम्रता का वर्णन करते हुए फ़रमाते हैं कि हे प्रभु, मैं तेरे उपकारों की कद्र नहीं जान सका। मैं गुणहीन हूँ और मुझमें कोई गुण नहीं। फिर भी तेरी कृपा-दृष्टि से मुझे गुरु प्राप्त हुआ और मेरा तन-मन खिल उठा।

सोहिला

इस वाणी के तीन नाम प्रचलित हैं—सोहिला, कीरतन सोहिला और आरती सोहिला। इसमें कुल पाँच शबद हैं। इनमें प्रथम तीन शबद महला १ शीर्षक के अधीन गुरु नानकदेव के हैं। महला ४ के अधीन चौथा शबद गुरु रामदास का है। अंतिम शबद महला ५ शीर्षक के अधीन गुरु अर्जनदेव का है।

सोहिला की वाणी का पाठ रात को सोने से पहले किया जाता है। इसके अलावा किसी व्यक्ति की मृत्यु हो जाने पर उसके पार्थिव शरीर के अंतिम संस्कार के बाद भी सोहिला की वाणी का पाठ किए जाने की मर्यादा है।

'जै घर कीरति आखीऐ, कर्ते का होइ बीचारो...' रहिरास की वाणी का पहला शबद है। इस शबद में गुरु नानकदेव जगत् के चलायमान रूप का चित्र पेश करते हुए समझाते हैं कि इस संसार में कोई भी व्यक्ति स्थायी नहीं है। सबको एक-न-एक दिन जाना है। इसलिए प्राणी को सत्संग में जाकर निर्भय होकर ईश्वर की महिमा का गायन करना चाहिए।

'छिअ घर, छिअ गुर, छिअ उपदेस...' नामक दूसरे शबद में परमात्मा की अखंडता का वर्णन है। इसमें बताया गया है कि भले ही ईश्वर की कीर्ति का बखान करनेवाले छह शास्त्रों (सांख्य, न्याय, वैशेषिक, योग, मीमांसा और वेदांत) के कर्ता (कल्प, गौतम, कणाद, पतंजलि, जैमिनी और व्यास) और उनका उपदेश अलग-अलग है। भले ही ईश्वर के रूप अलग हैं, पर अंतिम सत्ता एक ही है।

तीसरा शबद **''गगन मै थालु, रवि चंदु दीपक बने, तारिका मंडल, जनक मोती...'** है। इसमें गुरुजी ने थाली में दीपक जलाकर आरती करने की प्राचीन और प्रचलित परंपरा से हटकर आरती का नया रूप चित्रित किया है। गुरुदेव का कथन है कि सारा आकाश ही ईश्वर की आरती का थाल है। सूर्य और चाँद उस थाल में सजे हुए दीपक हैं। तारों के समूह थाल में रखे हुए बेशकीमती मोतियों के समान हैं। मलय पर्वत की ओर से आनेवाली वायु मानो धूप-अगरबत्ती का कार्य कर रही है। पवन चँवर डुला रहा है और समूची वनस्पति मानो ज्योति रूपी प्रभु की आरती

में फूल बरसा रही है। आवागमन के चक्र से मुक्ति दिलानेवाले हे ईश्वर, प्रकृति में तेरी कितनी सुंदर आरती हो रही है और ऐसा लगता है मानो नगाड़े बज रहे हैं।

इसी शबद में आगे गुरुदेव सभी जीवों में एक ईश्वर की ज्योति व्याप्त होने का वर्णन करते हैं और फरमाते हैं कि हे ईश्वर, तुम्हारे चरण कमल रूपी मकरंद को पाने के लिए मेरा मन ललचाता है। इस पपीहे को अपनी कृपा का जल प्रदान करो, जिसे पाकर मेरे मन में तुम्हारे नाम का वास हो जाए।

सोहिला का चौथा शबद है, **'कामि क्रोधि, नगरु बहु भरिआ, मिलि साधु खंडल खंडा है…'**। गुरु रामदास इस शबद में बताते हैं कि मनुष्य का शरीर काम, क्रोध, अहंकार जैसे विकारों से भरा हुआ है और केवल प्रभु का नाम सुमिरन ही उसे इन विकारों और आवागमन के चक्र से मुक्ति दिला सकता है।

'करउ बेनंती सुणहु मेरे मीता, संत टहल की बेला…' नामक पाँचवें और अंतिम शबद में इसके रचयिता गुरु अर्जनदेव मनुष्य को जैसे झिंझोड़कर कहते हैं कि दिन-रात बीतने के साथ-साथ तुम्हारी उम्र भी घटती जा रही है। संतजनों की सेवा और प्रभु का नाम सुमिरन करके अगला जन्म सँवारने का यही समय है। इसलिए जिस कार्य (सेवा और सुमिरन) के लिए तुम इस संसार में आए हो, उसे पूरा करो।

□

पौराणिक नाम और संदर्भ

गुरुपद परंपरा की दृष्टि से 'गुरु ग्रंथ साहिब' भले ही सिखों का धार्मिक गुरु है, पर स्वरूप, संदेश और ईश्वर के संबोधन की दृष्टि से वह संपूर्ण मानव जाति की आध्यात्मिक विरासत है। यह एक सर्वसाझा ग्रंथ है। इस पवित्र ग्रंथ के धर्मनिरपेक्ष स्वरूप की एक अद्‌भुत विशेषता यह है कि इसमें परमात्मा के लिए विशुद्ध सिख संबोधन 'वाहिगुरु' सिर्फ सोलह बार आया है। इसके विपरीत हिंदू धर्म द्वारा संबोधित ईश्वर के विभिन्न प्रचलित नाम सैकड़ों से लेकर हजारों की संख्या में आए हैं। उदाहरण के लिए, इसमें 'हरि' नाम सबसे अधिक यानी आठ हजार तीन सौ चौवालीस बार आया है। दूसरे नंबर पर 'राम' का नाम है, जो दो हजार पाँच सौ तैंतीस बार प्रयुक्त हुआ है। इसी प्रकार 'प्रभु' शब्द एक हजार तीन सौ इकहत्तर बार, 'गोपाल' शब्द चार सौ इक्यानबे बार, 'ठाकुर' शब्द दो सौ सोलह बार, 'मुरारि' शब्द सत्तानबे बार और 'सतिनाम' शब्द उनसठ बार इस्तेमाल हुआ है। इसके अलावा गोविंद, माधव, पारब्रह्म, परमेश्वर, निरंकार, निर्गुण, चतुर्भुज, जगदीश, गुसैंया (गोसाई), करतार, कर्ता जैसे अन्य हिंदू संबोधनों के अतिरिक्त गरीबनवाज, अल्लाह, करीम, रहीम, रब, खुदा जैसे इसलामी संबोधन भी अनेक जगह प्रयुक्त हुए हैं।

हिंदू पुराणों और अन्य धर्मग्रंथों से जुड़ी महान् विभूतियों तथा अन्य विशिष्ट पात्रों और प्रसंगों का भी 'गुरु ग्रंथ साहिब' में अनेक स्थान पर उल्लेख आया है। इसमें उल्लिखित कुछ प्रमुख पौराणिक नाम हैं—ध्रुव, प्रह्लाद, पांचाली (द्रौपदी), कृष्ण, राम, लक्ष्मण, सीता, बाली, हनुमान्, अहल्या, अजामिल, विदुर, जरासंध, दुर्योधन, रावण, परशुराम, नारद, हिरण्यकशिपु, गणिका, रक्तबीज, सुदामा इत्यादि। वाणीकार गुरुओं अथवा संतों-भक्तों ने इन नामों अथवा इनसे संबंधित प्रसंगों को अपनी वाणी में उपयुक्त स्थान पर रूपक अथवा उदाहरणों के रूप में प्रयुक्त किया है। इसके पीछे उनका उद्‌देश्य एक ही था—भक्तों की रक्षा, दुष्टों का संहार, पतितों का उद्धार करनेवाले परमात्मा के सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक, करुणामय और भक्तवत्सल रूप का चित्रण।

भारत के पौराणिक साहित्य में रामायण और महाभारत दो सबसे अधिक लोकप्रिय ग्रंथ हैं,

जिनके पात्र और प्रसंग अच्छाई और बुराई दोनों ही संदर्भों में भारतीय जनमानस और लोक जीवन को सदियों से प्रभावित करते आए हैं। इन दोनों ग्रंथों से 'गुरु ग्रंथ साहिब' में अनेक पात्रों और प्रसंगों का सुंदर उल्लेख हुआ है। राजा जनक के कुल-पुरोहित गौतम ऋषि की पत्नी अहल्या का श्रीरामचंद्रजी द्वारा उद्धार 'रामायण' का एक प्रमुख प्रसंग है। प्रभु के उद्धारक और मुक्तिदाता गुणों के वर्णन में इस प्रसंग का 'गुरु ग्रंथ साहिब' में कई जगह वर्णन आया है। उदाहरण के लिए, पृष्ठ ९८८ पर दर्ज नामदेव की वाणी में उल्लेख है—

'गौतम नारि अहलिआ तारी, पावन केतक तारीअले।'

लंका नरेश रावण की कैद से सीता को मुक्त करवाने के लिए श्रीरामचंद्रजी द्वारा समुद्र पर पुल बनाने, लंका पर चढ़ाई करने, रावण का संहार करने और उसके भाई विभीषण को राज देने की घटना का भी 'गुरु ग्रंथ साहिब' में वर्णन आया है। इसी विशेष संदर्भ में समुद्र पर पुल निर्माण के दौरान पत्थरों के तैरने का भी वर्णन प्रभु की कृपा के रूप में हुआ है—

'गुरमुखि बाधिउ सेतु बिधातै।
लंका लूटी दैत संतापै॥
रामचंदि मारिउ अहिरावणु।
भेदु बभीखण गुरमुखि परचाइणु॥
गुरमुखि साइरि पाहण तारे।
गुरमुखि कोटि तेतीस उद्धारे॥'

(पृ. ९४२)

राजसत्ता के नशे में चूर रावण को प्रतीक बनाकर नानकजी अपनी वाणी में प्राणिमात्र को समझाते हैं कि अगर उसने अहंकार नहीं छोड़ा तो उसका भी वही दुःखद परिणाम होगा जो रावण का हुआ—

'भूलो रावणि मुग्धु अचेति।
लूटी लंका सीस समेति॥'

(पृ. २२४)

आम मनुष्य स्वभाव से डाँवाँडोल प्रकृतिवाला होता है। मामूली सा दुःख या विपत्ति आने पर ही घबरा जाता है और ईश्वर के प्रति उसका विश्वास डगमगाने लगता है। ऐसे मनुष्य को सांत्वना देने के लिए नानकजी अपनी वाणी में इंद्र, परशुराम, श्रीरामचंद्रजी, सीता, लक्ष्मण, रावण, पांडवों, जनमेजय, बाली आदि का उदाहरण देकर समझाते हैं कि इन्हें भी विभिन्न कारणों से दुःख भोगने पड़े। तुम अकेले ही दुःखी नहीं हो। सारा संसार दुःखी है—

'सहंसर दाम दे इंद्र रोआइआ।
परसुराम रोवै घरि आइआ॥
× × ×
रोवै रामु निकाला भइआ।
सीता लखमणु विछड़ि गइआ॥
रोवै दहसिरु लंक गँवाइ।
जिनि सीता आदी डउरू वाइ॥
रोवहि पाडव भए मजूर।
जिन कै सुआमी रहत हदूरि॥
रोवै जनमेजा खुई गइआ।
एकी कारणि पापी भइआ॥
× × ×
बाली रोवै नाहि भतारु।
नानक दुखीआ सभु संसारु॥'

(पृ. ९५४)

कृष्णावतार 'महाभारत' का एक अति प्रसिद्ध चरित्र है। 'गुरु ग्रंथ साहिब' की वाणी में श्रीकृष्ण के जीवन से जुड़े अनेक प्रसंगों का उल्लेख आया है। कृष्ण और गोपियों की लीला का इस पवित्र ग्रंथ में खास जिक्र आया है और श्रीकृष्ण के लिए भक्तवत्सल, अनाथों के नाथ गोविंद तथा गोपीनाथ संबोधन प्रयोग किए गए हैं—

'हरि आपे कान उपाइदा मेरे गोविदा, हरि आपे गोपी खोजी जीउ।'

(पृ. १७४)

तथा

'भगति वछलु अनाथह नाथे, गोपीनाथु सगल है साथे।'

(पृ. १०८२)

श्रीकृष्ण द्वारा दुर्योधन के आमंत्रण को ठुकराकर गरीब विदुर के घर लवण रहित साग खाना 'महाभारत' की एक अति प्रसिद्ध कथा है। इस कथा का संकेत भी 'गुरु ग्रंथ साहिब' में इस पंक्ति में आया है—

'बिदरु दासी सुतु भइउ, पुनीता सगले कुल उजारे।'

(पृ. ९९९)

इसी प्रकार ब्रज की रक्षा के लिए श्रीकृष्ण द्वारा गोवर्धन पर्वत को धारण करने का प्रसंग भी 'गुरु ग्रंथ साहिब' में निम्नलिखित रूप में दर्ज है—

'गुरमति कृस्नि गोवरधन धारे।
गुरमति साइरि पाहण तारे॥'

(पृ. १०४१)

कौरवों की भरी सभा में दु:शासन द्वारा द्रौपदी (पांचाली) का चीरहरण प्रसंग 'महाभारत' की एक खास कथा है। असहाय और बेबस द्रौपदी सहायता के लिए गुहार करती रही; लेकिन किसीमें इतना साहस नहीं था कि वह सामने आकर दु:शासन के कुकृत्य को रोकता। निराश द्रौपदी ने अंत में श्रीकृष्ण को सहायता के लिए पुकारा। प्रभु की ऐसी कृपा हुई कि द्रौपदी की साड़ी लंबी होती चली गई। साड़ी खींचते-खींचते दु:शासन थक गया और उसकी साँस फूल गई, लेकिन वह द्रौपदी को निर्वस्त्र न कर सका। ईश्वर की कृपा से उसकी लाज बच गई। 'गुरु ग्रंथ साहिब' में इस प्रसंग का वर्णन निम्नलिखित शब्दों में हुआ है, जो परमात्मा को भक्तों की लाज के रक्षक के रूप में चित्रित करता है—

'पंचाली कउ राज सभा महि रामनाम सुधि आई।
ता को दूखु हरिउ करुणामै अपनी पैज बढाई॥'

(पृ. १००८)

तथा

'दुहसासन की सभा द्रौपती अंबर लेत उबारीअले।'

(पृ. ९८८)

राक्षसों एवं देवताओं द्वारा सागर मंथन भारतीय पौराणिक साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण कथा है। 'महाभारत' तथा 'रामायण' में इस कथा का विस्तृत वर्णन मिलता है। इस कथा से जुड़े कई प्रसंगों यथा मंदराचल की मथानी से समुद्र का मंथन, चौदह रत्नों की प्राप्ति, समुद्र से निकलने के कारण लक्ष्मी को सागर पुत्री होने का गौरव प्राप्त होना, राहु की उप-कथा आदि का 'गुरु ग्रंथ साहिब' में भी उल्लेख हुआ है। लेकिन उसमें ये प्रसंग सिर्फ आध्यात्मिक विषय वस्तु की पुष्टि के लिए रूपकों तथा दृष्टांतों के रूप में लिये गए हैं—

'पाणी विचहु रतन उपंने मेरु कीआ माधाणी।'

(पृ. १५०)

तथा

**'जिनि समुंदु विरोलिआ करि मेरु मधाणु।
चउदह रतन निकालिअनु कीतोनु चानाणु॥'**

(पृ. ९६८)

बालक ध्रुव और प्रह्लाद 'विष्णुपुराण' और 'भागवतपुराण' के दो प्रमुख पात्र रहे हैं, जिनकी अडोल भक्ति को आज भी धार्मिक प्रवचनों आदि में दृष्टांत के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। 'गुरु ग्रंथ साहिब' में दर्ज भक्त कबीर की वाणी में साधक को उसी तरह प्रभु का नाम जपने की सलाह दी गई है जिस तरह ध्रुव और प्रह्लाद ने जपा—

**'राम जपउ जीअ ऐसे ऐसे।
ध्रू प्रहिलाद जपिउ हरि जैसे॥'**

(पृ. ३३७)

इसी प्रकार गुरु अर्जनदेव की वाणी में भी संकेत आता है कि किस प्रकार पाँच वर्ष का अनाथ बालक अपनी भक्ति के बल पर अटल और अमर हो गया—

'पाँच बरख को अनाथ ध्रू बारिकु, हरि सिमरत अमर अटारे।'

(पृ. ९९९)

प्रह्लाद की रक्षा के लिए ईश्वर का जलते स्तंभ में नरसिंह रूप में प्रकट होने और हिरण्यकशिपु का संहार करने का लोकप्रिय प्रसंग भी 'गुरु ग्रंथ साहिब' में प्रभु के भक्तरक्षक गुण के वर्णन के संदर्भ में निम्नलिखित शब्दों में आया है—

'संत प्रह्लाद की पैज जिनि राखी, हरनाखसु नख बिदरिउ।'

(पृ. ८५६)

तथा

**'प्रभु नाराइण गरब प्रहारी।
प्रह्लाद उद्धारे किरपा धारी॥'**

(पृ. २२४)

हिरण्यकशिपु के अलावा रावण, सहस्रबाहु, मधु-कैटभ, जरासंध, महिषासुर, कालयवन, रक्तबीज और कालनेमि इत्यादि भारतीय पौराणिक साहित्य के प्रमुख आसुरी (राक्षसी) पात्र हुए हैं, जिन्होंने अपनी सत्ता या शक्ति के घमंड और नशे में चूर होकर लोगों पर काफी अत्याचार किए। दु:खी हृदयों की पुकार सुनकर ईश्वर अलग-अलग रूपों में प्रकट हुए और उन दुष्टों का संहार करके लोगों को उनके अत्याचारों से छुटकारा दिलाया। 'गुरु ग्रंथ साहिब' की वाणी में अहंकार के गंभीर परिणामों की चेतावनी के संदर्भ में इन सबके नामों का उल्लेख मिलता है—

‘दुरमति हरणाखसु दुराचारी।
प्रभु नाराइण गरब प्रहारी॥
× × ×
सहसबाहु मधुकीट महिखासा।
हरणाखसु ले नखहु बिधासा॥
× × ×
जरासंधि कालजमुन संहारे।
रक्तबीजु कालुनेमु बिदारे॥’

(पृ. २२४)

नाम सुमिरन के द्वारा प्राप्त होनेवाली प्रभु की कृपा की उच्च महिमा और महत्त्व को प्रभावशाली ढंग से दरशाने के लिए ‘गुरु ग्रंथ साहिब’ में दर्ज गुरुओं और संत-भक्तों की वाणी में ऐसे कई पौराणिक चरित्रों का वर्णन आया है जिनके पाप अधिक थे, पुण्य कम या शून्य। फिर भी संकट की घड़ी में सच्चे मन से जब उन्होंने ईश्वर को याद किया तो ईश्वर ने उनकी रक्षा की और वे मुक्ति को प्राप्त हुए। गणिका (काशी की एक वेश्या जिसका नाम चंद्रवती था), कुब्जा (कंस की मालिनी, जो श्रीकृष्ण के लिए फूल आदि लाती थी), अजामिल (एक ब्राह्मण, जो वेश्या के जाल में फँसकर भ्रष्ट हो गए थे), विदुर, उग्रसेन इत्यादि ऐसे प्रमुख पौराणिक पात्र हैं जिनका ‘गुरु ग्रंथ साहिब’ में कई स्थानों पर उल्लेख हुआ है—

‘देवा पाहन तारीअले, राम कहत जन कस न तरे।
तारीले गनिका बिनु रूप कुबिजा।
बिआधि अजामलु तारीअले।
चरन बधिक जन तेऊ मुकति भए, हउ बलि बलि जिन राम कहे।
दासी सुत जनु बिदरु सुदामा, उग्रसैन कउ राज दीए।
जपहीन तपहीन कुलहीन कर्महीन, नामे के सुआमी तेऊ तरे॥’

(पृ. ३४५)

तथा

‘हरि को नामु सदा सुखदाई।
जा कउ सिमरि अजामलु उधरिउ, गनका हू गति पाई॥’

(पृ. १००८)

तथा

'सूआ पढावत गनिका तरी।'

(पृ. ८७४)

तथा

'कुबिजा उद्धरी अंगुस्ट धार।'

(पृ. ११९२)

राजाओं के प्रसंग में अगर बुरे तथा अन्यायी शासक के लिए हिरण्यकशिपु, कंस अथवा रावण को दृष्टांत के रूप में पेश किया गया है तो अच्छाई, सत्यवादिता और दानशीलता के लिए राजा हरिश्चंद्र का उल्लेख किया गया है। दानी, धर्मी और सत्यवादी राजा होने के बावजूद हरिश्चंद्र को एक चंडाल के घर बिकना पड़ा तथा गुलामी करनी पड़ी। राजा हरिश्चंद्र के संदर्भ में गुरुवाणी बताती है कि कर्मों के फल से किसीका छुटकारा नहीं है। वह तो भुगतना ही पड़ता है—

'तिनि हरीचंदि प्रिथमी पति राजे कागदि कीम न पाई।'

(पृ. १३४४)

तथा

'हरीचंदु दानु करै जसु लेवै।
बिनु गुर अंत न पाइ अभेवै॥'

(पृ. २२४)

'स्कंदपुराण', 'नारदपुराण' और 'महाभारत' का एक अति चर्चित एवं लोकप्रिय पात्र है चित्रगुप्त, जिसके बारे में यह मान्यता है कि वह मनुष्य के पाप-पुण्य का हिसाब-किताब रखता है। पुराणों में उसकी उत्पत्ति ब्रह्माजी के शरीर से मानी गई है और उसे कायस्थ भी कहा गया है। 'गुरु ग्रंथ साहिब' में दो संदर्भों में चित्रगुप्त का उल्लेख हुआ है। पहले संदर्भ में बुरे तथा अनैतिक कार्य करनेवाले मनुष्य को चेतावनी दी गई है कि मानव जीवन में वह भले ही सबसे छिपकर परदे की ओट में अनैतिक कार्य कर ले, पर मरने के बाद वह इन कर्मों को चित्रगुप्त से नहीं छिपा सकेगा—

'देइ किवाड़ अनिक पड़दे महि, परदारा संग फाकै।
चित्रगुप्तु जब लेखा मागहि, तब कउणु पड़दा तेरा ढाकै॥'

(पृ. ६१६)

अन्यत्र प्रभु के भक्तों का चित्रगुप्त से बचाव की कल्पना की गई है और यह बताया गया है कि अगर प्राणी पर ईश्वर की कृपा हो जाए तो उसके पाप भी पुण्य में बदल जाते हैं—

'चित्रगुप्तु सभ लिखते लेखा।
भगत जना कउ दृस्टि न पेखा॥'

(पृ. ३९३)

आम पौराणिक मान्यता है कि संसार से पाप व पापियों के विनाश के लिए तथा धर्म की रक्षा के लिए परमात्मा मनुष्य के रूप में सृष्टि में अवतार धारण करता है और पिछले तीन युगों—सतयुग, त्रेता और द्वापर में ईश्वर ने आठ बार धरती पर अवतार धारण किया। नौवीं बार कलियुग में प्रभु गौतम बुद्ध के रूप में धरती पर आए। उनके बाद दसवीं बार ईश्वर कल्कि अवतार के रूप में धरती पर प्रकट हुए। ये दस अवतार हैं—

१. मत्स्य अवतार, २. कूर्म अवतार, ३. वराह अवतार, ४. नृसिंह अवतार, ५. वामन अवतार, ६. परशुराम अवतार, ७. श्रीरामचंद्र अवतार, ८. श्रीकृष्ण अवतार, ९. बुद्ध अवतार तथा १०. कल्कि अवतार।

सिद्धांत रूप में 'गुरु ग्रंथ साहिब' की वाणी अवतारवाद की धारणा का समर्थन नहीं करती, क्योंकि उसका परमात्मा 'अजूनी' है, अत: वह जन्म-मरण के चक्र में नहीं आता। परंतु ईश्वर की इच्छा (हुक्म) को सर्वोपरि दरशाने के लिए 'गुरु ग्रंथ साहिब' की वाणी में 'चौबीस अवतार' एवं 'दस अवतार' के कुछ प्रसंग आए हैं। चौबीस अवतारों में दस अवतार तो उपर्युक्त ही हैं जो गुरुवाणी के अनुसार, प्रभु की इच्छा से धरती पर मानव रूप में प्रकट हुए। बाकी चौदह अवतार अपनी भक्ति अथवा शक्ति के द्वारा इस पदवी तक पहुँचे—

'हुकमि उपाओे दस अवतारा।
देव दानव अगणत अपारा॥'

(पृ. १०३७)

तथा

'अनिक पुरख अंसा अवतार।
अनिक इंद्र ऊभे दरबार॥'

(पृ. १२३५)

इसके अलावा 'गुरु ग्रंथ साहिब' के पृष्ठ १०८२ पर गुरु अर्जनदेव के निम्नलिखित शबद में अवतारों की चर्चा करते हुए बताया गया है कि सभी अवतार उसी अविनाशी और अगोचर परमात्मा के ही अंश हैं और उसीके हुक्म से वे अवतरित हुए—

'धरणीधर ईस नरसिंह नाराइण,
दाड़ा अग्रे प्रिथमि धराइण।

बावन रूपु कीआ तुधु करते,
सभ ही सेती है चंगा।
स्री रामचंद्र जिसु रूपु न रेखिआ,
बनवाली चक्रपाणि दरसि अनूपिआ।
सहस नेत्र मूरति है सहसा,
इकु दाता सभ हैं मंगा॥

× × ×

अमोध दरसन आजूनी संभउ,
अकाल मूरति जिसु कदे नाही खउ।
अबिनासी अबिगत अगोचर,
सभु किछु तुझ ही है लगा॥'

तथा

'स्री रंग बैकुंठ के वासी।
मछु कछु कूरमु आगिआ अऊतरासी॥'

□

सम्मान और मर्यादा

'गुरु ग्रंथ साहिब' कोई साधारण काव्य नहीं और न ही इसकी वाणी साधारण कविता अथवा गीत है। यह वाणी देवलोक से आई जिसे गुरुओं और संतों ने ईश्वर के आदेश पर उच्चरित किया। इसलिए 'गुरु ग्रंथ साहिब' की वाणी 'धुर' (ईश्वर लोक) की वाणी, 'सच्ची वाणी', 'महापुरुष की वाणी' कहलाई। गुरु अर्जनदेव स्पष्ट बताते हैं कि यह वाणी ईश्वर लोक (धुर) से आई और मैंने प्रभु के आदेश पर इसका उच्चारण किया—**'धुर की बाणी आई, तिनि सगली चिंत मिटाई'** तथा **'हउ आपहु बोलि न जाणदा, मै कहिआ सभु हुकमाउ जीउ।'**

अत: ईश्वरीय वाणी के विशाल सागर 'गुरु ग्रंथ साहिब' का पूर्ण सम्मान करना, उसे पूर्ण धार्मिक मर्यादा तथा सम्मान के साथ रखना प्रत्येक प्राणी का परम कर्तव्य है। स्वयं गुरु अर्जनदेव ने इस पवित्र ग्रंथ के संकलन के बाद हरिमंदिर साहिब (स्वर्ण मंदिर, अमृतसर) में जब इसका 'प्रकाश' (धार्मिक मर्यादा के साथ स्थापना) किया तो उस दिन से वे गुरुगद्दी की बजाय नीचे फर्श पर बाकी संगत के साथ बैठते और पवित्र ग्रंथ का प्रकाश ऊँचे आसन पर करते।

'गुरु ग्रंथ साहिब' को ऊँचे स्थल पर मंजी साहिब (खटोला) पर या धातु की बनी पालकी में धार्मिक मर्यादा एवं सम्मान के साथ सुंदर चौकोर वस्त्र (आम बोलचाल में इसे 'रूमाला' कहा जाता है) से आवृत करके रखने को 'गुरु ग्रंथ साहिब का प्रकाश' कहते हैं। प्रत्येक गुरुद्वारे के अलावा कई सिख घरों में भी अलग कमरे में 'गुरु ग्रंथ साहिब' का प्रकाश होता है। प्रकाशवाले स्थान पर चंदोआ तानना आवश्यक है। 'गुरु ग्रंथ साहिब' के सम्मान के लिए उसपर चँवर झुलाया जाता है।

सिख धर्म धार्मिक कार्यों के लिए उपयुक्त दिशा, स्थान, समय आदि के चयन जैसे अंधविश्वासों को नहीं मानता। इसलिए संगत की सुविधावाली किसी भी दिशा में घर के किसी भी स्वच्छ, खुले, हवादार कमरे में 'गुरु ग्रंथ साहिब' का प्रकाश किया जा सकता है। गुरुद्वारों में तथा जिन घरों में यह पवित्र ग्रंथ है, प्रतिदिन तड़के शबद-गुरुवाणी का उच्चारण करते हुए 'गुरु ग्रंथ साहिब' का प्रकाश किया जाता है। प्रकाश की अवस्था में गुरु ग्रंथ को खुला लेकिन रूमाले से

आवृत करके रखा जाता है। गुरुद्वारों में 'गुरु ग्रंथ साहिब' की हुजूरी में दिन भर कथा और कीरतन होता है। सिर्फ पाठ के लिए अलग कीर्तन की समाप्ति पर 'हुक्मनामा' लेने के लिए 'गुरु ग्रंथ साहिब' पर से रूमाला हटाया जाता है। पाठ करने अथवा हुक्मनामा लेने के बाद पवित्र ग्रंथ को पुनः रूमालों से आवृत कर दिया जाता है।

रात्रि के समय (करीब नौ-दस बजे) गुरुवाणी के शबदों का उच्चारण करते हुए 'गुरु ग्रंथ साहिब' के 'सुखासन' की पवित्र प्रक्रिया आरंभ होती है। इस समय रूमाले को हटा लिया जाता है और तह करके एक ओर रख दिया जाता है। गुरुवाणी का उच्चारण करते हुए ग्रंथीजी इस पवित्र ग्रंथ को बड़ी श्रद्धा से बंद करते हैं। इसके बाद दिवस की आखिरी अरदास की जाती है। अरदास के बाद ग्रंथीजी 'गुरु ग्रंथ साहिब' को अपने सिर पर धारण करके इस पवित्र ग्रंथ के सुखासन कक्ष तक ले जाते हैं। उस वक्त उपस्थित सभी श्रद्धालु भी गुरुवाणी का गायन करते हुए उनके साथ-साथ चलते हैं। सुख आसन कक्ष में पूर्ण श्रद्धा के साथ 'गुरु ग्रंथ साहिब' को रखा जाता है और सभी श्रद्धालु घर के लिए विदा लेते हैं।

खुशी, गमी या संकट के समय कई सिख तथा गुरुवाणी में आस्था एवं श्रद्धा रखनेवाले गैर-सिख घर में या गुरुद्वारे में बिना रुके 'गुरु ग्रंथ साहिब' का अखंड पाठ करवाते हैं। यह पाठ लगभग अड़तालीस घंटे में पूर्ण होता है।

□

गुरुवाणी के कुछ अनमोल रत्न

१. अकृतघ्न

'अकिरतघणा का करे उद्धार।
प्रभु मेरा है सद दइआरु॥' *(पृ. ८९८)*

—दयालु प्रभु अकृतघ्न व्यक्तियों का भी उद्धार करता है।

'अकिरतघणै कउ रखै न कोई...' *(पृ. १०८६)*

—अकृतघ्न व्यक्ति को कोई भी मनुष्य शरण नहीं देता।

२. अज्ञानी

'गुरु जिना का अंधुला सिख भी अंधे करम करेनि।' *(पृ. ९५१)*

—जहाँ गुरु स्वयं अज्ञानी है, वहाँ उसके शिष्यों के कार्य भी अंधे होंगे।

३. अरदास (प्रार्थना)

'बिरथी कदी न होवई जन की अरदासि।' *(पृ. ८१९)*

—भक्त की अरदास कभी व्यर्थ नहीं जाती।

'सभु को तेरा तू सभसु दा तूँ सभना रासि।
सभि तुधै पासहु मंगदे नित करि अरदासि॥' *(पृ. ८१)*

—हे ईश्वर, सब प्राणी तुम्हारी संतान हैं, तुम सबके पालनकर्ता हो। सभी जीव अरदास करके तुम्हारी कृपा की याचना करते हैं।

४. अवगुण

'करि अउगण पछोतावणा।' *(पृ. ४७१)*

—बुरे कार्य करनेवाले व्यक्ति को हमेशा अंत में पछताना पड़ता है।

'फरीदा जिनि कंमी नाहि गुण ते कमंड़े विसारि।
मतु सरमिंदा थीवही साईं दै दरबारि॥' (पृ. १३८१)

—फकीर फरीद कहते हैं, जिन कार्यों में कोई अच्छाई नहीं है उन्हें मत कर, ताकि तुझे ईश्वर के दरबार में शर्मिंदा न होना पड़े।

५. अहंकार

'तीरथ व्रत अरु दान करु मन महि धरहि गुमान।
नानक निहफल जात तिह जिउ कुंचर इस्नान॥' (पृ. १४२८)

—तीर्थ, व्रत और दान करके उसके लिए घमंड करने से ये सभी धार्मिक कार्य उसी प्रकार व्यर्थ हो जाते हैं जिस प्रकार हाथी स्नान करने के बाद अपने शरीर पर धूल-मिट्टी डालकर उसे दुबारा मलिन बना लेता है।

'कबीर गरबु न कीजीऐ रंक न हसीऐ कोइ।
अजहु सु नाउ समुद्र महि किआ जानउ क्रिआ होइ॥' (पृ. १३६६)

—कबीरजी कहते हैं कि (अपनी अमीरी का) घमंड नहीं करना चाहिए और न ही गरीब का उपहास उड़ाना चाहिए; क्योंकि अभी तो जीवन रूपी नाव संसार रूपी समुद्र में है। न जाने कब क्या हो जाए।

६. आचार

'करि आचारु सच सुखु होई।' (पृ. १३१)

—सत्य आचरण से सदा सुख प्राप्त होता है।

७. आलस्य

'संत संगि मिलि हरि हरि जपिआ।
बिनसे आलस रोगा जीउ॥' (पृ. १०८)

—संत की संगत में ईश्वर का नाम जपने से आलस्य रूपी रोग दूर होता है।

८. आवागमन

'जमणु मरणा हुकम है भाणै आवै जाइ।' (पृ. ४७२)

—संसार में जीव का जन्म और मरण ईश्वर के हुक्म (इच्छा) से होता है तथा उसकी इच्छा से ही जीव आवागमन के चक्र में आता है।

'उदम करहि अनेक हरि नाम न गावही।
भरमहि जोनि असंख मर जन्महि आवही॥' (पृ. ७०५)

—जो प्राणी तरह-तरह के उद्यम करता है लेकिन ईश्वर का भजन-बंदगी नहीं करता, वह असंख्य योनियों में भटकता है और बार-बार पैदा होता तथा मरता है।

९. कपट

'जिना अंतरि कपटु विकार है तिना रोइ किआ कीजै।' (पृ. ४५०)

—जिन व्यक्तियों के मन में छल-कपट भरा हुआ है उनके लिए (विपत्ति में) रोना व्यर्थ है।

'हिरदै जिनकै कपटु बाहरहु संत कहाहि।
तृस्ना मूलि न चुकई अंति गए पछुताहि॥' (पृ. ४९१)

—हृदय से कपटी और बाहर से स्वयं को संत कहनेवाले व्यक्ति की तृष्णा कभी शांत नहीं होती। अंतकाल में ऐसे व्यक्तियों को पछताना पड़ता है।

१०. कर्म

'विणु करमा किछु पाईऐ नाही जे बहुतेरा धावै।' (पृ. ७२२)

—प्राणी चाहे कितनी ही भाग-दौड़ कर ले, कर्म किए बिना उसे कुछ भी प्राप्त नहीं होगा।

'जेहे करम कमाइ तेहा होइसि।' (पृ. ७३०)

—जो जैसा कर्म करेगा उसे वैसा ही फल प्राप्त होगा।

११. कलह

'कलह बुरी संसारि...' (पृ. १४२)

—कलह (झगड़ा) संसार में बुरी चीज है।

'झगरु कीए झगरउ ही पावा।' (पृ. ३४१)

—झगड़ा करने से झगड़ा ही हासिल होता है।

१२. काजी

'सोई काजी जिनि आप तजिआ इक नामु कीआ आधारो।' (पृ. २४)

—वही व्यक्ति सच्चा काजी है जिसने अहंकार का त्याग करके सिर्फ एक परमात्मा पर विश्वास रखा है।

१३. काम और क्रोध

'कामु क्रोध काइआ कउ गालै।' *(पृ. १३२)*

—काम और क्रोध से शरीर का क्षय होता है।

'उना पासि दुआसि न भिटीऐ जिन अंतरि क्रोधु चंडालु।' *(पृ. ४०)*

—जिन व्यक्तियों के हृदय में क्रोध रूपी चंडाल बसता है, उनकी संगत नहीं करनी चाहिए।

१४. काल

'जो उपजिउ सो बिनस है परो आज कि काल।' *(पृ. १४२९)*

—इस संसार में जो भी पैदा हुआ है एक दिन उसका विनाश भी अवश्य होगा।

'कालु बिआलु जिउ परिउ डोलै मुखु पसारे मीत।' *(पृ. ६३१)*

—हे मित्र, काल (मृत्यु) भयानक साँप की तरह मुँह खोलकर घूम रहा है।

१५. कीरतन

'जो जो कथै सुनै हरि कीरतन ता की दुरमति नासु।
सगल मनोरथ पावै नानक पूरन होवै आसु॥' *(पृ. १३००)*

—जो व्यक्ति कीरतन गाते और सुनते हैं उनकी कुबुद्धि दूर होती है और सभी मनोकामनाएँ तथा इच्छाएँ पूरी होती हैं।

'कलजुग महि कीरतन परधाना।' *(पृ. १७८)*

—कलियुग में सिर्फ कीरतन ही प्रधान (सबसे प्रमुख चीज) है।

'कीरतन निरमोलक हीरा...' *(पृ. ८९३)*

—कीरतन एक अमूल्य हीरा है।

१६. कुदरत (प्रकृति)

'बलिहारी कुदरति वसिआ, तेरा अंतु न जाई लखिआ।' *(पृ. ४६९)*

—प्रकृति (के कण-कण) में बसे हुए हे ईश्वर! मैं तुझपर बलिहार जाता हूँ। तेरा अंत नहीं पाया जा सकता।

'अनिक रूप खिन माहि कुदरति धारदा।' *(पृ. ५१९)*

—प्रकृति एक क्षण में कई रूप धारण करती है।

१७. कुसंगति

'कुसंगति बहहि सदा दुखु पावहि...' *(पृ. १०६८)*

—बुरी संगत में बैठने से हमेशा दु:ख प्राप्त होता है।

१८. खान-पान

'सो किउ मनहु विसारीऐ जाके जीअ पराण।
तिसु विणु सभु अपवितु है जेता पहिनणु खाणु॥' *(पृ. १६)*

—जिस ईश्वर ने हमें जीवन और प्राण दिए उसे भूलना अनुचित है। उसके स्मरण के बिना सब खाना और पहनना अपवित्र है।

१९. गुण

'सभि गुण तेरे मै नाही कोई।
विणु गुण कीते भगति न होइ॥' *(पृ. ४)*

—हे ईश्वर, सभी गुण तुम्हारे हैं। मुझमें कोई गुण नहीं है। और गुणों के बिना भक्ति नहीं हो सकती।

'गुण का गाहकु नानका विरला कोई होइ।' *(पृ. १०९२)*

—नानकजी कहते हैं, इस संसार में गुणों का ग्राहक कोई विरला ही होता है।

२०. गुरुवाणी

'लोग जानै इहु गीतु है इहु तउ ब्रह्म बीचारु।' *(पृ. ३३५)*

—साधारण लोग गुरुवाणी को गीत समझते हैं; लेकिन यह तो ईश्वर का विचार है।

'दूख रोग संताप उतरे सुणी सची बाणी।' *(पृ. ९२२)*

—सच्ची वाणी सुननेवाले व्यक्ति के सभी दु:ख, रोग और संताप दूर हो जाते हैं।

२१. चतुराई

'रे मनु माधउ सिउ लाईऐ।
चतुराई न चतुर्भुज पाईऐ॥' *(पृ. ३२४)*

—हे मन, परमात्मा के साथ चित्त जोड़। चतुराई से ईश्वर प्राप्त नहीं होता।

'सहस सिआणपा लख होहि त इक ना चलै नालि।' *(पृ. १)*

—मनुष्य में चाहे हजारों-लाखों चतुराइयाँ हों, अंत में उनमें से एक भी उसके साथ नहीं जाती।

२२. चरण कमल

'चरन कमल हिरदै वसहि संकट सभि खोवै।' *(पृ. ३२२)*

—जिस प्राणी के हृदय में प्रभु के चरण कमल बस जाते हैं उसके सभी सकंट दूर हो जाते हैं।

'राज न चाहउ मुक्ति न चाहउ मनि प्रीति चरन कमलारे।' *(पृ. ५३४)*

—मुझे न राजपाट की इच्छा है, न मुक्ति की। मुझे तो केवल प्रभु के चरण कमलों से प्यार की कामना है।

२३. चाकर (सेवक)

'चाकरु लगे चाकरी, जे चलै खसमै भाइ।
हुरमति तिसनो अगली, उहु वजहु भि दूणा खाइ॥
खसमै करे बराबरी, फिरि गैरति अदरि पाइ।
वजहु गवाए अगला, मुहे महि पाणा खाइ॥' *(पृ. ४७४)*

—उसी सेवक की सेवा सफल है जो अपने मालिक (प्रभु) की इच्छा के अनुसार चले। ऐसे सेवक को मालिक से सम्मान तथा दोगुना इनाम मिलता है। जो सेवक अपने मालिक से बराबरी करने लगता है वह अपनी सेवा का पहला इनाम भी गँवा बैठता है और मुँह की खाता है।

२४. चिंता

'आज हमारै महा आनंद चिंत लथी भेटे गोबिंद।' *(पृ. ११८०)*

—ईश्वर से मिलन होने पर मेरी सब चिंताएँ मिट गईं और हृदय को महा आनंद की प्राप्ति हुई।

'चिंता ता की कीजीअै जो अनहोनी होइ।
इहु मारगु संसार को नानक थिरु नही कोइ॥' *(पृ. १४२८)*

—चिंता उस घटना की करनी चाहिए जो अनहोनी हो। नानकदेव कहते हैं, संसार का राह ही ऐसा है कि यहाँ से हर किसीको जाना (मरना) है। कोई भी यहाँ स्थिर नहीं है।

'सो करता चिंता करे जिनि उपाइआ जगु।' *(पृ. ४६७)*

जिस ईश्वर ने सृष्टि की रचना की है, वह अपने जीवों के पालन-पोषण की भी चिंता करता है।

२५. जगत्

> 'जग रचना सब झूठ है जानि लेहु रे मीत।
> कहि नानक थिरु न रहै जिउ बालू की भीति॥' *(पृ. १४२८)*

—हे मित्र, यह बात अच्छी तरह जान लो कि जगत् का सारा खेल-तमाशा नाशवान् है। नानक का कथन है, यह जगत् रचना सदा स्थिर नहीं रहती, बल्कि रेत की दीवार की तरह धराशायी हो जाती है।

> 'रे नर इह साची जीअ धारि।
> सगल जगत् है जैसे सुपना बिनसत लगत न बार॥' *(पृ. ६३३)*

—हे प्राणी, इस अटल सच्चाई को अपने मन में बसा ले कि यह संसार सपने की तरह है और इसका विनाश होने में जरा भी देर नहीं लगती।

> 'किसु नालि कीचै दोस्ती सभु जगु चलणहारु।' *(पृ. ४६८)*

—इस जगत् में किसके साथ (स्थायी) दोस्ती की जाए। सभी को एक-न-एक दिन यहाँ से चले जाना है।

२६. जन्

> 'हरि जनु ऐसा चाहीऐ जैसा हरि ही होए।' *(पृ. १३७२)*

—वही व्यक्ति हरि का सच्चा जन है जिसमें हरि के समान गुण हैं।

> 'हरि जनु राम नाम गुन गावै।
> जे कोई निंद करे हरि जन की अपुना गुनु न गवावै॥' *(पृ. ७२०)*

—हरि के जन राम के नाम का गुणगान करते हैं। हरि के ऐसे जनों की निंदा करनेवाला कभी यश प्राप्त नहीं करता।

२७. जनेऊ

> 'दइआ कपाह संतोखु सूतु, जतु गंढी सतु वटु।
> एहु जनेऊ जीअ का, हई त पाडे घतु॥
> ना एहु तुटै न मलु लगै, ना एहु जलै न जाइ।
> धंनु सु माणस नानका, जो गलि चले पाइ॥' *(पृ. ४७१)*

—हे पंडित, जिसमें दया की कपास हो, संतोष का धागा हो, स्व नियंत्रण की गाँठ लगी हो और

सत्य की ऐंठन हो, अगर तुम्हारे पास आत्मा का ऐसा कोई जनेऊ हो तो मुझे पहना दो। यह जनेऊ न टूटता है, न मैला होता है, न जलता है और न कभी गुम होता है। नानक, वे मनुष्य धन्य हैं जो ऐसा जनेऊ गले में धारण करते हैं।

२८. जप-तप

'जपु तपु संजमु सभु गुर ते होवै...' *(पृ. ६०२)*

—जप, तप और संयम गुरु से प्राप्त होता है।

'सो जपु सो तपु जि सतिगुर भावै।' *(पृ. ५०९)*

—वही जप और वही तप अच्छा है जो गुरु को भाए।

२९. जागना

'जागना जागनु नीका हरि कीरतन महि जागना।' *(पृ. १०१९)*

—प्रभु के कीरतन गायन में जागना ही उत्तम जागना है।

३०. जाति, वर्ण

'जाति का गरबु न करि मूरख गवारा।
इस गरब ते चलहि बहुतु विकारा॥' *(पृ. ११२८)*

—हे मूर्ख, गँवार प्राणी, (ऊँची) जाति का होने का घमंड मत कर। इस घमंड से कई विकार पैदा होते हैं।

'हमरी जाति पाति गुर सतिगुरु...' *(पृ. ७३१)*

—हमारा जात-पाँत तो केवल गुरु है।

'सा जाति सा पति है जेहे करम कमाइ।' *(पृ. १३३०)*

—व्यक्ति जैसे कर्म कमाता है वैसी ही (वही) उसकी जाति है।

३१. जीवन-युक्ति

'आपणे हथी आपणा आपे ही काजु सवारीऐ।' *(पृ. ४७४)*

—अपना कार्य अपने ही हाथ से सँवारना (करना) चाहिए।

'ऐसी कला न खेडीऐ जितु दरगह गइआ हारीऐ।' *(पृ. ४६९)*

—संसार में रहते हुए बुरे कार्योंवाला ऐसा कोई खेल नहीं खेलना चाहिए जिससे ईश्वर के दरबार में जीवन की बाजी हार जाएँ।

'घाल खाइ किछु हथहु देइ।
नानक राहु पछाणहि सेइ॥' (पृ. १२४५)

—जो प्राणी परिश्रम करके खाता है और अपनी नेक कमाई में से कुछ दान-पुण्य करता है, जीवन में वही ईश्वर प्राप्ति के सही मार्ग को पहचान सकता है।

'मंदा किसै न आखीऐ पढ़ि अखरु एहो बुझीऐ।
मूरखै नालि न लुझीऐ॥' (पृ. ४७३)

—किसीके प्रति बुरा न कहना ही ज्ञान प्राप्ति का सार-तत्त्व है। ज्ञानहीन व्यक्ति के साथ बहस में न उलझना ही श्रेष्ठ है।

३२. जूठ

'अंतरि जूठा किउ सुचि होइ।
सब्दी धोवै विरला कोइ॥' (पृ. १३४४)

—जिनका मन जूठा है वे पवित्र कैसे हो सकते हैं। इस संसार में कोई विरला ही व्यक्ति गुरु के शबद (उपदेश) से मन को धोता है।

३३. ज्योति

'सभी महि जोति जोति है सोइ।
तिसकै चानणि सभ महि चानणु होइ॥' (पृ. ६६३)

—सब जीवों में एक ही परमात्मा की ज्योति विद्यमान है और सभी उसीके प्रकाश से प्रकाशित होते हैं।

'ऐ सरीरा मेरिआ हरि तुम महि जोति रखी
ता तूँ जग महि आइआ॥' (पृ. ९२१)

—हे मेरे शरीर, ईश्वर ने जब तुझमें अपनी ज्योति रखी तब तू इस संसार में आया।

३४. ज्ञान

'जिउ अँधेरै दीपकु बालीऐ,
तिउ गुर गिआनि अगिआनु तजाइ।' (पृ. ३९)

—जिस प्रकार दीपक की रोशनी से अंधकार दूर होता है उसी प्रकार गुरु से प्राप्त ज्ञान द्वारा अज्ञान दूर होता है।

'साध कै संगि प्रगटै सुगिआनु।' (पृ. २७१)

—साधु की संगत से उत्तम ज्ञान प्राप्त होता है।

३५. ज्ञानी

'भै काहू को देत नहि नहि भै मानत आनि।
कहु नानक सुनि रे मना गिआनी ताहि बखानि॥' (पृ. १४२७)

—जो व्यक्ति न किसीको डराता है और न स्वयं किसीसे डरता है वह ज्ञानी कहलाता है।

३६. तत्त्व ज्ञान

'सुखु दुखु दोनों सम करि जानै अउर मानु अपमाना।
हरख सोग ते रहै अतीता तिनि जगि ततु पछाना॥' (पृ. २१९)

—जो प्राणी सुख और दु:ख तथा आदर और निरादर की स्थिति में एक समान रहता है, जो खुशी के समय अहंकार में नहीं आता और गम में घबराता नहीं, उसने संसार में जीवन का तत्त्व ज्ञान पहचान लिया है।

'ततु गिआनु हरि अमृतु नामु।' (पृ. ११४६)

—हरि का अमृत नाम ही तत्त्व ज्ञान है।

३७. तीर्थ

'तीरथ नाता किआ करे मन महि मैल गुमान।' (पृ. ६१)

—मन में अहंकार की मैल रखकर तीर्थों का स्नान व्यर्थ है।

'कबीर गंगा तीरे जु घर करहि पीवहि निरमल नीरु।
बिनु हरि भगति न मुक्ति होइ इउ कहि रमे कबीर॥' (पृ. ८१०)

—कबीरजी कहते हैं, चाहे कोई गंगा के किनारे घर बना ले और नित्य उसका निर्मल जल भी पीता रहे, लेकिन प्रभु के बिना उसकी मुक्ति नहीं हो सकती।

'अठसठि तीरथ जह साध पग धरहि।
तह बैकुंठु जह नामु उच्चरहि॥' (पृ. ४१०)

—साधु-संतों के जहाँ चरण पड़ते हैं, वह स्थान अड़सठ तीर्थों जितना महान् हो जाता है। जहाँ प्रभु के नाम का उच्चारण होता है वह स्थान बैकुंठ के समान होता है।

३८. तृष्णा

'वडे वडे राजन अरु भूपन ता की तृस्न न बुझी।' *(पृ. ६७२)*

—बड़े-बड़े राजाओं और भूपतियों की भी तृष्णा कभी शांत नहीं हुई।

'अगिआनु तृस्ना इसु तनहि जलाए।
तिस की बुझै जि गुर सब्दी कमाए॥' *(पृ. १०६७)*

—अज्ञान और तृष्णा मिलकर मनुष्य के शरीर को जलाते रहते हैं। यह आग उसी व्यक्ति की बुझती है जो गुरु के शबद की कमाई करता है।

'किआ गभरू किआ बिरधि है मनमुख तृस्ना भुख न जाइ।' *(पृ. ६४९)*

—जवान हो या वृद्ध, किसीकी भी तृष्णा की भूख नहीं मरती।

३९. त्याग

'बिन हउ तिआग कहा कोऊ तिआगी।' *(पृ. ११४०)*

—अहंकार का त्याग किए बिना कोई त्यागी नहीं हो सकता।

'साधो मन का मान तिआगउ।
काम क्रोध संगति दुरजन की ता ते अहिनिसि भागउ॥' *(पृ. ११८२)*

—हे साधना करनेवाले पुरुषो, मन का अहंकारी स्वभाव छोड़ दो। काम, क्रोध और बुरे व्यक्ति की संगति से सदा दूर रहो।

४०. दया

'सचु तां परु जाणीऐ जा सिख सची लेइ।
दइआ जाणै जीअ की किछु पुंन दान करेइ॥' *(पृ. ४६०)*

—सच की प्राप्ति तभी होती है जब मनुष्य गुरु से सच्चा उपदेश प्राप्त करे, सब जीवों पर दया करने की युक्ति सीख ले और जरूरतमंद लोगों को अपनी कमाई में से कुछ दान-पुण्य करे।

'सतु संतोखु दइआ धरमु सीगार बनावउ।' *(पृ. ८११)*

—हे प्राणी, सत्य, संतोष, दया और धर्म को अपना शृंगार बनाओ।

'फरीदा जो तै मारनि मुक्कीआँ तिना न मारै घुंमि।
आपनड़े घरि जाईऐ पैर तिनाँ दे चुंमि॥' *(पृ. १३७८)*

—फरीद साहब कहते हैं, जो तुझपर मुक्कों से प्रहार करें तू उन लोगों पर बदले में प्रहार मत करना, बल्कि उनके पाँव चूमकर अपने घर वापस लौट जाना।

४१. दरवेश (फकीर)

'आपि लीओ लड़ि लाए दरि दरवेस से।
तिन धंनु जणेदी माउ आए सफलु से॥' *(पृ. ४८८)*

—वे मनुष्य ही ईश्वर के द्वार पर दरवेश हैं जिनपर ईश्वर ने अपनी कृपा की है। उन्हें जन्म देनेवाली माँ धन्य है और उनका संसार में आना सफल है।

४२. दर्शन

'ठाकुर तुम सरणाई आइआ।
उतरि गइउ मेरे मन का संसा जब ते दरसन पाइआ॥' *(पृ. १२१८)*

—हे ईश्वर, मैं तुम्हारी शरण में आया हूँ। जब से मैंने तुम्हारा दर्शन पाया है, मेरे सभी संशय दूर हो गए हैं।

'दरसनि परसीऐ गुरु कै जनम मरण दुखु जाइ।' *(पृ. १३९२)*

—गुरु के दर्शन से जन्म-मरण के दुःख दूर हो जाते हैं।

४३. दुःख

'फरीदा मै जानिआ दुखु मुझ कू दुखु सबाइऐ जगि।
ऊचे चढ़ि कै देखिआ ता घरि घरि एहा अगि॥' *(पृ. १३८२)*

—हे फरीद, मैं समझता था कि केवल मैं ही दुःखी हूँ, पर दुःख तो सारे संसार में व्याप्त है। जब मैंने अपने दुःख से ऊपर उठकर देखा तो पाया कि घर-घर में दुःख की आग लगी हुई है, अर्थात् सभी जीव दुःखी हैं।

'नानक दुखीआ सभु संसारु।' *(पृ. ९५४)*

—हे नानक, सारा संसार दुःखी है।

'जब लगु हुकमु न बूझता तब ही लउ दुखीआ।
गुर मिलि हुकमु पछाणिआ तब ही ते सुखीआ॥' *(पृ. ४००)*

—जब तक प्राणी ईश्वर की इच्छा को नहीं समझता, वह दुःखों से पीड़ित रहता है। गुरु से मिलन होने पर जब वह हुक्म की पहचान कर लेता है, तो सुखी हो जाता है।

'दुखु तदे जा विसरि जावै।' *(पृ. ९८)*

—दुःख तभी आते हैं जब प्राणी ईश्वर को भूल जाता है।

४४. देन (दाति)

'दाति पिआरी विसरिआ दातारा।' *(पृ. ६७६)*

—मनुष्य प्रभु की देन से प्यार करता है, लेकिन देनेवाले (दातार) को भूल जाता है।

४५. धन-दौलत

'भाई रे तनु धनु साथि न होइ।' *(पृ. ६२)*

—हे भाई, तन और धन किसीके साथ नहीं जाता।

**'इहु धनु करते का खेल है कदे आवै कदे जाइ।
गिआनी का धनु नामु है सद ही रहै समाइ॥'** *(पृ. १२८२)*

—सांसारिक धन ईश्वर का खेल है, जो कभी आता है और कभी जाता है। ज्ञानी पुरुष का धन तो प्रभु का नाम है जो हमेशा उसके मन में समाया रहता है।

**'दारा मीत पूत सनबंधी सगर धन सिउ लागै।
जब ही निरधन देखिउ नर कउ संगि छाडि सभ भागै॥'** *(पृ. ६३३)*

—पत्नी, मित्र, पुत्र और संबंधी—ये सब वास्तव में धन के कारण व्यक्ति के साथ होते हैं। जिस दिन वे उसे निर्धन पाते हैं, सभी साथ छोड़कर भाग जाते हैं।

४६. धन-यौवन

'धन जोबन का गरबु न कीजै कागद जिउ गलि जाहिगा।' *(पृ. ११०६)*

—हे प्राणी, धन-यौवन का अहंकार मत कर। यह कागज की तरह गल जाएगा।

४७. धर्म

'संत का मारगु धरम की पउड़ी को वडभागी पाए।' *(पृ. ६२२)*

—संत का मार्ग धर्म की सीढ़ी है, जिसे कोई भाग्यशाली व्यक्ति ही पाता है।

**'कबीरा जहा गिआनु तह धरम है जहा झूठु तह पापु।
जहा लोभु तह कालु है जहा खिमा तह आपि॥'** *(पृ. १३७२)*

—संत कबीर कहते हैं, जहाँ ज्ञान है वहाँ धर्म है, जहाँ झूठ है वहाँ पाप है, जहाँ लोभ है वहाँ काल है और जहाँ क्षमा है वहाँ स्वयं प्रभु हैं।

'नह बिलम्ब धरमं बिलम्ब पापम्।' *(पृ. १३५४)*

—धर्म के कार्य में कभी देर नहीं करनी चाहिए और पापवाले कार्य को टालते रहना चाहिए, अर्थात् उससे बचना चाहिए।

'सरब धरम महि स्रेस्ट धरमु।
हरि को नामु जपि निरमल करमु॥' (पृ. २६६)

—ईश्वर का नाम जपना और उज्ज्वल कार्य करना ही सबसे श्रेष्ठ धर्म है।

४८. धर्मराज

'चंगिआईआ बुरिआईआ वाचै धरमु हदूरि।
करमी आपो आपणी के नेड़ै के दूरि॥' (पृ. ८)

—धर्मराज ईश्वर की हुजूरी में जीवों के अच्छे और बुरे कर्मों पर विचार करता है। अपने-अपने कर्मों के अनुसार कई जीव प्रभु के निकट और कई उससे दूर हो जाते हैं।

४९. नम्रता

'आपस कउ जो जाणै नीचा।
सोउ गनीऐ सभ ते ऊचा॥'

(पृ. २६६)

—अपने आपको नीच समझनेवाले व्यक्ति की गणना सबसे ऊँचे लोगों में होती है।

'कबीर सभ ते हम बुरे हम तजि भलो सभ कोइ।
जिनि ऐसा करि बूझिआ मीतु हमारा सोइ॥' (पृ. १३६४)

—कबीर कहते हैं—संसार में हम सबसे बुरे हैं, हमें छोड़कर बाकी सब अच्छे हैं। जिसने यह सच जान लिया, वह हमारा मित्र है।

'आपस कउ जो भला कहावै।
तिसहि भलाई निकटि न आवै॥' (पृ. २७८)

—जो व्यक्ति अपने आपको अच्छा कहता है, अच्छाई उससे हमेशा दूर रहती है।

५०. नशा

'कबीर भाँग माछुली सुरा पानि जो जो प्रानी खाहि।
तीरथ बरत नेम कीए ते सभे रसातल जाहि॥' (पृ. १३७७)

—संत कबीर कहते हैं—जो मनुष्य भाँग, मछली और मदिरा का सेवन करते हैं उनके तीर्थ, व्रत आदि से कमाए गए पुण्य नष्ट हो जाते हैं।

'जितु पीतै खसमु विसरै दरगह मिलै सजाइ।
झूठ मदु भूलि न पीचई...' *(पृ. ५५४)*

—जिसके पीने से प्रभु बिसर जाए और उसके दरबार में सजा मिले, ऐसी झूठी मदिरा भूलकर भी नहीं पीनी चाहिए।

५१. नश्वरता

'जो आइआ सो चलसि सब कोई आई वारीऐ।' *(पृ. ४७४)*

—संसार में जो आया है, वह जाएगा भी। सबकी यहाँ से जाने (मृत्यु) की बारी आएगी।

'सेख हैयाती जगि न कोई थिरु रहिआ।
जिसु आसणि हम बैठे केते बैसि गइआ॥' *(पृ. ४८८)*

—शेख फरीद कहते हैं, जगत् में कोई भी सदा जीवित नहीं रहा। जिस स्थान पर हम आज बैठे हैं, यहाँ कई लोग बैठकर चले गए।

'जो उपजिउ सो बिनसि है परो आजु कै कालि।
नानक हरि गुन गाइ ले छाडि सगल जंजालि॥' *(पृ. १४२९)*

—इस संसार में जो भी पैदा हुआ है, वह अवश्य ही आज या कल मृत्यु को प्राप्त होगा। नानकजी कहते हैं—संसार के सभी झंझट छोड़कर हरि का गुणगान करो।

५२. नाच-गाना

'नचिऐ टपिऐ भगति न होइ।
सब्दि मरै भगति पाए जन सोइ॥' *(पृ. १४९)*

—नाचने-कूदने से भक्ति नहीं होती। गुरु के शबद (उपदेश) पर मर-मिटनेवाला व्यक्ति ही भक्ति को प्राप्त कर सकता है।

५३. नाम

'डिठा सभु संसारु सुख न नाम बिनु।' *(पृ. ३२२)*

—सारा संसार देख लिया। प्रभु के नाम के बिना कहीं सुख नहीं है।

'मूत पलीती कपड़ु होइ। दे साबूण लईऐ उहु धोइ॥
भरीऐ मति पापा कै संगि। उहु धोपै नावै कै रंगि॥' *(पृ. ४)*

—मल-मूत्र से मलिन वस्त्र साबुन से धोने से साफ हो जाते हैं। जब मन में पाप भर जाएँ तो उन्हें ईश्वर के नाम से ही धोया जा सकता है।

'अंतरि नामु कमलु परगासा।
तिन कउ नाही जम की त्रासा॥' (पृ. ४१२)

—जिनके भीतर नाम का प्रकाश हो जाता है उन्हें यम (मृत्यु) का भय नहीं रहता।

'अंमृत नामु परमेसुर तेरा जो सिमरै सो जीवै।' (पृ. ६१६)

—हे ईश्वर, तेरा नाम अमृत है। जो इसका सुमिरन करता है वही जीवन को सही अर्थ में जीता है।

'हरि को नामि सदा सुखदाई।
जा कउ सिमरि अजामलु उधरिउ गनिका हू गति पाई।
पंचाली कउ राजसभा महि रामनाम सुधि आई।
ता को दूखु हरिउ करुणामै आपनी पैज बढाई॥' (पृ. १००८)

—ईश्वर का नाम सदा सुखदायक है, जिसके सुमिरन से अजामिल का उद्धार हुआ और गणिका भी जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति प्राप्त कर गई। दुर्योधन के राजदरबार में (चीरहरण के समय) द्रौपदी ने ईश्वर को याद किया और करुणामय प्रभु ने उसका संकट दूर करके अपने भक्त की लाज बचाई।

५४. नाम विहीन व्यक्ति

'धृगु जीवणु संसार सचे नाम बिनु।' (पृ. ९५६)

—सच्चे ईश्वर के नाम के बिना संसार में जीना धिक्कार है।

५५. निंदा, निंदक

'मुह काले तिना निंदका तितु सचै दरबारि।' (पृ. ६४१)

—ईश्वर के दरबार में निंदकों का मुँह काला होता है।

५६. निर्धन

'कहि कबीर निरधन है सोई।
जाकै हिरदै नामु न होई॥' (पृ. ११५९)

—कबीरजी कहते हैं, निर्धन वह व्यक्ति है जिसके हृदय में प्रभु का नाम नहीं है।

५७. निर्मल

'सो किछु करि जितु मैल न लागे।' (पृ. १९९)

—हे प्राणी, ऐसे कर्म कर जो निर्मल हों।

५८. पढ़ाई

'पढ़िआ मूरखु आखीऐ जिसु लबु लोभु अहंकार।' *(पृ. १४०)*

—वह पढ़ा-लिखा भी मूर्ख कहा जाएगा जिसके मन में लोभ और अहंकार है।

५९. पराई वस्तु

'पराई वस्तु किउ रखीऐ दिती ही सुखु होइ।' *(पृ. १२४९)*

—पराई वस्तु को अपने पास रखना ठीक नहीं है। उसे उसके मालिक को सौंपने में ही सचा सुख है।

६०. पराई स्त्री

'अखी सूतकु वेखणा परत्रिय परधन रूपु।' *(पृ. ४७२)*

—पराई स्त्री के रूप और पराए धन को बुरी नजर से देखना आँखों के लिए अपवित्र है।

'देइ़ किवाड़ अनिक पड़दे महि परदारा संगि फाकै।
चित्रगुप्तु जब लेखा मागहि तब कउण पड़दा तेरा ढाकै॥' *(पृ. ६१६)*

—बंद किवाड़ में पराई स्त्री के साथ व्यभिचार करनेवाले हे प्राणी, जब चित्रगुप्त तुझसे तेरे कर्मों का हिसाब माँगेगा तब तू उससे अपने बुरे कर्म कैसे छिपाएगा।

६१. परोपकार

'मिथिआ तन नहीं परउपकारा।' *(पृ. २६९)*

—जो तन किसी पर उपकार नहीं करता, वह मिथ्या है।

६२. पाप

'नर अचेत पाप ते डरु रे।' *(पृ. २२०)*

—हे अज्ञानी जीव, पाप करने से डर।

'साधु की जउ लेहि उट।
तेरे मिटहि पाप सभ कोटि कोटि॥' *(पृ. ११९६)*

—जो प्राणी (पापी) साधु की शरण लेता है उसके करोड़ों पाप मिट जाते हैं।

'पुंनी पापी आखणु नाहि।
करि करि करणा लिखि लै जाहु॥' *(पृ. ४)*

—सिर्फ किसीके कह देने से कोई व्यक्ति पुण्यी या पापी नहीं हो जाता। व्यक्ति जैसे कर्म करेगा

वैसे संस्कार साथ लेकर जाएगा।

६३. पूर्ण

'नानक से जन पूरन होइ।
जिन हरि भाणा भाइ॥' *(पृ. १२७६)*

—नानकजी कहते हैं—वे जन ही पूर्ण हैं जो प्रभु की इच्छा में रहते हैं।

६४. प्रेम

'जाकी प्रीति गोबिंद सिउ लागी।
दूरतु दरदु भ्रमु ता का भागी॥'

(पृ. ३९१)

—जिस प्राणी की प्रीति ईश्वर से लग जाती है, उसके सभी दुःख, दर्द और भ्रम दूर हो जाते हैं।

'बिन पिआरे भगति न होवई...'

(पृ. ४२९)

—प्रिय प्रभु के साथ प्रीति के बिना भक्ति नहीं हो सकती।

६५. बुद्धि

'सा बुद्धि दीजै जितु विसरहि नाही।'

(पृ. १००)

—हे ईश्वर, मुझे ऐसी बुद्धि दो जिससे मैं आपका नाम सदा स्मरण करता रहूँ।

६६. बुराई

'फरीदा जिनि कमी नाहि गुण ते कमड़े बिसारि।
मतु सरमिंदा थीवई साँई दै दरबारि॥'

(पृ. १३८१)

—फकीर फरीद कहते हैं—जिन कामों में कोई अच्छाई नहीं है उन्हें मत कर, ताकि ईश्वर के दरबार में तुझे शर्मिंदा न होना पड़े।

'पर का बुरा न राखहु चीत।
तुम कउ दुखु नही भाई मीत॥'

(पृ. ३८६)

—हे भाई, हे मित्र! मन में किसीके प्रति बुरा मत सोचो। इससे तुम सदा सुखी रहोगे।

६७. ब्राह्मण

'सो ब्राह्मणु जो ब्रह्म बिचारै।
आपि तरै सगले कुल तारै॥' (पृ. ६६२)

—ईश्वर का चिंतन करनेवाला व्यक्ति ही सच्चा ब्राह्मण है, जो खुद भी भवसागर से पार उतरता है और अपने कुल का भी उद्धार करता है।

६८. भक्त

'से भगत से भगत भले जन नानकजी
जो भावहि मेरे हरि भगवंता।' (पृ. ३४८)

—नानकजी कहते हैं—वे भक्त श्रेष्ठ हैं जो मेरे प्रभु के मन को भाते हैं।

'जिसनो इको रंगु भगतु सो जानणो।' (पृ. ९६३)

—सिर्फ एक परमात्मा के रंग में रँगे हुए प्राणी ही भक्त हैं।

'भगत जना कउ राखदा आपणी किरपा धारि।' (पृ. ४६)

—प्रभु अपने भक्तों पर कृपा करके सदा उनकी रक्षा करता है।

६९. भक्ति

'मानस ते देवते भए सची भगति जिसु देइ।' (पृ. ८५०)

—ईश्वर की सच्ची भक्ति से मनुष्य भी देवता हो जाते हैं।

'विणु गुण कीते भगति न होइ।' (पृ. ४)

—गुणों के बिना भक्ति नहीं हो सकती।

'कहु कबीर जन भए खालसे प्रेम भगति जिह जानी।' (पृ. ६५५)

—कबीरजी कहते हैं—जिस प्राणी ने प्रभु-प्रेम की भक्ति को समझ लिया वह पवित्र हो गया।

७०. भाषा

'जित बोलिऐ पति पाईऐ सो बोलिआ परवाणु।' (पृ. १५)

—भाषा वही उत्तम है जिसके बोलने से सम्मान मिले।

'टुटि परीति गई बुर बोलि।' *(पृ. १४३)*

—अप्रिय भाषा बोलने से प्यार का रिश्ता टूट जाता है।

'गंढु प्रीती मिठे बोल।' *(पृ. १४३)*

—हे प्राणी, मीठी और प्रिय भाषा के साथ प्रेम कर।

७१. भ्रम

'हमरा भरम गइआ भउ भागा।
जब राम नाम चितु लागा॥' *(पृ. ६५५)*

—जब से ईश्वर के नाम में मन लगा है, हमारे भ्रम और भय दूर हो गए हैं।

'जाकै बिनसिउ मन ते भरमा।
ताकै कछु नाही डर जमा॥' *(पृ. १८६)*

—जिस प्राणी के मन से भ्रम मिट जाते हैं उसे यम का डर नहीं रहता।

७२. मन

'मनि मैले सभ किछु मैला तनि धोतै मनु हछा न होइ।' *(पृ. ५५८)*

—जिसका मन मैला है उसका सबकुछ मैला है। तन को धोने से मन पवित्र नहीं होगा।

'मनि जीतै जगु जीतु।' *(पृ. ६)*

—जिसने मन को जीत लिया मानो उसने सारी दुनिया जीत ली।

'कबीर मनु पंखी भइउ उडि उडि दह दिस जाइ।
जो जैसी संगति मिलै सो तैसो फल खाइ॥' *(पृ. १३६९)*

—संत कबीर कहते हैं—यह मन पक्षी के समान दसों दिशाओं में उड़ता फिरता है। जो (मन) जैसी संगत करेगा वैसा ही उसे फल खाने को मिलेगा।

७३. मनुष्य

'कबीर मानस जनमु दुर्लभु है होइ न बारै बार।
जिउ बन फल पाके भुइ गिरहि बहुरि न लागहि डार॥' *(पृ. १३६६)*

—कबीर कहते हैं—जिस प्रकार वृक्ष से टूटकर जमीन पर गिरा हुआ फल दोबारा वृक्ष से नहीं लग सकता, उसी प्रकार यह दुर्लभ मनुष्य जीवन बार-बार नहीं मिलता।

'माटी को पुतरा कैसे नचतु है।
देखै देखै सुनै बोलै दउरिउ फिरतु है।
जब कछु पावै तब गरबु करतु है।
माइआ गई तब रोवन लगतु है॥' *(पृ. ४८७)*

—मनुष्य मिट्टी का पुतला है। यह देखता, सुनता, बोलता और दौड़ा फिरता है। कुछ पा लेने पर यह घमंड से इतराता है और माया (धन-दौलत) चली जाने पर रोने लगता है।

७४. ममता

'जब लग मेरी मेरी करै। तब लगि काज एक नही सरै॥
जब मेरी मेरी मिट जाइ। तबि प्रभु काज सवारहि आइ॥' *(पृ. ११६०)*

—जब तक प्राणी 'मेरी, मेरी' करता है तब तक उसका कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होता। जब 'मेरी, मेरी' मिट जाती है तो परमात्मा स्वयं आकर उसके कार्य सिद्ध करता है।

७५. मानव एकता

'एक पिता एकस के हम बारिक।' *(पृ. ६११)*

—सब जीवों का एक ही पिता (प्रभु) है और हम सब उसके बालक हैं।

'नानक उत्तम नीच न कोई।' *(जपुजी)*

—नानकदेव कहते हैं—इस संसार में कोई भी श्रेष्ठ अथवा नीच नहीं है, अर्थात् सभी प्राणी बराबर हैं।

७६. मुक्त

'से मुक्तु से मुक्तु भए जिन हरि धिआइआ जीउ।
तिन टुटी जम की फासी॥' *(पृ. ३४८)*

—ईश्वर का नाम सुमिरन करनेवाले जीव संसार चक्र से मुक्त हो जाते हैं और उनके गले में यम की फाँसी नहीं पड़ती।

'हरख सोग जा कै नहीं बैरी मीत समान।
कहु नानक सुनि रे मना मुकति ताहि तै जान॥' *(पृ. १४२७)*

—जो प्राणी सुख और दुःख से निर्लिप्त रहता है और मित्र तथा शत्रु जिसके लिए एक समान हैं, नानकजी कहते हैं—ऐसे प्राणी को संसार से मुक्त समझो।

७७. मुक्ति

'मुकति दुआरा सोई पाए जि विचहु आपु गवाइ।' *(पृ. १२७६)*

—अपने भीतर से अहंकार का त्याग करनेवाला व्यक्ति ही मोक्ष प्राप्त करता है।

७८. मूर्ख

'मूरखा सिरि मूरख है जिनै नाही नाउ।' *(पृ. १०१५)*

—जिसके हृदय में प्रभु का नाम नहीं, वह मूर्खों का भी मूर्ख है।

७९. यम

'जमदूतु तिसु निकटि न आवै।
साध संगि हरि कीरतनु गावै॥' *(पृ. १०७९)*

—जो प्राणी साधु-संतों की संगति में ईश्वर की कीर्ति का गायन करते हैं, यमदूत उनके निकट नहीं आते।

'जा के बिनसिउ मन ते भरमा।
ता कै कछू नाही डरु जमा॥' *(पृ. १८६)*

—जिस प्राणी के मन से भ्रम दूर हो जाते हैं उसे फिर यम का भय नहीं रहता।

'राम नामि मनु लागा।
जमु लजाइ कर भागा॥' *(पृ. ६२६)*

—प्राणी का राम नाम में मन लगते ही यम उससे लज्जित होकर भाग जाता है।

८०. योग

'जोगु न भगवी कपड़ी जोगु न मैले वेसि।
नानक घरि बैठिआ जोगु पाईऐ सतिगुर कै उपदेसि॥' *(पृ. १४२०)*

—भगवे कपड़े या मैला वेश धारण कर लेना योग नहीं है। हे नानक, गुरु के उपदेश पर चलते हुए घर में ही योग धारण किया जा सकता है।

८१. योगी

'सो जोगी जो जुगति पछाणै।' *(पृ. ६६२)*

—जिसने जीवन-युक्ति को पहचान लिया, वही योगी है।

'परनिंदा उस्तति नह जाकै कंचन लोह समान।
हरख सोग ते रहै अतीता जोगी ताहि बखानो॥' (पृ. ६८५)

—जिस मनुष्य में पराई निंदा सुनने या करने का अवगुण नहीं, जो न खुशामद करता है न करवाता है, जिस मनुष्य के लिए सोना और लोहा एक समान है और जो खुशी और गमी से निर्लिप्त रहता है, वही सच्चा योगी कहलाता है।

८२. रस भोग

'खसमु विसारि कीए रस भोग।
ता तनि उठ खलोए रोग॥' (पृ. १२५६)

—ईश्वर को भूलकर रस भोग करनेवाले व्यक्ति का तन रोगी हो जाता है।

'भोगी कउ दुखु रोग विआपै।' (पृ. ११८९)

—भोगी व्यक्ति को दुःख और रोग जकड़ लेते हैं।

८३. राजा

'कोउ हरि समान नहीं राजा।' (पृ. ८५६)

—ईश्वर के समान कोई दूसरा राजा नहीं है।

'तख्त राजा सो बहै जि तखै लाइक होई।
जिनी सचु पछाणिआ सचु राजे सोई॥' (पृ. १०८८)

—सिंहासन पर केवल उसी राजा को बैठना चाहिए जो उसके योग्य हो। जिसने सच्चे प्रभु को जान लिया वही सच्चा राजा है।

८४. रोग

'हउमै दीरघु रोगु है।' (पृ. ४६६)

—संसार में अहंकार सबसे बड़ा रोग है।

'संसार रोगी नाम दारू…' (पृ. ६८७)

—यह सारा संसार रोगी है और प्रभु का नाम दवा है।

८५. लालच

'फरीदा जा लबहु त नेहु किआ लबु त कूढ़ा नेहु।
किचरु झति लघाइऐ छप्पर तुटै मेहु॥' (पृ. १३७८)

—संत फरीद कहते हैं—अगर किसी लालच के मकसद से ईश्वर की बंदगी की जाती है तो बंदगी करनेवाले का ईश्वर के प्रति प्यार सच्चा नहीं है। टूटे हुए छप्पर से बरसात का पानी कब तक रुकेगा? भावार्थ यह है कि सांसारिक स्वार्थ पूरा न होने पर मनुष्य का ईश्वर से प्रेम टूट जाएगा।

८६. वनवास

'काहे रे बनि खोजन जाई।
सरब निवासी सदा अलेपा तोहि संगि समाई॥' *(पृ. ६८४)*

--हे भाई, तू ईश्वर को ढूँढ़ने के लिए जंगल क्यों जाता है? सभी जीवों में बसा हुआ वह निर्लिप्त परमात्मा तेरे भीतर ही समाया हुआ है।

८७. विद्या

'माइआ कारनि बिदिआ बेचहु जनमु अबिरथा जाइ।' *(पृ. ११०३)*

—धन के लिए विद्या बेचनेवाले लोगों का जन्म व्यर्थ जाता है।

८८. विरह

'फरीदा जिस तनि बिरहु न उपजै सो तनु जाण मसाण।' *(पृ. १३७९)*

—फरीद कहते हैं—जिस शरीर में विरह की पीड़ा नहीं है, उस शरीर को श्मशान समझो।

'मेरा मन लोचै गुर दरसन ताई।
बिलपि करे चात्रिक की निआई॥' *(पृ. ९६)*

—मेरा मन गुरु के दर्शन के लिए तड़प रहा है और चात्रिक (चातक) की तरह विलाप कर रहा है।

८९. विश्वास

'घरि बाहरि तेरा भरवासा तू जन कै है संगि।' *(पृ. ६७७)*

—हे ईश्वर, हर जगह मुझे तेरा ही भरोसा है। तू सदा अपने सेवक के साथ है।

९०. वेला (समय)

'अमृत वेला सचु नाउ वडिआई वीचारु।' *(पृ. २)*

—हे जीव, प्रभातकाल में उस परमात्मा के सच्चे नाम तथा उसकी महानता पर विचार करो।

'दिनु रैणि सभ सुहावणे पिआरे जितु जपीऐ हरि नाउ।' *(पृ. ४३२)*

—वे सभी दिन और रात सुहावने हैं जब मन ईश्वर के नाम का जाप करता है।

११. वैद्य

'मेरा बैदु गुरु गोबिंदा।
हरि हरि नाम अउखध मुखि देवै काटै जम की फंधा॥' *(पृ. ६१८)*

—गुरु ही मेरा वैद्य है, जो मेरे मुख में हरि के नाम की ओषधि (दवा) डालता है और यम के बंधन से मुक्त करता है।

१२. वैर-विरोध

'बिसरि गई सभ ताति पराई।
जब ते साध संगत मोहि पाई।
न कोई बैरी नही बिगाना सगल संगि हमि कउ बनि आई॥' *(पृ. १२९९)*

—जब से मैं साधु-संतों की संगति में आया हूँ, मेरे मन से दूसरों के प्रति बेगानेपन की भावना मिट गई है। अब मेरे लिए न कोई वैरी है और न बेगाना। सबके साथ हमारी प्रीत जुड़ गई है।

'...काहे जनम गवावहु वैरि वाद।' *(पृ. ११७६)*

—हे प्राणी, वैर-विरोध में अपना जन्म क्यों गँवाते हो।

'वैर विरोध मिटे तन मन ते।
हरि कीरतनु गुरमुखि जो सुनते॥' *(पृ. २५९)*

—जो गुरु के अनुयायी हरि का कीरतन सुनते हैं उनके तन-मन से वैर-विरोध की भावना मिट जाती है।

१३. व्यापार

'खोटै वणजि वणजिऐ मनु तनु खोटा होइ।' *(पृ. १३)*

—खोटी वस्तुओं के व्यापार से मन और तन दोनों खोटे होते हैं।

१४. व्रत

'...तजिऐ अन्नि न मिलै गुपालु।' *(पृ. ८७३)*

—अन्न का त्याग करने से ईश्वर नहीं मिलता।

'सचु वरतु संतोखु तीरथु गिआनु धिआनु इस्नानु।
दइआ देवता खिमा जपमाली ते माणस परधान॥' *(पृ. १२४५)*

—जो मनुष्य सच का व्रत, संतोष का तीर्थ और ज्ञान का ध्यान एवं स्नान करते हैं, दूसरों के प्रति दया जिनका देवता और क्षमा जिनकी जपमाला है, वे मनुष्य श्रेष्ठ हैं।

९५. शकुन-अपशकुन

'सगुन अपसगुन तिस कउ लगहि जिसु चीति न आवै।' *(पृ. ४०१)*

—शकुन-अपशकुन उस व्यक्ति को लगता है जिसके हृदय में ईश्वर का वास नहीं है।

९६. शबद (गुरु का उपदेश)

'तिस किआ दीजै जि शबद सुणाए''' *(पृ. ४२४)*

—गुरु का अमूल्य शबद सुनानेवाले के लिए कोई भी भेंट तुच्छ है।

'गुर का शबद अंमृत रसु पीउ।
ता तेरा होइ निरमल जीउ॥' *(पृ. ८९१)*

—हे प्राणी, गुरु के शब्द रूपी अमृतरस का पान कर। इससे तेरा मन पवित्र होगा।

'इहु भवजलु जगतु सब्दि गुर तरीअै।' *(पृ. १०४२)*

—इस संसार रूपी सागर से गुरु के शबद द्वारा ही मुक्ति होती है।

९७. शरण

'प्रभु की सरणि सगल भै लाथे दु:ख बिनसे सुख पाइआ।' *(पृ. ६१५)*

—प्रभु की शरण में आने से सभी डर दूर होते हैं, दु:खों का विनाश और सुखों की प्राप्ति होती है।

'अब हम चलि ठाकुर पहि हारि।
जब हम सरणि प्रभु की आई।
राखु प्रभु भावै मारि।

× × ×

कोई भला कहु भावै बुरा कहु हम तनु दीउ है डारि॥' *(पृ. ५२७-२८)*

—हमने अपने आपको प्रभु के हवाले कर दिया है और उसकी शरण में आ गए हैं। हे प्रभु, अब तुम चाहे हमारी रक्षा करो या मारो। हमारी अब कोई निंदा करे या स्तुति, हमने तो अपना शरीर प्रभु के आगे अर्पित कर दिया है।

'तू मेरी उट बल बुद्धि धनु तुमही तुमहि मेरे परवारै।
जो तुम करहु सोई भल हमरै पेखि नानक सुख चरनारै॥' *(पृ. ८२०)*

—हे ईश्वर! मेरा सहारा, बल, बुद्धि, धन और परिवार सबकुछ आप ही हैं। आप जो कुछ भी करेंगे, उसीमें हमारा कल्याण है। नानकजी कहते हैं—प्रभु के चरणों में ही सच्चा सुख है।

९८. शुद्ध

'सूचे एहि न आखीअहि बहनि जि पिंडा धोइ।
सूचे सेई नानका जिन मनि वसिआ सोइ॥' *(पृ. ४७२)*

—तन का स्नान कर लेने से ही कोई व्यक्ति शुद्ध या पवित्र नहीं हो जाता। नानकजी कहते हैं—शुद्ध वे प्राणी हैं जिनके मन में ईश्वर का नाम बसा हुआ है।

९९. शृंगार

'सतु संतोखु दइआ धरमु सीगारु बनावउ।' *(पृ. ८१२)*

—हे प्राणी, सत्य, संतोष, दया और धर्म को अपना शृंगार बनाओ।

१००. संत

'संत न छाडै संतई जउ कोटिक मिलहि असंत।' *(पृ. १३७३)*

—संत चाहे असंख्य दुष्टों से घिरा हो, वह अपने गुण कभी नहीं छोड़ता।

'संता कउ मति कोई निंदहु संत रामु है एको।' *(पृ. ७९३)*

—संत की निंदा कभी नहीं करनी चाहिए। संत और ईश्वर में कोई भेद नहीं।

१०१. संतोष

'बिना संतोख नहीं कोउ राजै।' *(पृ. २७९)*

—संतोष के बिना कोई राजा नहीं हो सकता।

१०२. संन्यासी

'आस निरासी तउ संनियासी।' *(पृ. ३५६)*

—जो मन में किसी पदार्थ की आशा नहीं रखता वही संन्यासी है।

१०३. सगे-संबंधी

'का की माई का को बाप।
नाम धारीक झूठे सभि साक॥' *(पृ. १८८)*

—यहाँ कौन किसकी माँ और कौन किसका पिता है? सभी संबंध झूठे और सिर्फ नाम के हैं।

'जो संसारै कै कुटंब मित्र भाई दीसहि मन मेरे
ते सभि अपने सुआइ मिलासा,
जितु दिनि उन का सुआउ होइ न आवै
तितु दिनि नेड़े को न ढुकासा।
मन मेरे अपना हरि सेवि दिनु राती
जो तुधि उपकरै दुखि सुखासा॥' (पृ. ८६०)

—हे मेरे मन! संसार में तुम्हें जो परिवार, मित्र, भाई दिखाई देते हैं वे सब अपने-अपने स्वार्थ के कारण तुम्हारे साथ हैं। जिस दिन उनका स्वार्थ पूरा नहीं होगा उस दिन कोई भी तुम्हारे समीप नहीं आएगा। इसलिए हे मेरे मन! सदा ईश्वर की सेवा कर, जो तेरे दुःख दूर करके सुख देनेवाला है।

१०४. सच

'सच पुराणा होवे नाही...' (पृ. ९५५)

—सच कभी भी पुराना नहीं होता।

'सचु ता परु जाणीऐ जा रिदै सचा होइ।
कूड़ की मलु उतरै, तनु करे हछा धोइ॥' (पृ. ४६८)

—जगत् के सच को तभी जाना जा सकता है जब हृदय में प्रभु का वास हो जाए। ऐसा होने पर मन से छल और झूठ की मैल उतर जाती है और मन के साथ ही तन भी सुंदर हो जाता है।

१०५. सचखंड (बैकुंठ)

'सचखंडि वसै निरंकारु,
करि करि वेखै नदरि निहाल।' (पृ. ८)

—सचखंड में उस निराकार ईश्वर का वास है। वह सृष्टि की रचना करता है, उसे देखता है और जीवों पर अपनी कृपादृष्टि करता है।

'सिमरि सिमरि सुआमी प्रभु अपुना निकटि न आवै जाम।
मुक्ति बैकुंठ साध की संगति जन पाइउ हरि का धाम॥' (पृ. ६८२)

—प्रभु के सुमिरन से यम निकट नहीं आता और साधुजनों की संगति से जीव मुक्ति और बैकुंठ प्राप्त करता है।

१०६. सज्जन-मित्र

'उइ साजन उइ मीत पिआरे। जो हम कउ हरिनामु चितारे॥' *(पृ. ७३१)*

—वे सज्जन, वे मित्र प्रिय लगते हैं जो हमें हरि का नाम सुमिरन करवाते हैं।

'किसु नालि कीचै दोस्ती सभु जगु चलणहारु।' *(पृ. ४६८)*

—इस संसार में किससे दोस्ती की जाए, सबको एक-न-एक दिन यहाँ से चले जाना है।

'सभु को मीतु हम आपन कीना हम सभना के साजन।' *(पृ. ६७१)*

—सबको हमने अपना मित्र बनाया है, हम सबके साजन हैं।

१०७. सतिगुरु (गुरु)

'जिसु मिलिऐ मनि होइ अनंदु सो सतिगुरु कहीऐ।
मन की दुबिधा बिनसि जाइ हरि परम पदु लहीऐ॥' *(पृ. १६८)*

—जिसके मिलन से मन को आनंद मिले, दुविधा दूर हो जाए और परम पद की प्राप्ति हो, वही सतगुरु है।

'गुरु सागरो रत्नागुरु तितु रत्न घणेरे राम।' *(पृ. ४३७)*

—गुरु सागर है, गुरु रत्नाकर है, जिसमें असंख्य बहुमूल्य रत्न (ज्ञान का भांडार) है।

'गुर समानि तीरथ नहि कोइ।' *(पृ. १३२८)*

—गुरु के समान कोई तीर्थ नहीं है।

'बलिहारी गुरु आपणे दिउहाड़ी सद वार।
जिनि माणस ते देवते कीए करत न लागी वार॥' *(पृ. ४६३)*

—मैं अपने गुरु पर दिन में सौ-सौ बार बलिहार जाता हूँ जिसने साधारण मनुष्यों को अपना कल्याणकारी उपदेश देकर देवता बना दिया और ऐसा करने में उसे जरा भी देर नहीं लगी।

१०८. सती

'सतीआ एहि न आखीअनि जे मड़ीआ लग जलंनि।
नानक सतीआ जाणीअनि जि बिरहै चोट मरंनि॥' *(पृ. ७८७)*

—उन स्त्रियों को सती मत कहो जो पति की चिता में जल मरती हैं। नानकदेवजी कहते हैं, वे स्त्रियाँ ही सच्ची सती हैं जो पति के विरह में ही मर जाती हैं।

'भी से सतीआ जाणीअनि सील संतोख रहंनि।
सेवनि साई आपणा नित उठि संमालंनि॥' (पृ. ७८७)

—वे स्त्रियाँ भी सती हैं जो शील और संतोष के साथ रहती हैं तथा नित्य अपने स्वामी की सेवा-सँभाल करती हैं।

१०९. समर्पण

'हउ मनु अरपी सभु तनु अरपी अरपी सभि देसा।
हउ सिरु अरपी तिसु मीत पिआरे जो प्रभ देइ सदेसा॥' (पृ. २४७)

—मैं उस प्यारे मित्र के आगे अपना मन, तन, देश और सिर भी अर्पित करता हूँ जो मुझे प्रभु का संदेश सुनाता है।

११०. सयाना

'जिन अंतरि हरि हरि प्रीति है ते जन सुघड़ सिआणे राम राजे।' (पृ. ४५०)

—हृदय में प्रभु की प्रीति रखनेवाले व्यक्ति ही सयाने हैं।

१११. साधु की संगति

'सत संगति कैसी जाणीअै।
जिथै एको नामु वखाणीअै॥' (पृ. ७२)

—जहाँ सिर्फ प्रभु के नाम का बखान होता है उसे साधु की संगति जानो।

'साध कै संगि मिटै अभिमानु।
साध कै संगि प्रगटै सुगिआनु॥' (पृ. २७१)

—साधु की संगति से अहंकार दूर होता है और मन में ज्ञान का प्रकाश होता है।

'साध कै संगि आवै बसि पंचा।' (पृ. २७१)

—साधु की संगति से पाँच विकार (काम, क्रोध, लोभ, मोह एवं अहंकार) वश में आते हैं।

'महा पवित्र साध का संगु।
जिस भेटत लागै प्रभु रंगु॥' (पृ. ३९२)

—साधु की संगति महापवित्र होती है। साधु से भेंट होते ही मन प्रभु के रंग में रँग जाता है।

११२. सुख

'डिठा सभ संसारु सुखु न नाम बिनु।' (पृ. ३२२)

—सारा संसार घूमकर देख लिया, ईश्वर के नाम के बिना कहीं भी सुख नहीं है।

'सुखु नाही बहुतै धनि खाटे। सुखु नाही पेखे निरति नाटे।
सुख नाही बहु देस कमाए। सरब सुखा हरि गुण गाए॥' *(पृ. ११४७)*

—बहुत अधिक धन कमा लेने या नृत्य अथवा नाटक देखने या अनेक देशों का भ्रमण कर लेने से सुख प्राप्त नहीं होता। सच्चा सुख हरि के गुणों का गायन करने में है।

११३. सुमिरन

'जिसु नीच कउ कोई न जानै।
नामु जपत उहु चहुकुंट मानै॥' *(पृ. ३८६)*

—जिस नीच व्यक्ति को कोई नहीं जानता, ईश्वर के नाम का जाप करने से चारों दिशाओं में उसे प्रतिष्ठा मिलती है।

'तिस की तृस्ना भुखि सभ उतरै जो हरि नाम धिआवै।' *(पृ. ४५१)*

—हरि का नाम सुमिरन करनेवाले व्यक्ति की तृष्णा और भूख मिट जाती है।

११४. सृष्टि रचना

'हुकमी होवनि आकार…' *(पृ. १)*

—ईश्वर के हुक्म (इच्छा) से यह सृष्टि अस्तित्व में आई।

'सगली बणत बणाई आपे…
इकसु ते होइउ अनंता नानक एकसु माहि समाए जीउ।' *(पृ. १३१)*

—नानकजी कहते हैं—यह सारी सृष्टि प्रभु ने स्वयं बनाई…एक ईश्वर से असंख्य प्राणी हुए। अंत में जीव उसी ईश्वर में समा जाते हैं।

११५. सेवक

'नानक सेवकु सोई आखीऐ जो सिरु धरे उतारि।
सतिगुर का भाणा मनि लए सब्दु रखै उरधारि॥' *(पृ. १२४७)*

—नानकदेवजी कहते हैं, सेवक वही व्यक्ति कहलाता है जो अपना शीश गुरु के आगे अर्पित कर देता है और उसकी हर इच्छा को स्वीकार करते हुए शबद को हृदय में धारण करता है।

११६. सेवा

'सेवा करत होइ निहकामी। तिस कउ होत परापत सुआमी॥' *(पृ. २८६)*

—निस्स्वार्थ मन से सेवा करनेवाले व्यक्ति को ही ईश्वर प्राप्त होता है।

'बिनु सेवा फलु कबहु न पावसि।' (पृ. ११२)

—सेवा के बिना फल कभी प्राप्त नहीं होता।

११७. स्नान

'मनि मैले सभु किछु मैला,
तनि धोते मनु हछा न होइ।' (पृ. ५५८)

—जिस व्यक्ति का मन मलिन है उसका सबकुछ मलिन है। तन के स्नान से मन की मैल दूर नहीं होगी।

'गिआनु स्रेष्ट ऊतमु इस्नानु।' (पृ. ७१६)

—ईश्वर का ज्ञान सबसे श्रेष्ठ एवं उत्तम स्नान है।

'सूचे इहु न आखीअै बहनि जि पिंडा धोइ।
सूचे सेई नानका जिन मनि वसिआ सोइ॥' (पृ. ४७२)

—सिर्फ तन का स्नान कर लेने से व्यक्ति शुद्ध नहीं हो जाता। नानक का कथन है, वही व्यक्ति शुद्ध हैं जिनके मन में प्रभु का नाम बसा हुआ है।

□□□

हाँ, यह सोचने की बात अवश्य है कि जहाँ पहुँचकर मनुष्य की बुद्धि इति कहकर निश्चेष्ट होकर बैठ जाती है, वहाँ मनुष्य की कल्पनाशक्ति पर कैसी प्रतिक्रिया होती है। क्या वह भी बुद्धि के साथ आराम से लेट जाना चाहती है अथवा दुर्गम और दुर्भेद्य के बीच अपनी राह निकालने के लिए शायक-संधान करने का साहस उसमें अभी शेष है ?

जार्ज रसल की कल्पना, बुद्धि के साथ लेटकर आराम से पगुरानेवाली कल्पना नहीं है, बल्कि जहाँ बुद्धि थकने लगती है, वहाँ भी उनकी कल्पना साहस के साथ आगे देखने का प्रयत्न करती है। और उनका रहस्यवाद भी उस हीन कोटि का रहस्यवाद नहीं है जिसे हमलोग तोता-मैना काव्य में से अन्योक्ति अथवा अप्रस्तुत प्रशंसा की सीढ़ी लगाकर बड़ी ही आसानी से निकाल लेते हैं। यह ठीक है कि राग की भाषा होने के कारण काव्य में कल्पना का प्राधान्य होता है, किन्तु, जो कल्पना ईर्ष्यावश बुद्धि की उपेक्षा या त्याग केवल इसलिए करती है कि वह उसकी तेजस्विता की बराबरी नहीं कर सकती, उस कल्पना के सहारे सच्ची रहस्यात्मकता की सृष्टि नहीं हो सकती। प्रत्येक प्रकार की धुँधली वाणी को हम रहस्यवाद मान लें, यह रहस्यवाद-जैसे महँगे शब्द का मान घटाना तथा असमर्थ उद्‌गारों को अनुचित महत्त्व देना है। वाणी धुँधली इसलिए भी हो सकती है कि जो तत्त्व बुद्धिगम्य है, उसका भी सुस्पष्ट चित्रण कवि अपनी अक्षमता के कारण नहीं कर सका हो, उसके भीतर साधारणीकरण की शक्ति सीमित हो अथवा उसकी भाषा में बल नहीं हो। बुद्धि हमारी जिज्ञासाओं का जहाँ तक समाधान कर सकती है, वहाँ तक वह रहस्यवादी को भी ग्राह्य होनी चाहिए। किन्तु, उसके आगे के संसार में रहस्यवादी अपनी कल्पना-शक्ति के बल पर प्रवेश करता है। अतएव, सच्ची रहस्यात्मकता के पीछे बुद्धि का भी प्रबल आधार होता है। हाँ, यह संभव है कि प्रत्येक रहस्यवादी की बुद्धि अध्ययन और मनन-जनित अथवा शास्त्रीय ही नहीं होती ; क्योंकि मनुष्य के भीतर सहज प्रवृत्ति (Intuition) नाम की भी एक शक्ति है जो वही काम करती है जिसका सम्बन्ध ज्ञान अथवा बुद्धि से है। कबीर, दादू और नानक के सम्बन्ध में कहा जाता है कि ये महात्मा बड़े

विद्वान नहीं थे और जब-तब मस्ती में आकर उन्होंने पांडित्य का कुछ निरादर भी किया है। फिर भी अपनी साधना के बल पर वे जिन निर्णयों पर पहुँचे थे, वे ज्ञानियों और पंडितों के निर्णय से बहुत भिन्न नहीं हैं। अगर वेदों और उपनिषदों को हम भारतीय ज्ञान का आदिकोष मानते हों तो हमें यह भी मानना पड़ेगा कि वेद का ज्ञान इन महात्माओं के हृदय में सहज रूप से प्रकट हो गया था। न्याय और मीमांसा की सीढ़ियाँ इन साधकों ने नहीं पकड़ीं, किन्तु, तब भी वे ज्ञान के उस स्तर पर पहुँच गये जहाँ पहुँचते-पहुँचते पंडितों की भी आयु थक जाती है। यह चमत्कार सहज प्रवृत्ति का है। यह चमत्कार उस शक्ति का है जिसे हम, अन्य कोई नाम नहीं पाकर, हृदय की शक्ति कहते हैं। अक्ल जिसे समझ नहीं सकती, दिल उसे आँखों से देखता है। हठयोगी जिसे विविध क्रियाओं के द्वारा भी प्राप्त नहीं कर सकता, वही समाधि किसी-किसी को आप-से-आप लग जाती है।

साधो, सहज समाधि भली।
गुरु-प्रताप जा दिन ते लागी
युग-युग अधिक चली।

गाँधीजी की अन्तर्ध्वनि के किस्से पर विवेकशील लोग अब भी एक प्रकार की हँसी हँसते हैं जिसका अर्थ होता है कि गाँधी भी अजब भटका हुआ जीव था। किन्तु, यह इस प्रकार हँसी में टालने को बात नहीं है। सहज प्रवृत्ति भी ज्ञान का एक माध्यम है, और गाँधीजी इसी शक्ति के बल पर अपने निर्णय पर पहले पहुँचते थे और उसकी दलीलें पीछे उपस्थित किया करते थे।

जहाँ तक बुद्धि की गति है, वहाँ तक कल्पना को भी सुस्पष्ट होना ही चाहिए; क्योंकि अगर अपने देखे हुए दृश्य को वह सुस्पष्टता से उपस्थित नहीं कर सकी तो उसे बुद्धि के ताने सहने पड़ेंगे। क्योंकि जो वस्तु बुद्धि के द्वारा सुस्पष्टता से देखी जा सकती है, उसके चित्रण को अगर कल्पना ने धूमिल छोड़ दिया तो यह उसकी असमर्थता होगी। कल्पना में बुद्धि से कुछ अधिक शक्ति होती है। कवि से हम केवल यही आशा नहीं करते कि वह हमें वैसा ही चित्र

दिखलाये जैसा चित्र हम इतिहासकार और वैज्ञानिक के यहाँ देखते हैं। विज्ञान सुन्दर होने के पहले सुस्पष्ट होता है ; बल्कि सौन्दर्य तो उसका आनुषंगिक गुण है, उसका वास्तविक गुण तो सुस्पष्टता ही होना चाहिए। किन्तु कवि से हमारी यह आशा होती है कि वह जो कुछ भी हमारे सामने लाये वह केवल सुस्पष्ट ही नहीं, वरन् सुन्दर और उद्दीप्त भी हो। इसलिए, जहाँ तक बुद्धि और कल्पना की समानान्तर दौड़ का क्षेत्र है, वहाँ तक रहस्यवाद जैसी किसी वस्तु की सत्ता नहीं मानी जा सकती। असल में, रहस्यवाद वहीं आ सकता है, जहाँ बुद्धि श्रान्त हो कर बैठ जाय और कल्पना आगे बढ़कर अदृश्य का संकेत देती हो। रहस्यवाद पूर्णता की अपूर्ण अनुभूति है। रहस्यवाद उस अगोचर को छूने का प्रयास है जिसे तर्क नहीं छू सकता, जो बुद्धि के स्पर्श के परे है। अपनी समाधि में फैलते-फैलते मनुष्य जब गोचर परिधि के पार जाने लगता है तब उसकी अनुभूति शब्दों में सुस्पष्ट रूप से नहीं कही जा सकती। शब्द उस अनुभूति का सिर्फ संकेत भर देते हैं और उन्हीं संकेतों के बल पर हमें उसे ग्रहण करना होता है। व्यक्ति में किसी ऐसी भाव-दशा की सत्ता संभव है या नहीं, इस प्रश्न पर विज्ञान से प्रमाण माँगना उसे व्यर्थ ही असमंजस में डालना है ; क्योंकि संसार की विभिन्न भाषाओं में ऐसे कितने ही कवि और सन्त हुए हैं, जिनकी आत्मा ने ऐसे प्रसार का अनुभव किया था। रह गई उपयोग की बात, सो हमारे भीतर ऐसी कितनी ही शक्तियाँ हैं जिनका आधिभौतिक जीवन में कोई प्रत्यक्ष उपयोग नहीं है, किन्तु, जिनके विकास से हमारी आन्तरिक सम्पन्नता में वृद्धि होती है और हमारे चौकोर (Rounded) व्यक्तित्व के निर्माण में सहायता मिलती है। गोचर के घेरे से उमड़कर अगोचर से टकरानेवाला हमारा आत्मिक प्रसार भी, इसी प्रकार, हमारे व्यक्तित्व को और भी अधिक सम्पन्न बनाता है, हमें और भी अधिक पूर्ण करता है।

और सच पूछिये तो रसल की आत्मा का इतिहास पूर्णता के अधिक से अधिक समीप पचहुँने के लिए अटूट साधना में संलग्न सतत जागरूक आत्मा का ही इतिहास है। किन्तु, उनकी साधना की प्रक्रिया रूढ़िग्रस्त योगियों की

साधना की प्रक्रिया नहीं थी जो शास्त्र का आधार और आप्त वचनों का प्रमाण पकड़कर चलते हैं, जो अपने मन के स्वर्ग में प्रवेश करने के पूर्व बुद्धि के पाँवों में बेड़ी तथा इच्छा के अङ्ग-अङ्ग पर जंजीर कस देते हैं ; क्योंकि उन्हें भय लगा रहता है कि अगर इन्द्रियाँ नियंत्रण से कुछ छूट गईं तो फिर मोक्ष का पद हाथ नहीं आयेगा। इसके विपरीत, रसल के जीवन में हम श्रद्धा और बुद्धि को एक ही छत के नीचे निवास करते देखते हैं। उनकी श्रद्धा जितनी प्रबल है, उनकी बुद्धि भी उतनी ही प्रखर है तथा वह प्रत्येक दिशा में एक नई जिज्ञासा का भाव जगाये चलती है। यह बुद्धि शास्त्रों से डरे हुए साधक की अन्ध श्रद्धा नहीं, किन्तु, एक जाग्रत आत्मा की अदम्य इच्छा का प्रतिरूप है जो प्रत्येक आवरण को हटाकर उसके परे देखना चाहती है। बाह्य जीवन में हम जो कुछ देखते हैं, उसका विधिवत् वर्णन कर देना बहुत आसान काम है। मन में जो तरंगें उठती हैं और समाधि में जो सपने लहराया करते हैं उनका चित्रण भी उतना कठिन नहीं होता। किन्तु, समाधि के मूल में बसनेवाली आत्मा को अपना वर्ण्य विषय बनाकर कविता रचने का कार्य अत्यन्त दुरूह होता है। तोभी यही काम है जिसमें रसल जीवनभर लगे रहे और इसी श्रद्धा-समन्वित बौद्धिक प्रयास के भीतर से उनका विकास पूर्णता की ओर हुआ।

जार्ज रसल एक साथ कवि, दार्शनिक और चित्रकार थे, किन्तु, अपने पीछे उन्होंने जो नाम छोड़ा है, वह महान् होता हुआ भी, किसी विशेषज्ञ का नाम नहीं है। यों तो उनके काव्य, चित्र और विचार, सभी का अन्यतम महत्त्व है, परन्तु, कला या दर्शन में जिसे सम्पूर्ण सिद्धि कहते हैं, वह उन्हें इन तीनों में से एक में भी नहीं मिली। उनके शब्दों के जो सतही अर्थ हैं उनमें अधिक विलक्षणता नहीं मिलती ; विलक्षणता तो उन शब्दों के भीतर छिपी हुई व्याप्तियों में निहित है। किन्तु, आज के युग में इन व्याप्तियों तक पहुँचने की शक्ति या धीरता अधिक लोगों में नहीं पायी जाती। ज्यादा लोग तो ऐसे ही हैं जो उस भाव-जगत को ही गलत समझते हैं जिसमें प्रविष्ट होकर रसल ने काम किया है। इस स्थिति का एक कारण, शायद, यह भी है कि अपनी सभी क्षमताओं को लेकर

रसल अपने आपका ही अनुसन्धान कर रहे थे—दर्शन, कविता और चित्र ये उनके लिए सुयश और अमरता के साधन नहीं, प्रत्युत्, आत्मविकास के ही सोपान थे।

कभी-कभी मुझे ऐसा मालूम होता है कि रसल का रहस्यवाद अपनी तमाम परम्पराओं को लिए हुए होने पर भी बिलकुल नवीन था। उनमें पहले के रहस्यवादियों की अन्धभक्ति नहीं मिलती। कभी-कभी वे उन शंकाओं से भी ग्रस्त दीखते हैं जो शंकाएँ बहुत-से सामान्य जिज्ञासुओं को सताया करती हैं। शायद, यह कहना उतना ठीक नहीं होगा कि अदृश्य की सत्ता में अटूट विश्वास रखने के कारण वे रहस्यवादी हो गए थे, जितना यह समझना कि मनुष्य के भीतर जो एक अविश्लिष्ट देश है उसमें उन्होंने कौतूहल और आकुल जिज्ञासा से प्रेरित होकर डुबकी लगायी और ज्यों-ज्यों इस अनुसन्धान में उन्हें रस मिलता गया, त्यों-त्यों वे और गहराई में नीचे उतरते गये। और जीवन के अन्त तक उन्होंने इस अनुसन्धान में कुछ पाया भी या नहीं, यह बात भी दृढ़ता के साथ नहीं कही जा सकती; क्योंकि बुढ़ापे में आकर एकाध बार, उन्होंने इस बात के लिये भी विलाप किया कि उनकी सारी जिन्दगी उन भावों की उपासना में व्यर्थ ही बीत गई जिनके मूल का पता ही नहीं चलता। रहस्यवादी बनने या कहलाने की भी उन्हें कोई इच्छा नहीं थी। जिस कृत्रिम रहस्यवाद की झाँकी दूसरों की अनुभूति या दूसरों के द्वारा निर्मित प्रतीक का नाम लेकर दिखलाई जाती है उससे तो उन्हें और भी चिढ़ थी। उन्होंने एक स्थल पर लिखा है कि "आज के रहस्यवादियों की आत्मा अनगढ़ सिद्धान्तों का आगार बन गई है। वे संस्कृत-साहित्य से कुछ नाम उठा लाते हैं और उनके आधार पर ऐसे-ऐसे प्रतीकों की रचना कर डालते हैं जिनमें रचयिता के हृदय की धड़कन बिलकुल सुनायी नहीं देती।"

सच पूछिये तो रसल का रहस्यवाद एक बौद्धिक चिन्तक का रहस्यवाद है। प्रस्तुत और दृश्य के पीछे प्रच्छन्न तथा अदृश्य-लोक की जो झाँकी पहले के चिन्तक अपनी समाधि में देखते आये थे, उसीके भीतर प्रवेश करने की जिज्ञासा

ने रसल को रहस्यवादी बनाया। और, यह कार्य उन्हें इतना प्रिय प्रतीत हुआ कि जीवन की बाह्य सम्पन्नता की ओर उन्होंने कभी ध्यान ही नहीं दिया। आरम्भ में वे किसी बैंक में क्लर्क थे; पीछे चलकर उन्होंने अपना सारा समय आयरलैण्ड में सहकारिता के प्रचार में लगा दिया। संस्कृत एवं अन्य प्राच्य दर्शनों का उन्होंने विधिवत् अध्ययन किया था और सच्चे भारतीय ऋषियों का अनुकरण करते हुए उन्होंने अपनी सारी शक्ति अपने-आपको भीतर से सम्पन्न बनाने में लगा दी थी। जन-जीवन का साथ उन्होंने कभी नहीं छोड़ा, बल्कि अपने जीवन के अन्तिम पचीस वर्ष तो उन्होंने अपने देशवासियों के गहरे सम्पर्क में बिताये। किन्तु, मन उनका उसी लोक में घूमता रहा जो चर्मचक्षुओं से देखा नहीं जा सकता, जिसके रूप को विज्ञान की काठ की उँगलियाँ नहीं छू सकतीं। भीतर की दुनिया में उन्हें जो बौद्धिक आनन्द मिलने लगा था उसके सामने बाहर के सुख, सुविधा और सुयश सभी फीके थे। सुयश की उन्हें इच्छा नहीं थी और न इहलौकिक सुखों पर ही उनका कोई विशेष ध्यान था। यहाँ तक कि जीवन-भर उन्होंने जो प्रभूत चिन्तन किया था, उसका भी एक अप्रमुख अंश ही उन्होंने संसार के लिये छोड़ा है। उनके जीवन-काल में कहा जाता था कि रसल दूसरों के विचारों की धाय (Midwife) है अर्थात् रसल से बातें करते समय प्रत्येक मनुष्य के भीतर विचारों का ज्वार-सा उठ खड़ा होता है। किन्तु ऐसा दुर्लभ कार्य भी उन्होंने बहुत नहीं किया। वेद, उपनिषद् और प्राच्य एवं पाश्चात्य दर्शनों के बीच निरन्तर निमग्न एवं जीवन की मौलिक समस्याओं पर कठोर चिन्तन करते हुए वे बराबर अपने भीतर की दुनिया में डूबते गये और इस बात पर कभी सचेष्ट होकर विचार ही नहीं किया कि इसका निचोड़ एक अच्छी मात्रा में, मनुष्यता के लिये भी छोड़ जाना चाहिए। तब भी जो-कुछ साहित्य वे छोड़ गये हैं, वह उनके चिन्तनशील व्यक्तित्व से स्वेद के समान निःसृत हुआ-सा लगता है।

विशेषतः, कविता को वे कवि के व्यक्तित्व की स्वाभाविक द्रुति मानते थे। काव्य-रचना के प्रसंग में लिखते हुए उन्होंने कहा है कि "जिस ग्रन्थ में मुझे

सर्वाधिक ज्ञान मिला है (अर्थात् गीता) उसकी शिक्षा है कि कर्म की प्रेरणा तुम्हारे कर्म में ही निहित होनी चाहिए। अर्थात् कविता रचने और चित्र अंकित करने की मूल प्रेरणा यही होनी चाहिये कि रचना के समय हमें आनन्द की प्राप्ति होती है। हमें कविताएँ तो उसी स्वाभाविकता से लिखनी चाहिए जिस स्वाभाविकता से वृन्तों पर फूल खिला करते हैं। किसी सुन्दर वस्तु का निर्माण कर लेने के बाद हमारे भीतर यह लालसा क्यों जगे कि उसे दुनिया याद भी रखेगी या नहीं?"

वस्तुतः, वे कला की कृतियों को प्रचार की वस्तु नहीं मानते थे। उल्टे, उनका विचार था कि जब संसार की दृष्टि कलाकार की कृतियों पर पड़ने लगती है, तब उस कलाकार का भोलापन कुछ कम होने लगता है। रसल ने लिखा है कि आरम्भ में जब वे कविताएँ रचते थे तब उन्हें अपने भीतर एक प्रकार की निर्दोषता का आभास मिलता था; किन्तु, जभी उनका पहला संग्रह प्रकाशित हुआ और उसकी चर्चा लोगों में सुनाई पड़ने लगी, उनकी इस निर्दोषता में एक कमी आ गयी जिसकी पूर्ति वे सारे जीवन में नहीं कर सके।

कविता के सम्बन्ध में जिस कवि के इतने पवित्र और कोमल भाव हों, वह कला को किस रूप में ग्रहण करता होगा, इसका आसानी से अनुमान किया जा सकता है। फिर भी जीवन के प्रति उनमें वह उपेक्षा नहीं थी जो "कला के लिए कला" नामक सिद्धान्त में विश्वास करनेवाले अनेक विद्वानों में पायी जाती है। दर-असल, सभी कलाओं और विद्याओं के माध्यम से वे अपने-आपकी खोज कर रहे थे (जो, एक प्रकार से, मनुष्यमात्र की खोज है)। वे अपनी आभ्यन्तर सम्पन्नता की वृद्धि करना चाहते थे। अतएव, दायित्वहीन सिद्धान्तों की ओर उनका झुकाव नहीं हो सकता था। फिर भी कविता और चित्र के साथ उन्होंने पवित्रता, सुकुमारता और स्वाभाविकता के जिन भावों को सम्बद्ध कर रखा था, उसमें सहायक होने के कारण "कला के लिए कला' वाले सिद्धान्त के प्रति वे यत्किञ्चित् सहानुभूतिशील थे। "रचना की प्रक्रिया में एक आनन्द है जिसे वे लोग नहीं पा सकते जो केवल बनी-बनायी वस्तुओं का उपभोग करते हैं। इसका कारण यह है कि कलाकार जब अपनी कृतियों में अपने-आपको अभिव्यक्त करता

है तब वह जीवन के ही किसी नैसर्गिक नियम का पालन करता होता है। अगर मैं ऐसी जगह पर भी कैद कर दिया जाऊँ जहाँ मेरे सिवा और कोई भी नहीं हो, तब भी मैं चित्र बनाना तो नहीं ही छोड़ूँगा। चित्र बनाने में जो एक आनन्द है, वह यह सोचकर न्यून क्यों होगा कि उसे देखनेवाला कोई नहीं है ?" इस संदर्भ के बाद रसल ने यह संकेत किया है कि हो-न-हो 'कला के लिए कला' वाले सूत्र में भी कुछ-न-कुछ सत्य निहित होगा।

सिद्धान्तों का उदय शून्य या नकारात्मकता से नहीं होता। आगे चलकर खण्डित हो जानेवाले सिद्धान्त भी अपने भीतर का कोई-न-कोई अंश नवागन्तुक सिद्धान्त के हाथ में धर जाते हैं ; क्योंकि यह अंश सत्य होता है और इसके बिना उस सिद्धान्त का भी काम नहीं चल सकता जो पहले के किसी अधूरे सिद्धान्त पर विजयी होता है। "कला के लिए कला" वाले सिद्धान्त का भी यही हाल है। रचना की प्रक्रिया में एक आनन्द है, इसे तो वे भी स्वीकार करते हैं जिनका विचार है कि रचना समाज के लिए की जानी चाहिए। सम्भव है, कला के भीतर सामाजिकता की, दृढ़ता से, स्थापना हो जाने के बाद हम फिर इस सिद्धान्त की ओर मुड़ें कि कला में कभी-कभी "कला" की भी प्रधानता होनी चाहिए।

टालस्टाय "कला के लिए कला" वाले सिद्धान्त के प्रबल विरोधी हुए हैं और संयोग से एक स्थल पर रसल ने टालस्टाय के सिद्धान्त पर अपना विचार प्रकट किया है जिससे इस बात पर कुछ और प्रकाश पड़ता है कि कला के सम्बन्ध में रसल के अपने विचार क्या थे। वे लिखते हैं कि "टालस्टाय हर चीज को एक नैतिक दृष्टिकोण से देखने के आदी हैं, किन्तु, वे यह भूलते हैं कि जीवन की सम्पूर्णता के दर्शन के लिए उसे अनेक दृष्टियों से देखना पड़ता है। सुन्दर की सत्ता टालस्टाय केवल इसलिए नहीं मानना चाहते कि वह सुन्दर है, बल्कि, इस कारण कि सुन्दरता श्रम करती है, सुन्दरता सूत कातती है और जरूरत होने पर अपने अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए वह प्रवचन भी करती है।···मेरा खयाल है कि साहित्य और कला की आलोचना करने में टालस्टाय ने अपने श्रम, अहंकार

और अन्धवृत्ति का परिचय दिया है। किन्तु, सब कुछ होते हुए भी वे एक महान प्रतिभा-सम्पन्न विद्वान हैं और उनके उद्गारों में भी कुछ ऐसे तो हैं ही जिनसे सहमत होने में मुझे कोई आपत्ति नहीं हो सकती। उदाहरणार्थ, उनका यह कथन सत्य प्रतीत होता है कि विश्वजनीन कला का जन्म तब होता है जब कि कलाकार को किसी गम्भीर भाव की अनुभूति होती है और वह उसे सबके लिए सुलभ बनाना चाहता है। इसके विपरीत, ऐसे भी कलाकार हैं जो इसलिए लिखते हैं चूँकि उनकी रचनाओं से कुछ धनियों का मनोरञ्जन होता है।" इस विभाजन के साथ रसल ने अपनी पूरी सहमति प्रकट की है और सभी लेखकों, कवियों एवं कलाकारों को उन्होंने सलाह दी है कि वे टालस्टाय के कला-सम्बन्धी विवेचन पर अवश्य ध्यान दें, क्योंकि लेखकों में से अधिकांश आज धनियों के पैसों पर जीने लगे हैं और वे जीवन की वही झाँकी सामने लाने लगे हैं जो धनियों को पसन्द है।

रसल कला के क्षेत्र में उपदेश और प्रवचन के विरोधी थे। वे कला की कृतियों को कलाकार के जीवन का नवनीत तथा उसकी स्वाभाविक सुरभि मानते थे। शुद्ध नवनीत और शुद्ध गन्ध के लिए दूध और फूल का भी शुद्ध होना आवश्यक है। अतएव, उनका विश्वास था कि मन्द और मलिन व्यक्तित्व से सुन्दर कृतियों का जन्म नहीं हो सकता। टालस्टाय-जैसे महान लेखक को भी जो उन्होंने श्रद्धा से स्वीकार नहीं किया, उसका कारण यही था कि टालस्टाय के आरम्भिक जीवन का पाशविक आवेग उन्हें बराबर याद रहा और उस आवेग की गन्ध उन्हें टालस्टाय की रचना से अन्त तक विचलित करती रही। टालस्टाय भी आत्माभिव्यक्ति के लिए अपने जीवन की खान में ही काम करते थे, किन्तु, वे कलाकार होने के साथ-साथ उपदेशक भी थे। अतएव, अपनी अनुभूति की मिट्टी खोदने में उन्हें वह प्रसन्नता नहीं मिली जो एक कलाकार को मिलनी चाहिए। एक ओर तो उनका कलाकार मिट्टी को उलट रहा था, दूसरी ओर, उनके भीतर का उपदेष्टा, मानों, यह कहकर घिना रहा था कि यह तो बिलकुल सड़ी-गली चीज है। जार्ज रसल टालस्टाय की हठयोग-जैसी वृत्ति के भी विरोधी थे,

क्योंकि उन्होंने लिखा है कि "टालस्टाय की नैतिकता सभी प्रिय लगनेवाली बातों का वध करनेवाली है। शायद, टालस्टाय इस भाव से पीड़ित हैं कि जो भी इच्छाएँ हमें प्रिय दीखती हैं वे अवश्य ही पापमयी होंगी, अतएव, चुन-चुन करके हमें सभी सुहावनी इच्छाओं का वध कर डालना चाहिए।" ऐसी उक्ति उसी व्यक्ति के मुख से निकल सकती है जो जीवन के विविध रूपों के प्रति बहुत उदार हो। अगर पाप का लक्षण उसका खूबसूरत होना मान लिया जाय, तो सचमुच ही, जीवन में कहीं रस नहीं टिक सकता है।

मनुष्य की आध्यात्मिक अभिव्यक्ति का माध्यम होने के कारण कला को वे अत्यन्त पवित्र एवं स्वाभाविक मानते थे। फिर भी उनका विश्वास था कि कला की श्रेष्ठता की पहचान अभिव्यक्ति की तेजस्विता और सहजता से ही हो सकती है, केवल शैली की विलक्षणताओं से नहीं। दूसरी ओर, कला में सोद्देश्यता के आरोप से उन्हें घृणा थी। वस्तुतः, कला का उपयोग वे आनन्द के अतिरिक्त किसी अन्य उद्देश्य के लिए करना ही नहीं चाहते थे। "मैं तो अपना दीपक अपने आनन्द के लिए जलाता हूँ, अगर उससे दूसरों को भी रौशनी मिल जाती है तो अच्छी बात है।" यह भाव उनके कला-सम्बन्धी सभी मतों का निचोड़ है। शैली या टेकनिक के सम्बन्ध में तो उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि "शैली पर आवश्यकता से अधिक ध्यान देना भी एक दोष है जिससे कलाकार को बचना चाहिए। टेकनिक पर अगर हम बहुत अधिक सोच-विचार करने लगें तो इसका एक बुरा प्रभाव हमारी रचना की सहजता पर भी पड़ सकता है। वक्ता का समग्र ध्यान तो अपने विषय पर केन्द्रित रहना चाहिए। अगर वह अपने भाषण की शैली और स्वर के चढ़ाव-उतार को देखने लगेगा तो, निश्चय ही, उसके भाषण की प्रभविष्णुता में कमी हो जायगी। श्रोताओं से तो यह बात छिपी नहीं रह सकती कि वक्ता का ध्यान एक वस्तु पर है अथवा वह दो वस्तुओं (अर्थात् विषय और शैली) को सँभालने की कोशिश में है और अगर श्रोतओं को यह पता चल गया कि वक्ता अपनी शैली को सजाने या सँभालने की कोशिश कर रहा है तो भाषण से उसका असर ही जाता रहेगा। अतएव, अच्छा यही है कि

हम अपने सम्पूर्ण अस्तित्व को विषय के साथ तल्लीन कर दें और अभिव्यक्ति की शैली को प्रकृति के ही अधीन चलने दें।"

शैली और भाव के विषय में रसल ने जो यह सूक्ष्म विवेचन किया है, साहित्य में उसे बहुत अधिक महत्त्व दिया जाना चाहिए, क्योंकि यद्यपि शैली और भाव दोनों मिलकर ही साहित्य की रचना करते हैं, फिर भी साहित्य में भाव का स्थान पहले और शैली का पीछे आता है। हम भावों की अभिव्यक्ति के लिए शैलियों की तलाश करते हैं, शैलियों के भीतर स्थापित करने के लिए अनुकूल भावों की खोज नहीं किया करते। कुछ कवि ऐसे भी जरूर होते हैं जो केवल काफिये या अन्त्यानुप्रास के संकेत पर अनुकूल भाव जुटाकर पूरी गजल-की-गजल लिख डालते हैं, किन्तु, काव्य-रचना की सामान्य पद्धति यह नहीं है। कविताएँ तो, प्रायः, इसीलिए रची जाती हैं कि कवि के हृदय में पहले भाव आते हैं और तब वह उनके अनुकूल छन्दों, रीतियों एवं तुकों का चुनाव करता है अथवा आवश्यकता पड़ने पर छन्दोबन्ध को ही तोड़ डालता है।

कला की जिस प्रगतिशील व्याख्या को आज के कलाकार उत्साह से ग्रहण करते हैं, उनके मत से रसल के मत का स्पष्ट ही वैपरीत्य है, क्योंकि रसल इस बात को जरा भी बर्दाश्त नहीं कर सकते कि कला-जैसी सुकोमल एवं स्वाभाविक वस्तु का उपयोग राजनीतिक आन्दोलनों के प्रचार के लिए किया जाय अथवा उसके माध्यम से सामाजिक अत्याचारों पर प्रहार या राष्ट्रीयता की उपासना की जाय। "जब जनता विद्रोह करती है तब वह पूर्ण रूप से जाग्रत अवस्था में आ जाती है। उस समय उसकी वह स्वप्निल चेतना विनष्ट हो जाती है, जो वस्तुतः कविता के जन्म की भूमि है। इसलिए, राजनीतिक एवं क्रान्तिकारी आन्दोलनों से सच्ची कविता का जन्म, शायद ही, हो सकता है। क्रान्तियों से कविता में जो विलक्षणता आती है, वह उसकी शक्ति है, आत्मा नहीं।" क्रान्ति की कविताओं को रसल Rhetoric या रीति कहते हैं। "रीति से आत्मा जड़ हो जाती है। अगर मैं क्रान्तिकारी कविताएँ पढ़ने लगूँ तो मैं जानता हूँ कि मेरी आत्मा में जिस क्रान्ति-भावना का प्राचुर्य है वह समाप्त हो जायगी। इन

कविताओं के रचयिता अखबारों के अग्रलेख पढ़-पढ़कर गुस्से में आते रहते हैं, मगर, क्रोध के आवेश में आना तो आत्मा को जगाने का सही मार्ग नहीं कहा जा सकता।"

आयर्लैंड में स्वाधीनता-संग्राम के प्रसंग में जो अनेक ओजस्विनी कविताएँ लिखी गयीं, रसल उन कविताओं के भी कठोर आलोचक थे। उनका विचार था कि सच्ची कविता में विश्वभर की भावनाओं और विचारों का संकेत रहता है। सच्ची कविता में एक प्रकार की अनन्तता का वातावरण रहता है और उसे पढ़ते समय ऐसा मालूम होता है, मानों, यह विश्व के किसी भी कोने में, इतिहास के किसी भी युग में, लिखी जा सकती थी। किन्तु, चूँकि राष्ट्रीय कविताओं में विश्वजनीन भावनाओं का अभाव होता है, इसलिए, वे ऐसी कविताओं को कविता मानने को तैयार नहीं थे।

रसल की यह उक्ति अप्रिय होते हुए भी सत्य से बहुत दूर नहीं कही जा सकती। विशेषतः, जब हम यह सोचते हैं कि रसल राष्ट्रीयता को मनुष्य की कमजोरी समझते थे और मनुष्य को उस रूप की याद दिलाना चाहते थे जो उसका सार्वभौम रूप है, तब हम उनके इस मत को भी सहानुभूति से ग्रहण करने योग्य हो जाते हैं। राष्ट्रीय जागरण को वे मनुष्य के भीतर बसनेवाले पशु का जागरण कहते थे और रवीन्द्रनाथ को उन्होंने जो हार्दिक श्रद्धा अर्पित की, उसका भी मूल कारण यही था कि रवीन्द्रनाथ स्वदेश से प्रेम करनेवाले मनुष्य की खातिर समग्र संसार से प्रेम करनेवाले मनुष्य का बलिदान करवाना नहीं चाहते थे। वह देशभक्ति तो सचमुच ही निन्द्य है जो अपनी पुष्टि और विकास के लिए उन तत्त्वों का बलिदान माँगती है जो तत्त्व स्वयं देशभक्ति से भी ऊँचे और महान हैं। किन्तु, देशभक्ति का सर्वत्र वही रूप तो नहीं हो सकता जो पश्चिम के देशों में देखने को मिलता है। एक प्रकार की देशभक्ति की स्थापना गाँधी, जवाहरलाल और रवीन्द्रनाथ ने भी की है जो विश्वभक्ति तक जाने में सोपान का काम दे सकती है। अतः, रवीन्द्रनाथ के लिए रसल की श्रद्धांजलि रवीन्द्र और गाँधी की देशभक्ति-भावना के लिए भी निवेदित समझी जानी चाहिए।

कविता के द्वारा मनुष्य में जागरण भी लाया जा सकता है और उसके द्वारा समाज में एक प्रकार का कम्पन भी उत्पन्न किया जा सकता है, यह बात रसल की चिन्ता में भी नहीं आ सकती थी। किन्तु, तब भी कला और काव्य, दोनों को ही वे साध्य नहीं, साधन मानते थे, मनुष्य के आध्यात्मिक विकास का साधन, उसकी आन्तरिक सम्पन्नता की वृद्धि का साधन तथा उसके सुकोमल व्यक्तित्व से सौरभ की तरह प्रस्फुटित होनेवाली अनुभूतियों की अभिव्यक्ति का साधन। वे कला को अत्यन्त सहज, सुकोमल और सूक्ष्म मानते हुए भी उसे केवल सौन्दर्य-सृष्टि का माध्यम नहीं मानते थे। "मैं इस बात का विरोध करता हूँ कि केवल सुन्दरता ही कविता का लक्ष्य और उसका एकमात्र नियम है। सत्य और शिव भी कविता के वैसे ही आवश्यक उपकरण हैं और कवि के मार्ग-प्रदर्शन में उनका भी प्रबल भाग होना चाहिए।"

मांक गिबन ने लिखा है कि कविता को रसल विशुद्ध कला का पर्याय नहीं मानते थे। कविता का उपयोग वे इसलिए करते थे चूँकि इसके द्वारा सत्य मनुष्य की पकड़ में लाया जा सकता है।

कला निरुद्देश्य नहीं है। किन्तु, रसल के मतानुसार कोई भी स्थूल वस्तु कला का लक्ष्य नहीं हो सकती। कला का काम मनुष्य के भीतरी जगत का विश्लेषण और मनुष्य को उसकी गहराइयों में नीचे ले जाना है। वे सत्यान्वेषण के लिए मनुष्य की बेचैनी को कला कहते हैं; उनके विचार से मानवात्मा की चरम अनुभूतियों की अभिव्यक्ति ही कला का लक्ष्य हो सकती है। कुर्टन ने लिखा है कि रसल कवि को केवल सौन्दर्य का कारीगर नहीं मानते थे, बल्कि, उनकी दृष्टि में कवि होना नबी और द्रष्टा होने के समान है जिसकी बातों को दुनिया इसलिए सुनती है चूंकि ज्ञान के उद्गम का वासी होने के कारण द्रष्टाओं को मनुष्य मात्र के द्वारा सुने जाने का नैसर्गिक अधिकार होता है।

जिस प्रकार, रहस्यवाद उस लोक की अनुभूति है जो बुद्धि की पहुँच के परे पड़ता है, उसी प्रकार, कविता को भी रसल उन भावों की अभिव्यक्ति का माध्यम मानते थे जो बुद्धि के द्वारा किसी भी प्रकार व्यक्त नहीं किये जा सकते। अपने

एक कवि मित्र को उन्होंने लिखा था कि "जिसके भीतर यह आस्था प्रबल नहीं हो कि कविता मानवात्मा की चरम अभिव्यक्ति है, उसे कविता लिखने का प्रयास ही नहीं करना चाहिए। और जो कविता लिखने लगा है उसे यह भी सोच लेना चाहिए कि काव्यगत भावनाओं और विचारों का सौन्दर्य वहाँ तक विकसित किया जाना आवश्यक है, जहाँ तक कवि की पहुँच हो सकती है। कविता की प्रक्रिया शुद्ध विश्लेषण और विशुद्ध चित्रण की प्रक्रिया है। कविता आरम्भ करने के पूर्व कवि में एक प्रकार की बेचैनी होती है और जब कवि कविता लिखने लगे तब उसे बार-बार अपने-आपसे यह पूछते रहना चाहिए कि 'क्या मैं इन चीजों में विश्वास करता हूँ? क्या जो-कुछ मैं महसूस कर रहा था, वह यही चीज है? और क्या मेरी कल्पना की अभिव्यक्ति ठीक-ठीक हो रही है?"

कविता में जिस चित्रमयता को, साधारणतः, प्रमुखता दी जाती है, उसके पीछे, मुख्यतः, फैन्सी अथवा उपकल्पना का हाथ होता है। किन्तु, उपकल्पना पानी की ऊपरी सतह पर ही काम करती है अथवा वह वहीं तक नीचे जा सकती है जहाँ तक सूर्य की किरणें उसे रास्ता दिखलाती हैं। किन्तु, जीवन का सत्य तो वहीं तक सीमित नहीं रहता। जीवन, सचमुच ही, समुद्र के समान गम्भीर है और इसके बहुमूल्य रत्न जलराशि के घनान्धकार के नीचे प्रच्छन्न पड़े हैं। इस अन्धकार को भेदकर समुद्र के तल तक जाने का प्रयास कवि केवल कल्पना के बल पर कर सकता है, उपकल्पना इस कार्य में उसकी सहायता नहीं कर सकती। किन्तु, कल्पना और उपकल्पना में शक्ति का भेद होने पर भी, दोनों के स्वरूप, प्रायः, समान हैं और जब उपकल्पना कवि के साथ चल रही हो तब बहुत सम्भव है कि कवि को यह भ्रम हो जाय कि उसकी पथ-प्रदर्शिका स्वयं कल्पना ही साथ चल रही है। रस्किन ने दोनों का भेद बतलाते हुए कहा है कि उपकल्पना ऐसी रङ्गीनियों की भी सृष्टि कर सकती है जो सत्य नहीं हों। किन्तु, कल्पना सत्य को छोड़कर किसी और को ग्रहण ही नहीं करती। जो-कुछ असत्य और मिथ्या है, उसकी रचना में कल्पना का हाथ नहीं होता। किन्तु, छलनामयी उपकल्पना से सावधान रहने के लिये ही, शायद, रसल ने यह कहा है कि कवि को कदम-

कदम पर यह सोचते रहना चाहिये कि उसकी अनुभूति ठीक-ठीक चित्रित हो रही है वा नहीं ; अथवा जो-कुछ वह लिख रहा है, वह वही चीज है या नहीं, जिसक उसने अनुभव किया था।

रसल की अपनी कविताएँ इस कसौटी पर कहाँ तक खरी उतरी हैं, यह कहना जरा मुश्किल-सा काम है ; क्योंकि उनकी अनेक कविताओं की शैली कुछ अधूरी और उनमें आनेवाले चित्र धूमिल एवं अस्पष्ट हैं। किन्तु, एक बात है कि इन सभी कविताओं की लौ ऊपर की ओर है। कविता रचते समय रसल मन-ही-मन अपने-आपसे कुछ दूर निकल जाते थे और, सचमुच ही, उनकी धुँधली रचनाएँ भी हमें अपने-आपसे अलग ले जाती हैं। दृश्य और गोचर की परीधि को तोड़ कर अनन्तता के किनारे आत्मा का विचरण, ऐसे चित्र रसल की कविता में बार-बार मिलते हैं और, शायद, यही वह चीज है जिसे वे जीवन की गहराई में उतरना कहते हैं।

Let thy young wanderer dream on:
Call him not home.
A door opens, a breath, a voice
From the ancient room
Speaks to him now. Be it dark or bright,
He is knit with his doom.

(GERMINAL)

चूँकि रसल साहित्य को इतनी बारीक चीज मानते थे, इसलिए, उनका यह विश्वास था कि रचना की परिमाणवृद्धि से साहित्य का मान नीचे जाता है। वे केवल यही नहीं चाहते थे कि लिखनेवालों की संख्या थोड़ी हो, बल्कि उनका यह भी विचार था कि जो लोग लिखने का काम करें भी, उन्हें चाहिए कि वे लेखन कम और चिन्तन अधिक करें ; क्योंकि प्रभूत चिन्तन के बिना रचना में कसावट नहीं आ सकती। मुद्रण-यन्त्र के आविष्कार और प्रचार से साहित्य की जो बाढ़ आ गई है, उसे वे मुद्रा-स्फीति की भाँति साहित्य की स्फीति (Inflation) कहते थे। जब-जब मुद्रा की स्फीति होती है, तब-तब उसका मान कम हो जाता है।

इसी प्रकार, अतिशय स्फीति के कारण आज साहित्य का भी कोई प्रभाव नहीं रह गया है।※

बर्नार्ड शा की क्षमता रूसो और वाल्तेयर की अपेक्षा कहीं महान् है, मगर, बर्नार्ड शा का आज के समाज पर वह प्रभाव नहीं है जो रूसो और वाल्तेयर का अपने समय में था। कारण स्पष्ट है। शब्द-रूपी जिस मुद्रा के माध्यम से लेखक अपना व्यवसाय चलाते हैं, उसमें स्फीति आ गई है और उसके मान का जादू लोगों के मन पर से जाता रहा है। इस दुरवस्था के सुधार का रसल ने यह उपाय बतलाया है कि लिखने की छूट केवल उसी लेखक को दो, जो लिखे बिना जी ही नहीं सकता। और ऐसे लेखक को भी चाहिए कि वह अपनी अनुभूति को कम-से-कम शब्दों में अधिक-से-अधिक प्रबलता के साथ व्यक्त करने की कोशिश करे। "कपिल और पतञ्जलि के सूत्रों को देखो। सारी आयु तक मनन करते रहने पर भी मनुष्य उनकी तह तक नहीं पहुँच पाता। इन सूत्रों में से एक का भी पूरा अर्थ अगर हमपर प्रकट हो जाय तो हम अपना दर्शन आप बना सकते हैं।" कोई आश्चर्य नहीं कि रसल का साहित्य परिमाण में इतना थोड़ा रहा।

रसल ने भारतीय दर्शन से जो-कुछ सीखा था, उसीकी अनुभूति से उन्होंने साहित्य की जाँच के लिए अपना एक अलग मापदण्ड बना लिया। भारतीय दर्शन की शिक्षा मनुष्य को अगम और अगाध के आमने-सामने ले जाती है। बाहर के रंगों में जो-कुछ झलकता है, भारतीय मनीषी वहीं तक नहीं रुकते। सत्य का वास तो रंगों के परे और आवरण के पार है। कविता में आनेवाले शब्दों की सुकुमारता, पदों की ललित योजना, चित्रमयता और अलंकार तथा भणिति-भंगिमा में से किसी को भी वे कविता का प्रधान गुण नहीं मानते, क्योंकि उनकी दृष्टि में ये सभी गुण अप्रमुख और गौण हैं। कविता की परख के लिए उनके

※ The currency of literature is words and the printing press enables writers to inflate that correncу as readily as the printing press in Germany or Russia enabled the Governments there to manufacture marks and roubles, until, at iast, a milllion mark or rouble note did not pay for the cost of printing it.

[The Living Torch]

पास केवल एक-कसौटी है और वह यह कि "यह कविता पारदर्शी (Transparent) है अथवा अ-पारदर्शी (Opaque) ? अर्थात् इस कविता में मैं केवल बाह्य सौन्दर्य ही देख पाता हूँ अथवा इसके भीतर से मुझे दूर की चीज भी दिखलाई पड़ती है ? और इसके बाद मैं दूसरी बात यह जानना चाहता हूँ कि इस कविता का कवि जीवन की कितनी गहराई में से बोल रहा है ?" ये बड़े ही मौलिक प्रश्न हैं ; क्योंकि साहित्य में, सचमुच ही, हम जिस सौन्दर्य को चर्मचक्षु अथवा स्मृति की आँखों से देख सकते हैं, उसकी रचना अपेक्षाकृत सरल कार्य है। कहते हैं कि कहानी में मनोविज्ञान का जो स्थान है, कविता में चित्रमयता का वही महत्त्व है। कविता की पंक्ति-पंक्ति में चित्र उगाते चलना, सचमुच ही, प्रतिभासम्पन्नता का ज्वलंत प्रमाण है। किन्तु, इससे भी बड़ी एक और शक्ति है जो वर्ण्य विषय को फूलों, रंगों और मणियों से सजाने के बजाय उसके तल में प्रवेश करके भीतर के सत्य को ही उद्घाटित कर देती है। जब ऐसा होता है, तब हम महसूस करने लगते हैं, मानों, किसीने हमारे पाँव के नीचे से जमीन खींच ली हो, मानों, हम जिस भूमि पर खड़े थे उसके मूल में कोई विस्फोट हो गया हो, मानों, हम जो-कुछ देख रहे थे, वह अचानक उलट गया हो। फूलों की तस्वीर बनाकर पाठकों को प्रसन्न करना उतना कठिन नहीं होता जितना कि उनके भीतर किसी शंका, जिज्ञासा या विचारोत्तेजना को जन्म देना अथवा उनकी किसी ऐसी शंका का समाधान करना जिसका उत्तर साधारण बुद्धि से नहीं दिया जा सकता हो।

जो कवि अपनी देखी हुई सुन्दरता को हमें भी दिखला दे, वह 'जीनियस' होगा। किन्तु, उसे हम क्या कहकर पुकारेंगे जो अपनी देखने की पूरी शक्ति ही हमें दे डालता है ?
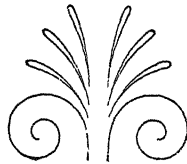
रवीन्द्र-जयन्ती के दिन

एक ही रवीन्द्रनाथ कितने अधिक रूपों में पूजित और प्रशंसित हो रहे हैं, यह देखकर आश्चर्य होता है। कवि को सन्त, दार्शनिक, ऋषि, महर्षि तथा नबी या अवतार मान लेने की हमारी पुरानी आदत है, और अब रवीन्द्रनाथ भी अपनी जाति की इस आदत का शिकार होंगे, इसकी संभावना बढ़ती जा रही है।

हम भारतवासियों की भावाकुलता का क्या कहना! जीवन-भर हम अपने नेताओं की चाहे अवहेलना ही क्यों नहीं करते रहें, उनके मरते ही हम उन्हें देव-कोटि में डालकर अक्षत और फूल चढ़ाने लगते हैं! गाँधीजी के मरने के बाद हमने उनके उपदेशों की ओर से तो मुँह फेर लिया; किन्तु बड़े ही उत्साह के साथ अब हम उनकी मूर्त्तियाँ और मन्दिर बनवा रहे हैं! रवीन्द्र के सम्बन्ध में भी हमारी यही वृत्ति है। यूरोप में उनके सम्बन्ध में कहाँ, किसने, क्या कहा, इसका संकलन करने में हमें बड़ा ही आनन्द आता है; किन्तु, रवीन्द्र-साहित्य की तह में पैठकर उसके सौरभ को रोम-रोम से पीने की धीरता और साहस का हम में अपेक्षाकृत अभाव है। सन्त, महात्मा, द्रष्टा, ऋषि, दर्शनवेत्ता और राज-नीतिज्ञ, रवीन्द्रनाथ को हम जो भी चाहें, कह सकते हैं; किन्तु, इनमें से कोई भी उपाधि उनका सम्यक् परिचय नहीं दे सकती। उनका वास्तविक और संक्षिप्त परिचय तो इतना ही है कि वे कवि हैं। उन्होंने स्वयं भी गाने की सामर्थ्य को

छोड़कर भगवान से और कुछ नहीं माँगा। और गीतों द्वारा उन्हें जो गौरव और शान्ति मिलती थी, उसी पर उन्हें नाज भी था :

तुमि जखन गान गाइते बलो,
गर्व आमार भरे उठे बुके !

भगवान के प्रेम पर उनका दावा ज्ञान और कर्म के लिए नहीं, प्रत्युत्, संगीत के लिए ही था। उन्होंने स्वयं कहा है :—

God honours me when I work.
He loves me when I sing.

\+ + +

There are seekers of wisdom and seekers of truth,
I seek thy company so that I may sing.

और, सचमुच ही, गीतों का स्रष्टा अवतार, नबी, द्रष्टा और ऋषि होने के लिए क्यों ललचाए ? कौन ऐसा काम है, जिसे अवतार और नबी तो कर गुज़रे ; किन्तु कवि नहीं कर सका ? जोश ने कहा है कि :

यह शायरी है, अर्श की सूरतगरी नहीं ;
यानी खुदा-न-ख़ास्ते, पैगम्बरी नहीं।

अवतारों और पैगम्बरों की शान में ऐसा कहना शोखी समझा जाता है और लोग ऐसी उक्तियों को खोखली गर्वोक्ति कहकर आसानी से टाल देते हैं। मगर, कवि और चिन्तक की उक्ति को हँसकर टालते रहने का अभिशाप टालनेवालों को ही भोगना पड़ता है। बर्नार्ड शा को दुनिया ने यह कहकर टाल दिया कि यह ऐसी ही विचित्र बातें बका करता है। किन्तु, इस प्रकार शा को बर्खास्त कर देने से शा की वाणी में से सत्यता का लोप नहीं हो जाता। वह तो सत्य ही हाँ, है। संसार उसके प्रभावों से बचने का जो प्रयास करता है, वही उसका मिथ्याचार है।

साधक और कवि की भावदशा, प्रायः, एक होती है। जहाँ सत्य का निवास है, उस लोक में दोनों ही पहुँचते हैं ; किन्तु, साधक वहीं बैठ जाता है और कवि वहाँ से लौटकर अपनी अनुभूति का संवाद दुनिया को देने के लिए वापस आता रहता है। दोनों में कौन श्रेष्ठ है, यह वे नहीं समझेंगे, जो हर जगह गैरिक वसन

को प्रणाम तथा दाढ़ी का चुम्बन किया करते हैं। कवि, शायद, इसलिये तबाह है कि वह अपनी कमज़ोरियों, अपनी बेचैनियों और अपने उन्मादों का राज़ दुनिया-वालों से नहीं छिपा सकता। इसके सिवा, वह मनुष्य-मात्र की वेदना का चित्रकार होता है। उसका आनन्द संन्यासियों की तरह जीवन से भागकर दूर खड़ा होने में नहीं, बल्कि, उसके घमासान के बीच घुसकर गीत गाने में है। मगर, उसके स्वरों को छूकर, उसके फूलों को सूँघकर दुनिया कहने लगती है—"यह तो अलौकिक नहीं हुआ। इसमें तो वही गन्ध है, जो बहुत मनुष्यों में मिलती है। अतएव, कवि! तुम भी हमीं-जैसे निकले।" ध्यान देने की बात है कि दुनिया उससे डरती है, जो औरों से कुछ भिन्न दीखे; वह उसे पूजती है, जिसकी कमजोरियों का उसे ज्ञान नहीं हो। मगर, जभी यह ज्ञान होने लगता है, पूजा शिथिल और आदर के भाव क्षीण होने लगते हैं। तो फिर दुनिया में वह आदमी सन्तत्व की कामना क्यों करे, जो कवित्व का स्वामी है? और हमीं अपने कवि को अधिक-से-अधिक सम्मान देने के लिए उसे ऋषि-महर्षि क्यों बनाने लगें? क्या यह काफ़ी नहीं है कि कवि अपनी तमाम कमज़ोरियों के साथ भी हमारे हृदय के पास रहता है; अतएव, वह हमारा प्यारा है?

और हम फिर पूछते हैं कि अवतारों ने दुनिया को ऐसी कौन-सी चीज़ दी है, जिसे कवि नहीं दे सकता था? कवि का मस्तिष्क अन्य सभी मस्तिष्कों की अपेक्षा कहीं सत्य होता है। अयोध्या में राम का जो राजमहल बना था, वह कभी का विनष्ट हो चुका। किन्तु, वाल्मीकि ने राम के लिए अपने हृदय में जो महल बनाया था, उसमें तो राम आज भी निवास कर रहे हैं। और कौन कह सकता है कि गीता के श्लोकों को भगवान कृष्ण ने व्यास के मुख में रखा या कवि व्यास ने भगवान श्रीकृष्ण के मुख में? भगवान कृष्ण का जीवन इस बात का भी साक्षी है कि जो प्रेम कर सकता है, उसी को गीता भी सूझती है। प्रेम करने की क्षमता साधारण क्षमता नहीं है। यह तो हृदय के आध्यात्मिक प्रसार का नाम है; यह मनुष्य की उस शक्ति का नाम है, जो विकसित होकर उसे दूसरे मनुष्य के साथ एकाकार कर देती है। हाँ, जिसे हम साधारण प्रीति कहते

हैं, वह भी हमारी त्वचाओं में पंख और चेतना में बिजली लगाकर हमें ऊपर उठा सकती है।

मनुष्य के हृदय में प्रेम को जाग्रत करके उसकी त्वचा और चेतना की जंजीरों को काटकर उसे व्यापक बनाने के लिए रवि बाबू ने जितना-कुछ लिखा, वही उन्हें मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ कवि बनाने को यथेष्ट है। ऋषि-महर्षि कहकर हम उनके कवित्व का अनादर करते हैं, और इस प्रकार की उपाधियों से उनका गौरव भी नहीं बढ़ता। यह बहुत अच्छा हुआ कि यूरोप के लाख शोर मचाने पर भी कि रवीन्द्रनाथ रहस्यवादी सन्त हैं, उनके अपने देश में उनकी शोहरत सूफी के रूप में नहीं फैल सकी। जब वे जीवित थे, हम उनके समक्ष जाते-जाते थोड़ा सहम ज़रूर जाते थे, और हमें ऐसा लगता था कि कहीं, सचमुच ही, हम किसी उपनिषत्कालीन ऋषि के सामने तो नहीं आ गए हैं। किन्तु, उनकी रचनाओं के कुंज में कहीं भी यह रोबीला आतंक नहीं है। उनकी कविताओं को पढ़ते हुए हमें सन्त उपदेष्टा के साहचर्य का भान नहीं होता, बल्कि, उस समय तो हम यही समझते हैं कि रवीन्द्रनाथ हमारे अपने प्यारे कवि हैं। उन्होंने उन सारी अवस्थाओं का अनुभव प्राप्त किया था, जिनमें से प्रत्येक भारतवासी को गुज़रना पड़ता है। उनकी दुनिया हम सबों की परिचित दुनिया है, उनके चित्र हमीं लगों के घर-द्वार और आत्मा के चित्र हैं। निर्जन देहात की सड़कपर मध्याह्न पवन के साथ उड़ती हुई धूल, अश्वत्थ-वृक्ष की छाया में सोई हुई भिखारिन, आकाश को घेरकर चाँद के चारों ओर उमड़ते हुए बादल, भरी नदी की तेज़ धार, वर्षा की झमाझम, नदी के पार वृक्ष-राशि की ओट में छिपा हुआ गाँव, पाल ताने हुए नाव और ईशान कोण से नीले अंजन की छाया बिछाते हुए आनेवाले मेघ—ये सारे-के-सारे चित्र वे ही तो हैं, जिनमें हम पलकर बड़े हुए हैं।

'गीतांजलि से तो हमें भी प्रेम है ; किन्तु उसकी रहस्यवादिता के चलते नहीं, प्रत्युत, उन मादक दृश्यों के लिए, जो हमारे चिर-परिचित दृश्य हैं और जिनपर रवि बाबू की कल्पना अन्त तक मँडलाती रही :

आमार माँझे तोमार लीला हबे,
ताइ तो आमि एसेछि एइ भवे।

अथवा—

आमरा तुमि अशेष करेछ एमनि माया तव।

इन पंक्तियों से यूरोप को चमत्कृत होना ही चाहिए था और वह हुआ भी। किन्तु, हम तो जिस कवि को प्यार करते हैं, वह 'गीतांजलि' की इन पंक्तियों में निवास करता है :

हेरि अहरह तोमारि विरह भुवने-भुवने राजे हे,
कत रूप धरे कानने, भूधरे, आकाशे, सागरे साजे हे,
पल्लवदले श्रावणधाराय तोमारि विरह बाजे हे।

अथवा—

आषाढ़ संध्या घनिये एलो गेलो रे दिन वये,
बाँधनहारा वृष्टिधारा झरछे रये-रये।

रवि बाबू ने विद्या का कोई भी अंग अछूता नहीं छोड़ा। नन्हे-नन्हे कोमल गीतों से लेकर उन्होंने विज्ञान तक की प्राथमिक पुस्तकें लिखी हैं, और उन्होंने जो-कुछ भी लिखा, उसमें एक भी वस्तु ऐसी नहीं है, जो प्रथम श्रेणी में उच्च स्थान की अधिकारिणी नहीं हो। किन्तु, संसार में और भी लेखक तथा कवि हुए हैं, जिनकी रचना अपने विषय में प्रथम श्रेणी में उच्च स्थान की अधिकारिणी हो सकती है। उदाहरणार्थ, नाटकों के क्षेत्र में शेक्सपियर है, जिसके सामने नाटककार रवीन्द्र मन्द पड़ते हैं। कहानियों के क्षेत्र में उनके समय में ही शरत् बाबू वर्त्तमान थे, जो उनके इस क्षेत्र के सुयश के प्रचंड प्रतिद्वन्द्वी थे। कविताओं के क्षेत्र में भी कालिदास, तुलसीदास और सूरदास तथा यूरोप के दो-एक कवि रवि बाबू के प्रतिद्वन्द्वी हो सकते हैं। किन्तु, इन सभी विषयों का समावेश किसी एक कवि में कभी नहीं हुआ। विद्या के विभिन्न क्षेत्रों में रवि बाबू ने अपनी प्रतिभा का जो विलक्षण परिचय दिया है, उसे देखते हुए मेरा अनुमान है कि संसार के सभी कवियों की आत्माएँ अगर एक हाल में एकत्र की जा सकें

और विविध ज्ञानों में अगर उनकी परीक्षा ली जाय, तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि रवीन्द्रनाथ को सबसे अधिक अंक मिलेंगे।

फिर भी हमारा निश्चित मत है कि रवीन्द्रनाथ और कुछ होने के पहले कवि हैं तथा सब-कुछ हो जाने के बाद भी वे कवि ही रहते हैं। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि रवि बाबू के निबन्धों में चिन्तन, गठन और मीमांसा का अभाव है अथवा उनकी आलोचनाओं का बौद्धिक पक्ष दुर्बल अथवा असमर्थ है। इसका यह भी तात्पर्य नहीं कि रवि बाबू की कहानियाँ और उपन्यास उनकी कविताओं के ही तरल रूप हैं। मेरा तो विचार है कि उनके निबन्धों से टक्कर लेनेवाले निबन्ध समग्र विश्व-साहित्य में अत्यन्त अल्प मात्रा में लिखे गए होंगे। उनके निबन्धों में वे सभी गुण हैं, जो उच्चकोटि के निबन्धों में मिला करते हैं। उनके उपन्यासों और कहानियों में भी वे सभी तत्त्व वर्त्तमान हैं, जिन्हें लेकर अच्छी कहानियाँ और अच्छे उपन्यास लिखे जाते हैं। किन्तु, यह सब होते हुए भी कोई एक चीज़ है, जो रवि बाबू की कविताओं के समान ही उनकी अन्य रचनाओं में भी व्याप्त मिलती है ; कोई एक किरण है, जो उनके निबन्धों को काव्य की दीप्ति से विभासित रखती है ; कोई एक सौरभ है, जो उनके उपन्यासों के वायु-मंडल में फैलता रहता है। उनके दार्शनिक चिन्तन का आधार अनुभूति एवं उस अनुभूति की अभिव्यक्ति का मार्ग कविता का मार्ग है। अतएव, वे जो-कुछ भी लिखते हैं, उसमें उनकी काव्यात्मा प्रधान हो उठती है।

हम रवीन्द्रनाथ के काव्यपक्ष की प्रमुखता पर इसलिए भी जोर देना चाहते हैं कि आजकी दुनिया में मनुष्य की काव्यात्मक प्रवृत्तियों पर जोर देना अत्यन्त आवश्यक हो गया है। यह मानवता का दुर्भाग्य होगा, अगर हम रवि बाबू को ऋषि-पद पर बैठाकर उनके कवि-पद को गौण कर देंगे—ठीक उसी तरह, जैसे गाँधीजी को अवतार मानकर उनकी मानवीयता को गायब कर देने की भूल इस देश में आज अत्यन्त बड़े पैमाने पर खुलेआम की जा रही है। गाँधीजी देवत्व की प्रतिमा नहीं, बल्कि इस बात का प्रमाण बनकर संसार से विदा हुए हैं कि मनुष्य की ऊँचाई कहाँ तक जा सकती है। उनकी सच्ची पूजा यही हो सकती है

कि संसार के अधिक-से-अधिक लोग उनका अनुसरण करके अपने को उन्नत तथा संसार को आज की अपेक्षा अधिक रमणीय बनावें। इसी प्रकार रवि बाबू की स्मृति का भी सच्चा सत्कार यही है कि हम उनके काव्यात्मक रूप को पहचानें तथा उन्हें अपनी आत्मा के वन में लेकर आनन्द के साथ विचरण करें।

विश्व की वर्त्तमान वेदना का कारण यह नहीं है कि उसके नेता परस्पर एक-दूसरे का अविश्वास करते हैं, बल्कि, यह कि इन नेताओं के अपने हृदय और मस्तिष्क, दोनों ही, एक-दूसरे से विच्छिन्न हो गए हैं। हृदय और मस्तिष्क के सम्बन्ध का प्रश्न संसार की अत्यन्त पुरातन समस्या है। संसार में एक वह भी समय था, जब कि मनुष्य का हृदय ही उसके लिए सब-कुछ था तथा मस्तिष्क उसका सहायक-मात्र था। मस्तिष्क रोटियाँ पैदा करता है, किन्तु स्वाद उनमें हृदय से आता है। मस्तिष्क कपड़े बुनता है, किन्तु सौन्दर्य उसमें हृदय से उत्पन्न होता है। मस्तिष्क प्रतिमाएँ गढ़ सकता है, किन्तु हृदय के योग के बिना उसमें प्राणों का संचार नहीं किया जा सकता। मस्तिष्क सूझ है, मस्तिष्क आविष्कार और अनुसन्धान है। वह चाहे तो तलवारें भी गढ़ ले और एटम-बम भी बना ले। मगर हृदय का बस चले, तो वह लोहे और एटम दोनों की ही शक्तियों का उपयोग मनुष्य के सार्वजनीन कल्याण के निमित्त कर सकता है।

किन्तु, दुर्भाग्य की बात है कि सभ्यता की विशाल अट्टालिकाओं पर मस्तिष्क हनूमान बनकर ज्ञानाग्नि से सबको दग्ध करता हुआ उछल रहा है और नीचे अशोक के उपेक्षित वन में हृदय की सीता वन्दिनी और उदास बनकर जी रही है। हृदय और मस्तिष्क परस्पर शत्रु नहीं, बल्कि एक-दूसरे के पूरक हैं। इसीलिए, संसार के सच्चे कल्याणकारी नेताओं का लक्षण यह नहीं रहा है कि उनके हृदय और मस्तिष्क परस्पर-विरोधी थे, बल्कि यह कि उनके बीच पूरा संतुलन और सामंजस्य था।

कठिनाई यह है कि न तो हृदय मस्तिष्क के अधीन किया जा सकता है और न मस्तिष्क हृदय के। उचित मार्ग यह है कि दोनों में से कोई एक-दूसरे को आदरपूर्वक बुलाकर अपने पार्श्व में बिठा ले। गाँधीजी के विषय में यह बात थी

कि उनके मस्तिष्क ने हृदय को बुलाकर अपने आसन पर बिठा लिया था और गुरुदेव के पक्ष में यह हुआ कि उनका मस्तिष्क ही उतरकर हृदय के पद्मपर जा विराजा। ये दोनों ही मार्ग श्रेष्ठ हैं; ये दोनों ही पन्थ उन्नति और कल्याण के पन्थ हैं। किन्तु, इनके सिवा जो हृदय और मस्तिष्क के वियोग का पन्थ है, उसपर चलते-चलते संसार व्याकुल हो गया है। सभ्यता के समस्त रोगों का निदान यह है कि मनुष्य ने हृदय की उपेक्षा करके मस्तिष्क की आवश्यकता से अधिक आराधना की है। जब तक हृदय का आसन मस्तिष्क की ऊँचाई तक नहीं पहुँचेगा, तब तक संसार योंही दग्ध होता रहेगा।

दुनिया में विज्ञान की बनाई हुई गूँगी तस्वीरें मार-काट मचा रही हैं। वे गूँगी हैं और बहरी भी। इसलिए, वे न तो अपना दुःख बोल सकती हैं और न दूसरों के ही आर्त्तनाद को सुन सकती हैं। इन कुरूप प्रतिमाओं में सुघरता लाने तथा उनके भीतर चेतना को स्फुरित करने के लिए हृदय के उपेक्षित देवता को आमंत्रित करना होगा। हृदय को जाग्रत एवं चैतन्य करने के लिए गाँधी के समान नेता और रवीन्द्र के समान कवि की आवश्यकता है। नेता वह, जो यह कहे कि विज्ञान से अगर लपटें निकलती हैं, तो आओ, हम पैदल या बैलगाड़ियों पर चलें। और कवि वह, जो यह कहे कि—

सबार ऊपर मानुस सत्य तार ऊपर नाइ।

संसार का सम्यक् संचालन करने के लिए केवल यही आवश्यक नहीं है कि हम गणित की पाटी पर खरिये से रेखाएँ खींचकर इस बात का पता लगायें कि एक नक्षत्र से दूसरा नक्षत्र कितनी दूर है, बल्कि यह भी कि आकाश की ओर देखते-देखते हम तारों की सुन्दरता पर भूलकर कभी-कभी उनकी पारस्परिक दूरी का हिसाब लगाना भी भूल जायँ। विश्व में शान्ति की स्थापना करने के लिए केवल यही आवश्यक नहीं है कि हम आँखें मूँदकर अपने शत्रुओं के हृदय में संगीनें चुभोते चले जायँ, बल्कि यह भी कि हम अचानक अपनी हमदर्दी का कुछ भाग अपने दुश्मनों के लिए रखकर खुद अपने-आपके विरुद्ध भी लड़ने लगें। हर मनुष्य की आत्मा के आँगन में पीपल का एक पेड़ होना चाहिए, जिसकी छाया

में आनेवालों पर हाथ नहीं उठाया जाय। मगर, यह छाया-तरु बाहर से नहीं लाया जाता। वर्षा की रिमझिम और पत्तोंपर गिरनेवाली शबनम की आवाज़ सुनते-सुनते वह मनुष्य के हृदय में स्वयं अंकुरित हो जाता है। रवीन्द्रनाथ ने अपने सहस्रों गानों द्वारा मनुष्य-मात्र के हृदय में इसी छायावृक्ष को अंकुरित और विकसित करने का प्रयास किया है।

रवीन्द्रनाथ की राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता

सामान्य मनुष्य को हम जिस गज से मापते हैं, महापुरुषों की ऊँचाई और विस्तार उसी गज से मापा नहीं जा सकता। दूसरी बात यह है कि महापुरुषों का मस्तिष्क इतना विशाल होता है कि उसमें एक साथ दोनों ध्रुव निवास कर सकते हैं और बोलनेवाला जिन्दगी भर एक ही ध्रुव से नहीं बोलता ; वह जब, जहाँ रहता है, तब उसी ध्रुव से अपना सन्देश सुनाता है।

मगर, सुननेवाले तो छोटे ठहरे। वे कहते हैं, यह विरोधाभास है। वे कहते हैं, कल हमने जितना मापा था, आज उससे लम्बाई कम या अधिक पड़ती है। मगर, कौन समझाये उन्हें यह बात कि एक शब्द का अर्थ सभी शब्दों में निहित है और सभी शब्द किसी एक ही अर्थ की ओर इङ्गित करते हैं।

गाँधीजी और रवीन्द्रनाथ को लेकर जब-तब यह विवाद उठाया जाता है कि उनमें से एक राष्ट्रीय और दूसरा अन्तर्राष्ट्रीय था। किन्तु, ऐसा कहके गाँधीजी को जहाँ हम सीमित करके छोड़ देते हैं, वहाँ रवीन्द्र के भी केन्द्र-विन्दु का हम लोप कर देते हैं, जिससे संलग्न रहे बिना परिधि की रेखा पर घूमना असम्भव नहीं तो एक निरवलम्ब कृत्य तो अवश्य है।

सच पूछिये तो गाँधीजी वही पुरुष थे जिसकी प्रतीक्षा रवीन्द्र के गीतों और नाटकों में की जा रही थी और जिसके स्वागत में कवि ने पहले से ही अपनी

कल्पना को मिट्टी पर बिछा रखा था। और रवीन्द्र भारत की ठीक वही आत्मा थे, जिसके उद्गारों को मूर्त्त रूप देने के लिए गाँधी का आविर्भाव हुआ था। सच पूछिए तो गाँधी और रवीन्द्र एक-दूसरे के पूरक नहीं, बल्कि, एक ही हीरे के दो पहलुओं के समान थे।

जब गाँधीजी ने शरीर के अखाड़े में आत्मा का शस्त्र निकाला तब सारी दुनिया एक बार अनुपम चमत्कार से भर गयी और स्वयं गुरुदेव ने भी अपने चिरपोषित आदर्श को अपनी ही जन्मभूमि में आकार ग्रहण करते देखकर लन्दन से लिखा कि "हम तो गाँधीजी के इसलिए कृतज्ञ हैं कि वे भारतवर्ष को यह प्रमाणित करने का अवसर दे रहे हैं कि मानवात्मा की दिव्यता में उसका अब भी अटूट विश्वास है।"

इस एक उक्ति से इस बात का संकेत मिलता है कि राष्ट्रीयता का कौन रूप रवीन्द्रनाथ को प्रिय था। या अगर ऊँचा उठकर देखा जाय तो गाँधीजी और रवीन्द्रनाथ की राष्ट्रीयता तथा अन्तर्राष्ट्रीयता-सम्बन्धी धारणाओं में बहुत बड़ा भेद नहीं मिलेगा। गाँधीजी ने भी विश्व-वेदना से पीड़ित होकर एक बार कहा था कि हिन्दुस्तान की आजादी अगर पेरिस और लन्दन के भस्मावशेष पर पड़ी मिली भी तो वह किस काम की होगी? गाँधीजी रवीन्द्रनाथ की तरह ही विश्ववादी थे। किन्तु, इतना होने पर भी अगर गाँधीजी में हमें राष्ट्र की रेखाएँ विलीन होती नहीं दिखायी देती हैं, तो उसका सबसे प्रधान कारण यह है कि गाँधीजी ने जीवन में राजनीति के माध्यम से प्रवेश किया था और यद्यपि, इस माध्यम को फैलाकर वे समस्त विश्व तक ले गये, फिर भी उसके आरम्भिक चिह्न अन्त तक बने रहे। इसके विपरीत, रवीन्द्रनाथ जीवन में कौतुक, विस्मय, श्रद्धा और धर्म के माध्यम से आये थे। ऐसा लगता है, मानों, उन्होंने आस-पास नजर डालने के पहले दूर क्षितिज पर ही दृष्टिपात किया हो, जहाँ भूमि आकाश से मिली हुई मालूम होती है। निकट से देखने पर एक घर और दूसरे घर के बीच जो अन्तराल है, वही प्रमुख रहता है। किन्तु, दूर से देखने पर सारा गाँव निरन्तराल पुंज के समान दीखता है। रवीन्द्रनाथ की प्रथम

दृष्टि में ही विश्व की जो निरन्तरालता प्रमुख हो उठी थी, वह बराबर उनके साथ रही।

रवीन्द्रनाथ में राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता एकाकार दीखती है। अपनी मान्यता की राष्ट्रीयता की व्याख्या करते हुए उन्होंने 'रिलीजन ऑफ मैन' में कहा है कि भारतवर्ष को मैं कोई भौगोलिक खंड नहीं, बल्कि एक भावना मानता हूँ। यह भावना आध्यात्मिक मनुष्य की सत्ता में विश्वास की भावना है; यह भावना उस मनुष्य की खोज में इस प्रकार लग जाने की भावना है, जिससे संभव है, हमारी सारी भौतिक समृद्धियाँ ही समाप्त हो जायँ। भारत सब कुछ खोकर भी आजतक उस भावना से लिपटा हुआ है, एक यही गौरव उसके भविष्य की आशा के लिए काफी है। उन्होंने कहा है कि विदेशों में भी जब किसी मनुष्य में उन्हें भारतीयता का यह लक्षण मिलता था, तब वे उसे आत्मीय जानकर उसका सत्कार करते थे। एक जाति के लोग, दूसरी जाति के लोगों से सर्वथा भिन्न हैं, इस चेतना से ही कवि घबरा जाते थे और भारतीय होने का अभिमान उन्हें इसलिए था कि वे मानते थे कि भारत की मूलात्मा इस भिन्नता के विरुद्ध है। उनका विश्वास था कि मनुष्य के अनन्त एवं निरवच्छिन्न व्यक्तित्व को पूजनेवाली इस भावना की जिस दिन भी विजय होगी, उस दिन, असल में, भारत ही विजयी होगा।

यही राष्ट्रीयता उनकी अन्तर्राष्ट्रीयता का भी प्रतीक थी। बहुत वर्ष पहले 'प्रवासी' शीर्षक अपनी एक कविता में उन्होंने लिखा था :—

> सब ठाईं मोर घर आछे आमि सेइ घर मरि खूँजिया,
> देशे-देशे मोर देश आछे आमि सेई देश लेबो जूझिया।

मेरा घर सभी जगहों पर है, मैं उसी को खोज रहा हूँ। मेरा देश सभी देशों में है, जिसे प्राप्त करने के लिए मैं संघर्ष करूँगा।

स्पष्ट ही, यह मनुष्य का शारीरिक गृह नहीं है, जो, अक्सर, दीवारों से घिरा रहा करता है। यह तो आत्मा का गृह और आत्मा का ही देश है। शरीर की दीवार, एक आत्मा को दूसरी आत्मा के साथ, मिलने से रोक नहीं सकती। मनुष्य-मनुष्य में शरीर को लेकर जो भेद है, वही वर्ग, वर्ण, जाति, श्रेणी, और

राष्ट्र के घेरे उत्पन्न करता है। एक बार अगर इस भेद का बाँध टूट जाय, तो विश्वमानवता का समुद्र एक साथ लहरा उठेगा। रवीन्द्रनाथ योद्धा नहीं थे, इसलिए, भिन्नता के बाँधों पर उन्होंने खुलकर प्रहार नहीं किया। किन्तु, अपने समस्त साहित्य के द्वारा उन्होंने मनुष्य की आत्मा को यह पुकार भेजी है कि इन बाँधों के ऊपर होकर बह जाओ और अपने उस रूप के साथ एकाकार हो जाओ जो बन्धन के परे, न जाने कब से, तुमसे मिलने को बेचैन हो रहा है।

अपनी कल्पना की राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता का पारस्परिक सम्बन्ध बताते हुए, उन्होंने अपने एक दीक्षान्त भाषण में कहा था कि आज की अनन्त समस्याएँ अन्तर्राष्ट्रीयता की समस्याएँ हैं। किन्तु, इनके उपयुक्त सच्चे अन्तर्राष्ट्रीय मस्तिष्क का अभी निमार्ण ही नहीं हो पाया है। जिसे जनसाधारण अन्तर्राष्ट्रीयता और विश्ववाद कहता है, रवीन्द्रनाथ को उससे प्रेम नहीं था। वे नाम और आन्दोलन नहीं, बल्कि, मनुष्य की आत्मा का निर्बन्ध प्रसार चाहते थे। विश्ववाद की उपमा उन्होंने वाष्प से दी है। पानी जब भाप बन जाता है, तब वह विशाल और पुंजीभूत तो मालूम होता है, किन्तु उस भाप को लेकर कोई क्या करेगा ? और भाप तो किसी की पकड़ में भी नहीं आता। विश्ववाद का नारा भी ऐसा ही अस्पष्ट एवं धुँधला पदार्थ है। असल जरूरत तो यह है कि मनुष्य का हृदय उन्नत हो, उसकी सहानुभूति बढ़े और दूसरों की ओर देखनेवाली उसकी दृष्टि बदल जाय। गुरुदेव का कहना है सच्चा विश्ववाद यह नहीं है कि हम अपने घरों की दीवारों को तोड़ दें, बल्कि, यह कि हम अपने पड़ोसियों और अतिथियों को वह प्रेमपूर्ण आतिथ्य अर्पित करने को तैयार रहें, जिस पर उनका जन्मसिद्ध अधिकार है।

धरती अपनी धुरी पर भी घूमती है और वह सूर्य के भी चारों ओर घूमती है। उसी प्रकार, प्रत्येक व्यक्ति की भी दो गतियाँ होनी चाहिएँ। एक तो अपनी निजी वैयक्तिकता की धुरी पर घूमने के लिए और दूसरी उस आदर्श के चारों ओर घूमने के लिए जिसमें समस्त मानव-समाज समाहित है।

क्या रवीन्द्रनाथ अभारतीय हैं ?

एडवर्ड थामसन ने रवीन्द्रनाथ पर जो मोटी-सी किताब लिखी है, उसके अन्त में उन्होंने किसी बंगाली विद्वान का एक गुमनाम पत्र छापा है, जिसमें कहा गया है कि, रवीन्द्रनाथ का जन्म बंगाल में तो जरूर हुआ था, किन्तु, एक ऐसे परिवार में, जिसका सांस्कृतिक वातावरण बिलकुल योरोपीय था तथा जिसमें उपनिषदों को छोड़कर और किसी भी भारतीय गुण का कोई अस्तित्व नहीं था। रवीन्द्रनाथ का सोचने का ढंग भी एकदम अंगरेजों वाला था, यहाँ तक कि उनकी अंगरेजी गीतांजलि को मैं उनकी बंगला गीतांजलि से अधिक पसन्द करता हूँ।··· अगर हमारा देश किसी दिन पाश्चात्य सभ्यता में नख से सिख तक शराबोर हो जाय तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि रवीन्द्रनाथ भारत में एक नये युग के अग्रदूत समझे जायँगे। किन्तु, अगर ऐसा नहीं हुआ तो उनकी प्रसिद्धि धीरे-धीरे खत्म हो जायगी और साहित्य के इतिहास में उनकी गिनती सिर्फ उस स्कूल के कवियों में रह जायगी, जिन्होंने अपनी सारी प्रेरणा विदेशों से ली है। पच्छिम के लोग रवीन्द्रनाथ की जितनी भी बड़ाई करें, उस बड़ाई का प्रभाव हमलोगों पर पड़नेवाला नहीं है। उलटे, इससे तो यही सिद्ध होता है कि रवीन्द्रनाथ की शैली इतनी योरोपीय है कि योरोपवालों को वह तुरन्त अपील करती है।··· रवीन्द्रनाथ को बंगाल ने योरोप को नहीं दिया है, बल्कि, योरोप ने ही उन्हें

बंगालियों को प्रदान किया है। रवीन्द्रनाथ की प्रशंसा के बहाने योरोप के विद्वान, दर-असल, अपनी ही प्रशंसा करते हैं।

साहित्य में केवल करुणा, क्षमा और प्रेम ही नहीं लिखे जाते, उसमें ईर्ष्या, द्वेष और छोटापा भी बड़ी ही सफलता के साथ अंकित किये जाते हैं। नोबुल-पुरस्कार मिलने के बाद जब बंगाल के विद्वान रवीन्द्रनाथ का अभिनन्दन करने को गये तब रवि बाबू ने एक भाषण के सिलसिले में कहा था कि कवि का काम मनुष्य के हृदय में चलता है। किन्तु, हृदय में कहीं धूप होती है और कहीं छाया। अतएव, कवि की कविता को पढ़कर कोई सुखी होता है और कोई दुःखी। जो दुःखी होता है, वह बदले में, उस काव्य पर प्रहार करता है। और मेरी कविताओं के सम्बन्ध में भी इस नियम का तनिक भी अपवाद नहीं हुआ है।

पता नहीं, थॉमसन के पास पत्र भेजनेवाला यह विद्वान रवीन्द्र के सम्बन्ध में किस भावना से पीड़ित था।

किन्तु, क्या कारण है कि रवि बाबू के सम्बन्ध में ऐसी शंका उठायी गई? क्या इसलिए कि उन्होंने अपनी रचनाओं का अंगरेजी में अनुवाद किया? अथवा इसलिए कि उन्हें नोबुल-पुरस्कार प्राप्त हो गया? या इसलिए कि भारतवर्ष जब देशभक्ति के जोश में मनमाने ढंग पर बोल रहा था, तब भी रवीन्द्रनाथ अपने शील को नहीं छोड़ सके?

ये फिजूल सवाल मैंने इसलिए उठाये हैं क्योंकि इन सारी ऊपरी बातों के बहुत नीचे, सत्य की जो असली आधार-शिला है, उस पर रवीन्द्रनाथ के अभारतीय होने की कोई भी रेखा या निशान नहीं मिलते। उलटे, उस पर हम जो चित्र-कारी पाते हैं, वह भारत की सनातन आत्मा का ही चित्र है। यह ठीक है कि रवीन्द्रनाथ का स्वर पहले के भारतीय कवियों के स्वरों से भिन्न है, किन्तु, यह भेद जाति का नहीं, बल्कि, गुण का भेद है ; यह भेद देश का नहीं, बल्कि, समय का भेद है। वैसे, रवीन्द्र-साहित्य के विषय भी भारत की नदी, भारत के फूल, भारत की मिट्टी और भारत के ही नर-नारी हैं, जो उनके पूर्ववर्त्ती सभी भारतीय

कवियों के विषय थे। और यह भी ठीक है कि रवीन्द्रनाथ के भीतर अगर किसी पूर्ववर्त्ती कवि की आत्मा फिर से उतरी हुई मानी जा सकती है, तो वह कालिदास की ही आत्मा हो सकती है, शेक्सपियर या मिल्टन अथवा शेली या कीट्स की नहीं। मिल्टन के साहित्य का तो किंचित् प्रभाव भी उन पर लक्षित नहीं होता। किन्तु, हृदय जहाँ उनका कालिदास का था, वहाँ दृष्टि उनकी भोज के समय की नहीं थी। ऐसा लगता है कि भारत की नवीन अनुभूतियों ने जब अपने को कालिदास की सरसता के साथ अभिव्यक्त करना चाहा, तब कालिदास ही भारत में रवीन्द्र बनकर दुबारा पैदा हुए। रवीन्द्रनाथ का भाव-पक्ष परम्परागत भारतीयता से पूर्ण था। उनके सामने वही दुनिया झिलमिला रही थी जो हमारे उपनिषत्कालीन ऋषियों की दुनिया थी। उनके हृदय के मूलभाव भी वही थे, जो हमारे देश के मध्यकालीन वैष्णव कवियों के रहे होंगे। किन्तु, उनकी दृष्टि वही नहीं थी, जो मध्यकालीन भारतीयों की थी। वे विज्ञान के जाग्रत युग के मनुष्य थे और अन्धविश्वास तथा निस्सार रूढ़ियों का उनपर कोई प्रभाव नहीं था। भोज के समय से गाँधी-युग अथवा जगदीश-काल तक आते-आते हमारी अनुभूतियों में जो परिवर्त्तन हो गया था, उसी परिवर्त्तन ने अपनी अभिव्यक्ति के लिए रवीन्द्रनाथ को उत्पन्न किया। अगर रवीन्द्रनाथ अभारतीय हैं तो उनके समय का प्रत्येक चैतन्य भारतीय अभारतीय कहा जायगा, क्योंकि रवीन्द्रनाथ ने ऐसी कोई बात नहीं कही जिसकी अनुभूति अस्पष्ट रूप से हमारे हृदयों में नहीं चल रही थी। उन्होंने विश्वात्मा की एकता पर जोर दिया जो भारत का सनातन सन्देश है। उन्होंने आध्यात्मिक मनुष्य की सत्ता में अपने विश्वास को प्रबलता से दुहराया जो भारत की आत्मा का चिरन्तन विश्वास है। मनुष्य-मनुष्य के ऊपर जो एक बड़ा मनुष्य है, रवीन्द्रनाथ की कविता की पंक्ति-पंक्ति में उस के चरणों की चाप सुनायी पड़ती है और उसके चरणों की यह चाप भारतीय साहित्य में अनन्तकाल से गूँजती आई है। भारत नाम में जो भी दिव्यता और आध्यात्मिक सुरभि व्याप्त है, भारत अनन्तकाल से मनुष्य के जिन गुण-विशेषों का प्रतीक माना जाता रहा है, रवीन्द्रनाथ उसके सबसे बड़े

व्याख्याता थे और योरोप ने उनका आदर इसलिए नहीं किया कि वे योरोपीय धर्म तथा दर्शन पर आसक्त थे, बल्कि, इसलिए कि वे उन गुणों और विभूतियों को लेकर खड़े हुए थे जो योरोप में नहीं थीं और जिनके अभाव से पीड़ित होकर बहुत दिनों से पश्चिम की आँख पूरब की ओर लगी रही है।

गाँधी और रवीन्द्र, इन दो मूर्त्तियों के माध्यम से भारत ने पश्चिमी जगत् को यह विश्वास दिलाया कि उसकी आत्मा अभी मरी नहीं, बल्कि, पूर्ण रूप से जीवित और चैतन्य है। अनादिकाल से भारत उच्च तथा सूक्ष्म मानवता का सब से जाज्वल्यमान प्रतिनिधि रहा है, जिसकी अन्य देशों में सिर्फ कल्पना की जाती रही है। गाँधीजी के विषय में आइंस्टाइन ने कहा था कि कई पीढ़ियों के बाद लोग जब गाँधीजी का चरित पढ़ेंगे तब उन्हें यह विश्वास ही नहीं होगा कि ऐसा कोई मनुष्य किसी समय सचमुच जिन्दा था। रवीन्द्रनाथ को कविताएँ जब ईट्स के सामने पहले पहल आई तब उसने अपने साहित्यिक मित्रों से चकित होकर कहा कि भारत में तो एक ऐसा कवि उत्पन्न हुआ है, जो हम सबों से कहीं श्रेष्ठ और महान् है।

गुलामी के दिनों में भारत से बाहर भारत की काफी भर्त्सना की गयी, क्योंकि हमारे मालिकों को संसार पर यह जाहिर करना था कि भारत अर्धसभ्य देश है और उसे सभ्य बनाने के लिये यह आवश्यक है कि ब्रिटेन कई सदियों तक उस पर राज्य करता रहे। हमारी सभ्यता और संस्कृति में जो कुछ भी स्थूल तथा कुरूप था, वह दुनिया की नजरों में प्रमुख बनाया जा रहा था, यहाँ तक कि हमारे अपने देश-वासी और धर्म-बन्धु भी इस प्रचार से घबराकर ईसाइयत स्वीकार करने लगे थे। इस दुरवस्था का सुधार करने के लिये देश में कितने ही सुधारक उत्पन्न हुए जो हिन्दू-धर्म का वह रूप संसार के सामने लाना चाहते थे, जिसे वैज्ञानिक युग का विवेकशील मनुष्य श्रद्धा से ग्रहण कर सके। राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द, परमहंस रामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द, सब-के-सब, एक इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील थे और इनके उपदेशों के परिणाम-स्वरूप, हिन्दू-धर्म का जो परिमार्जन और परिष्कार हुआ उसीके

चलते हम आज भी बड़े ही गौरव के साथ अपने को हिन्दू घोषित कर सकते हैं। समय के साथ सभी चीजों पर मैल की परतें जमा करती हैं और प्रत्येक युग में सन्त और सुधारक आकर इन परतों को उखाड़कर उनके नीचे के कंचन को माँजते रहते हैं। हमारे उन्नीसवीं सदी के सन्तों और सुधारकों ने भी हिन्दुत्व को माँजकर नये ढंग से चमका दिया और इस प्रकार, नहा-धोकर जब वह ईसाइयत के मुकाबिले में जा डटा तब इस संघर्ष से उसके भीतर एक तरह की जवानी भी आ गयी और वह एक बार फिर ताजा और नवीन दीखने लगा। रवीन्द्र की वाणी इसी परिमार्जित हिन्दुत्व की वाणी थी। एक पुराना पर्वत जैसे नवीन हो जाय और उसके कलेजे से कोई कलकल करनेवाला नया निर्झर फूट पड़े; एक पुराना पौधा जैसे ओस से भींगकर ताजा हो उठे और उसके मस्तक पर एक अनुपम फूल खिल पड़े; झाड़-पोंछकर स्वच्छ बनायी गयी, किसी सूखी कछार में जैसे स्फटिक-सी उज्ज्वल कोई नयी धारा आ जाय, इसी प्रकार सन्तों और सुधारकों के द्वारा पोषित और परिमार्जित हिन्दुत्व ने अपनी अभिव्यक्ति के लिये रवीन्द्रनाथ को उत्पन्न किया। उनके विचारों के नीचे उपनिषदों का प्रबल आधार था, उनकी कल्पना कालिदास की स्मृति के साथ गलबाँही देकर चल रही थी, उनकी रस-ग्राहिणी शिराएँ विश्व के श्रेष्ठतम साहित्य-कारों की हौजों से लगी हुई थीं और उनके भीतर यह अरमान था कि मैं भारत की आत्मा में युग-युग से गूँजनेवाली दिव्य और कोमल-से-कोमल भावनाओं को अभिनव वाणी में नये चमत्कार से गा सकूँ। रवि बाबू की आकृति-प्रकृति और वेशभूषा में जो बारीकी और कलामयता थी, वही बारीकी और कलामयता उनके हृदय के कण-कण में परिव्याप्त थी और जब उनका कण्ठ फूटा, निष्पक्ष रसिकों को लगा, मानों, स्वर्ग का कोई देवता गाते-गाते भटककर पृथ्वी पर चला आया है।

इस दिव्यता और कोमलता के साथ जब वे पश्चिम की ओर गये, वहाँवाले उन्हें देखकर चमत्कृत हो उठे। पश्चिम के बड़े-से-बड़े साहित्यकारों ने उन्हें मन-ही-मन अपने से श्रेष्ठ मान लिया और वे जहाँ गये वहीं उनका आदर उस

प्रकार से किया गया जैसा कि मनुष्य नहीं, मनुष्यता के नेता का आदर किया जाता है।

रवीन्द्र की कविता में जो दिव्यता, कोमलता और सांस्कृतिक पवित्रता व्याप्त थी, उससे चकित होकर कवि एजरा पाउण्ड ने, बड़ी ही विनयशीलता के साथ, कहा कि जब मैं टैगोर से विदा होता हूँ तब मुझे मन-ही-मन यह भान होने लगता है कि मैं उनकी तुलना में वह असभ्य मनुष्य हूँ जो अभी खाल ही पहने हुए है और जिसके हाथ में मात्र पत्थर की लाठी पड़ी हुई है। आयर्लैण्ड के उस मेधावी चिन्तक स्वर्गीय जॉर्ज रसल ने लिखा है कि जिसने रवीन्द्र को नहीं देखा वह इस बात को समझ ही नहीं सकता कि पूर्व-कालीन संसार में मनुष्यों की आत्मा पर कवि की आत्मा का वैसा अभेद्य साम्राज्य क्यों था। हमारे वर्त्तमान लौहयुग में अगर कविता की मर्यादा को कोई कायम रखे हुए है, तो वह रवीन्द्रनाथ हैं।

स्पष्ट ही, रवीन्द्रनाथ की इन प्रशस्तियों का कारण यह नहीं था कि वे योरोपवालों को अपना मालूम होते थे, बल्कि, यह कि योरोपवाले उनकी रचना और व्यक्तित्व में उन चीजों की झलक पाते थे, जो उनके पास नहीं थीं और जिनकी उन्हें सख्त तलाश थी।

रवीन्द्रनाथ ने योरोप के विवेक-तत्त्व को प्रसन्नता से ग्रहण किया था और वे उतने रैशनल थे जितना कि कोई भी अर्वाचीन मनुष्य हो सकता है। किन्तु, पश्चिमी जगत् की उद्दाम हिंसा-वृत्ति और भोगवाद को उन्होंने कभी भी स्वीकार नहीं किया। यहाँ तक कि योरोप की कला-सम्बन्धी नवीन अनुभूतियाँ भी उन्हें अग्राह्य थीं। वे एक शुद्ध भारतीय कवि की भाँति कला में सत्य, शिव और सुन्दर के उपासक थे। किन्तु, पश्चिम का नया आदमी यह जानना नहीं चाहता कि चीज अच्छी या खूबसूरत हुई है या नहीं। वह तो सदैव यही पूछना चाहता है कि उसकी अभिव्यक्ति में ताकत और जोर है या नहीं। पहले जिस परदे को सरकाना भी अभद्र समझा जाता था, अब उस परदे को भलीभाँति उघार देना ही प्रभविष्णुता का द्योतक हो गया है। किन्तु, रवीन्द्रनाथ ने कला की इस प्रवृति को कभी भी प्रश्रय नहीं दिया।

रवीन्द्रनाथ योरोप का अनुकरण करके महान् नहीं हुए, बल्कि, समय ने ही उन्हें उत्पन्न किया और समय ने ही उन्हें महत्ता दी। भारत की सनातन आत्मा उस भाषा में अपनी अभिव्यक्ति खोज रही थी जिस भाषा में अर्वाचीन मनुष्य सोचने और समझने का आदी हो गया था। और इसी आवश्यकता से रवीन्द्र का प्रादुर्भाव हुआ।

रवीन्द्रनाथ हमारे राष्ट्रीय कवि हैं ; क्योंकि उन्होंने भारतवर्ष की आत्मा के गौरव की जैसी व्याख्या की वैसी पहले और किसी ने भी नहीं की थी। उनका महत्त्व इसलिये और भी बढ़ जाता है, क्योंकि वे एक ऐसे समय में उत्पन्न हुए जब कि भारतवर्ष को एक ऐसे व्याख्याता की आवश्यकता आन पड़ी थी, जिसकी वाणी को केवल स्वदेश ही नहीं, विदेश भी समझे। अपनी समस्त विविधताओं के बीच भारत की जो सनातन आत्मा सर्वत्र व्याप रही है, अपने सारे उत्थान और पतन में भारतवर्ष जो मानवात्मा की निरवच्छिन्नता से चिपटा रहा है, अपनी भौतिक समृद्धियों के ह्रास के बीच भी भारत जो दिव्यता की ओर से विमुख नहीं हुआ है, इन सारी विलक्षणताओं को रवि बाबू लिखने आये थे। रवीन्द्रनाथ किसी भी समय उत्पन्न होने पर भारतवर्ष का मस्तक ऊँचा कर सकते थे। किन्तु, जिस समय वे उत्पन्न हुए वही उनका ठीक समय था। ऐसा लगता है, मानों, विरञ्चि की पोथी में भारतवर्ष के भाग्योद्धार का जो लेखा पहले से ही लिखा हुआ था, उसके क्रम में, इस विशाल एवं गौरवशाली देश की आत्मा बहुत दिनों से रवीन्द्रनाथ की प्रतीक्षा कर रही थी। प्रत्येक युग, थोड़ी-बहुत मात्रा में, अपने कवि और व्याख्याता की प्रतीक्षा किया करता है। किन्तु, रवीन्द्रनाथ की प्रतीक्षा एकदम ऐतिहासिक महत्व की थी और जब वे आये तब उन्होंने अपना मिशन कुछ ऐसी विलक्षणता के साथ पूर्ण किया जैसा और कोई नहीं कर सकता था।

कभी-कभी मुझे ऐसा भी भान होता है कि जिस उदारता के कारण समस्त विश्व ने रवीन्द्रनाथ को अपने हृदय में स्थान दिया, उसी उदारता ने, देश के भीतर, उनके लिये आलोचक पैदा किये। अगर वे जरा कम उदार हुए होते,

अगर वे मनुष्य की पूर्णता का एक अंश काटकर उसे देशभक्ति की वेदी पर उत्सर्ग कर पाते तो हमारी नजरों में वे तनिक भी अभारतीय नहीं दीखते। किन्तु, यह संकीर्णता रवीन्द्रनाथ के लिये एक अजनबी चीज थी।

संस्कृति के सोपान पर उठते हुए वे जीवन के जिस शिखर पर जा पहुँचे थे, वहाँ देशभक्ति के लिये जीवन की पूर्णता का बलिदान असम्भव था। रवीन्द्रनाथ भलीभाँति जानते थे कि जो देशभक्ति उन गुणों के बलिदान पर जीना चाहती है, जो देशभक्ति से भी बड़े हैं, वह भक्ति नहीं, तिरस्कार की पात्री है। और, यहीं वे उन सभी कवियों और सांस्कृतिक नेताओं से महान् दीखते हैं, जो परिस्थितियों के तकाजों पर अपनी पूर्णता का एक अंश काटकर, समय के चरणों पर उपहार चढ़ाने में, बहुत अधिक नहीं, हिचकिचाते। जो देशभक्ति के नाम पर जीवन की पूर्णता को भूखों नहीं मारता, वह उस मनुष्य से महान् है, जिसका एकमात्र गुण उसकी संकीर्ण देशभक्ति है।
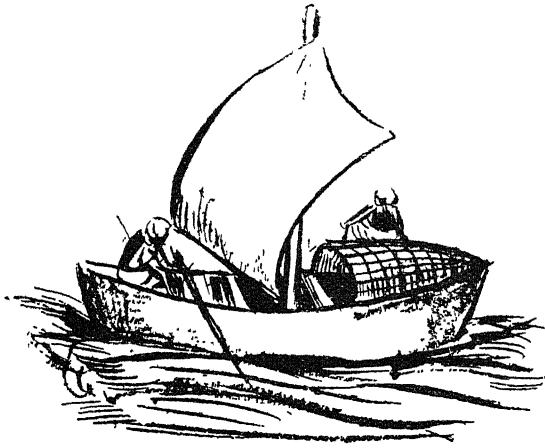
महर्षि अरविन्द् की साहित्य-साधना

सन् १९२८ ई० में, कलकत्ता-कांग्रेस के अवसर पर होनेवाले युवक-सम्मेलन में सुभाष बाबू ने युवकों को परामर्श दिया था कि साबरमती और पाण्डिचेरी के खिलाफ विद्रोह करो। यह समरोत्सुक यौवन का रणोद्गार था। तो भी यह कितना सत्य है कि पाण्डिचेरी का आश्रम उसने बसाया जिसने देश को विद्रोह का पहला मंत्र दिया था और साबरमती का ऋषि भी आजीवन किसी-न-किसी रूप में बागी ही रहा।

जब से श्री अरविन्द् जनता के सामने से हटकर समाधि के कक्ष में रहने लगे, देश में, उनके सम्बन्ध में, भाँति-भाँति की अटकलबाजियाँ चलने लगीं। किसी ने कहा, यह सीधा वैराग्य है ; अरविन्द् अब संसार से ऊब गये हैं ; वे अपने वैयक्तिक मोक्ष की खोज में हैं और सामान्य मनुष्य के उद्धार की उन्हें अब कोई चिन्ता नहीं है। किसी ने कहा, नहीं ; जिस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए पहले वे हिंसक शस्त्रों का आश्रय लिए हुए थे, उसी की सिद्धि के निमित्त वे योग की तलवार तैयार कर रहे हैं ; किसी दिन वे फिर से शरीर के अखाड़े में उतरेंगे, मगर, अब उनके हाथ में लोहे का खड्ग नहीं, ज्योति की कृपाण होगी। कुछ ऐसे भी थे जिन्होंने समझा, यह सब कुछ नहीं है ; अरविन्द् उसी शून्यता में विलुप्त होने जा रहे हैं, जिसमें अनेक तेजस्वी आत्माएँ विलुप्त हो चुकी

हैं तथा उनकी ओर आशाभरी दृष्टि से देखने का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है। किन्तु, तब भी अपार मानवता उनकी ओर किसी रहस्यमयी आशा से देखती रही है। जिन्हें आश्रम के सान्निध्य का सौभाग्य प्राप्त था, वे तो विशिष्ट कारणों से उनके प्रति विश्वासी रहे तथा अपने विश्वास की सुरभि संसार में अन्यत्र भी फैलाते रहे। किन्तु, उनके सिवा, असंख्य लोग ऐसे भी थे जिनकी दलीलें बड़ी ही सीधी-सादी, फिर भी यथेष्ट रूप से पुष्ट थीं।

पाण्डिचेरी आश्रम में श्री अरविन्द आकाश से नहीं टपके, वरन्, उसमें उन्होंने उन सारी उपलब्धियों को लेकर प्रवेश किया था जो नवीन भारत के बड़े-से-बड़े नागरिक के लिए संभव थीं। इंग्लेण्ड के जिस सार्वजनिक स्कूल से उन्होंने प्रवेशिका परीक्षा पास की थी, उसके प्रधान अध्यापक ने, बाद को चलकर, स्वीकार किया था कि अपने २५-३० वर्षों के कार्य-काल में अरविन्द को छोड़कर मुझे और कोई छात्र नहीं मिला, जिसमें उतनी अधिक बौद्धिक क्षमता का वास रहा हो। इंडियन सिविल सर्विस की परीक्षा उन्होंने बड़े ही गौरव के साथ पास की और अपनी चढ़ती जवानी में जब उन्होंने 'वन्देमातरम्' का संपादन आरम्भ किया, तब ऐसा लगा, मानों, भारतीय विद्रोह का निर्दिष्ट देवता मंच पर प्रकट हो गया हो। देश में जो बड़े-बूढ़े नेता आज मौजूद हैं, उनमें से अधिकांश को देश-प्रेम की दीक्षा 'वन्देमातरम्' से मिली थी। जब श्री अरविन्द भारतीय राजनीति के क्षेत्र में खड़े थे, उस समय उनकी उम्र बहुत थोड़ी थी ; और, साथ ही, उन दिनों भारतीय आकाश में अनेक ज्योतिष्पिण्ड ऐसे थे जिनकी ओर देखने में आँखें चौंधिया जाती थीं। किन्तु, ऐसे ही ज्योतिष्पिण्डों में से एक, विपिनचंद्र पाल ने, १६०६ में, लिखा था कि भारत के वर्त्तमान राष्ट्रीय नेताओं में से अरविन्द, यद्यपि, उम्र में सब से छोटे हैं, किन्तु, शिक्षा-दीक्षा, शील, गुण और चरित्र में, शायद, उनके जोड़ का कोई और नहीं है।

श्री अरविन्द की ये प्राप्तियाँ देश के मानस पर अपना अधिकार जमाये रहीं और सभी प्रकार की कानाफूसियों के बीच, लोग भीतर-ही-भीतर अपने-आप से पूछते रहे कि क्या इतना तेजस्वी पुरुष संसार से अलग जाकर जिस ध्येय की

साधना में लग गया है, वह भारत के राजनैतिक स्वातन्त्र्य की अपेक्षा अत्यन्त ही लघु और नगण्य है तथा क्या अरविन्द के व्यक्तित्व में मानवता को जो पथ-प्रदर्शक आलोक मिला था, वह अब सचमुच ही, एकान्त कक्ष में ठण्ढा हो रहा है ? दो एक बार, देश के नेताओं ने यह चेष्टा भी की कि अरविन्द अब बाहर आकर भारत का भाग्य-सूत्र अपने हाथ में लें, किन्तु, वे अपने आसन से नहीं डिगे ; क्योंकि वे जिस ध्येय को सिद्ध करने में लगे हुए थे, वह मनुष्य की राजनैतिक और आर्थिक स्वाधीनता-सा ही मूल्यवान् था।

राजनैतिक और आर्थिक दासता से मनुष्य को मुक्त करना कोई छोटा कार्य नहीं है; किन्तु, इससे कहीं महान् प्रयास तो वह है जिससे समग्र मानवता विकास के पथ पर एक नया कदम उठाती है। विकास का क्रम बड़ा ही धीमा और मद्धिम होता है। यह चढ़ाई बहुत-कुछ चक्करदार सीढ़ी के समान है। सोपान में प्रगति के वृत्त बनते ही रहते हैं, किन्तु, कई सौ वर्षों के बाद जब हम अपनी प्रगति के वृत्त का अवलोकन करते हैं, तब हमें यह जानकर निराशा होती है कि सदियों का प्रयास व्यर्थ हो गया है और हम वहीं के वहीं हैं। हाँ, विकास की रफ्तार कभी-कभी व्यक्ति-विशेष के कारण अधिक तेज हो जाती है। मानवता का रथ मन्द-मन्द तो चलता है, किन्तु, यदा-कदा, कोई महापुरुष आकर उसे अपनी तपस्या के एक ही धक्के से बहुत दूर तक ढकेल देता है। उस समय दीखने लगता है कि मनुष्यता, सचमुच ही, तेजी से चल रही है और इस क्षिप्र गति का समन्वित रूप हम उस महापुरुष के व्यक्तित्व में भलीभाँति देख लेते हैं। किन्तु, ऐसे महापुरुषों का अवतार अनेक सदियों अथवा सहस्राब्दियों के बाद होता है जब कि अनेक गुणों को लेकर ठहरी हुई मानवता इस धक्के को सँभालने के योग्य बनी होती है। महर्षि अरविन्द ने अपनी चालीस वर्ष की समाधि के द्वारा मनुष्यता को ऐसी ही प्रगति देने की चेष्टा की है, अतएव, यह कहना बहुत ही उपयुक्त है कि वे एक देश या एक काल के नहीं, बल्कि, सम्पूर्ण मानवता के विकास के नेता हैं। उन्होंने अपने आश्रमवासी शिष्यों और प्रशिष्यों को क्या दिया है, इस पर बहस की गुञ्जाइश हो सकती है, किन्तु, लिखित साहित्य के रूप

में उन्होंने जो अवदान छोड़ा है, वह अद्भुत् और अपार है। दुर्भाग्यवश, संसार में ऐसे लोग बहुत होते हैं जो उसी को सब कुछ मान लेते हैं जिसे उन्होंने प्राप्त कर लिया है और जो कुछ उनकी पहुँच से परे है, उसे वे कोरा धुआँ मानकर उसकी ओर से निश्चिन्त हो जाते हैं। किन्तु, जो सत्य के पथ पर आरूढ़ हैं, उनमें दुराग्रह नहीं होता ; जो भाविक और जिज्ञासु हैं, वे अपनी पहुँच से परे की भी तलाश में रहते हैं और मनुष्यता की प्रगति के ये ही लोग सच्चे वाहक होते हैं। अरविन्द का साहित्य इन्हीं वीर जिज्ञासुओं के निमित्त है, क्योंकि वे ही उस साहित्य के मर्म तक कभी पहुँच सकेंगे और प्रगतिमती मानवता की वह पद-चाप जो अरविन्द-साहित्य में अंकित है, उन्हें ही सुनायी पड़ेगी। इसका अर्थ यह नहीं है कि श्री अरविन्द का साहित्य धर्म के ढोंग का परंपरागत चोंगा पहने हुए है और वह सिर्फ उन्हीं के लिए है जो समझने के पहले ही ईमान लाने को तैयार हैं, वरन् यह कि वह उन लोगों के लिए नहीं है जो कठिनाइयों से घबराते हैं, जो मनुष्यता की प्रगति की केवल एक ही राह को जानते हैं और जो मनुष्य के शरीर को छोड़कर उसके और किसी अवयव का अस्तित्व ही नहीं मानते। किन्तु, अरविन्द-साहित्य अभी तुरन्त की कृति है ; तिस पर भी वह ऐसे पुरुष की कृति नहीं है जिसके कदम सिर्फ वर्त्तमान की छाती पर रहे हों। श्री अरविन्द ने मानवता के, अब तक के, सम्पूर्ण विकास की तात्त्विक परीक्षा तथा उसकी वर्त्तमानकालीन कठिनाइयों का विश्लेषण करके अपने ही ढंग पर उसके भविष्य का मार्ग निर्धारित किया है। और भविष्य का यह निर्धारण उनके आशीर्वाद अथवा उनकी शुभ कामना का ही द्योतक नहीं है, वरन्, वह मानवता का इतिहास और तर्क-सिद्ध मार्ग भी प्रमाणित हो सकता है।

एक सुधी ने लिखा है कि श्री अरविन्द के दिव्य जीवन अथवा Life Divine को पढ़ लेने के बाद और कुछ पढ़ने की आवश्यकता नहीं रह जाती। किन्तु, मैंने देखा है कि इस अद्भुत् ग्रन्थ को पढ़ने तथा समझने के लिए उन सभी विद्याओं का कुछ-न-कुछ परिचय आवश्यक है जो मनुष्य को अतीत से विरासत के रूप में मिली हैं अथवा जिनका वह शनैः शनैः निर्माण कर रहा है। सोलह सौ पृष्ठों का

यह विशाल ग्रन्थ ऐसा है जिसके भीतर उस पुरुष की चिन्ता विराजमान है जिसने पूर्व और पश्चिम की सभी विद्याओं को अपने भीतर आत्मसात् कर लिया था तथा जिसने लोक और परलोक को एकाकार करने के लिए देवोपम प्रयास किये थे। 'लाइफ डिवाइन' उनके लिए भी कठिन है जो अपने को दर्शन का पंडित मानते हैं। इस ग्रन्थ का एक-एक वाक्य अपने भीतर निहित रहस्य के उद्घाटन के लिए हमारे मन की सम्पूर्ण एकाग्रता की अपेक्षा रखता है। यही वह ग्रन्थ है जिसमें श्री अरविन्द का समस्त जीवन-दर्शन वर्णित है और जिसे अनेक वर्ष-व्यापी आयास के द्वारा समझनेवाले कुछ पंडितों का कहना है कि आदिकाल से लेकर आज तक संसार के पंडित, कवि, कोविद, दार्शनिक और रहस्यज्ञाता मनुष्यता को जहाँ तक पहुँचा सके थे, श्री अरविन्द 'लाइफ डिवाइन' के द्वारा उसे उससे आगे ले जा रहे हैं। 'लाइफ डिवाइन' का सारांश लिखने की क्षमता मुझ में तो नहीं है, फिर भी यह चर्चा यहाँ इसलिए उठानी पड़ रही है कि श्री अरविन्द की साहित्य-साधना को समझने में उनके जीवन-दर्शन का यत्किंचित् अधूरा ज्ञान भी कुछ सहायक होगा।

जीवन-दर्शन

श्री अरविन्द के सम्पादकत्व में निकलनेवाले "आर्य"* नामक मासिक पत्र के मुख पृष्ठ पर एक विज्ञप्ति छपा करती थी जिससे इस बात पर अच्छा प्रकाश पड़ता है कि राजनैतिक क्षेत्र को छोड़ कर वे आश्रम अथवा समाधि के जीवन की ओर क्यों आकृष्ट हुए थे। "समस्त ज्ञान को एक विशाल मिश्रित रूप देना तथा पूर्व और पश्चिम में मनुष्यता की विभिन्न धार्मिक प्रवृत्तियों के बीच सामंजस्य और एकत्व लाना" यह "आर्य" का उद्देश्य था तथा इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए जो साधन चुने गये थे उसके सम्बन्ध में घोषणा की गई थी कि "यह साधन एक ऐसी वास्तविकता पर आधारित होगा जिसमें हेतुवाद (Rationalism) तथा गोतीतवाद (Transcendentalism) का सम्यक् समन्वय होगा एवं इस वास्तविकता में बौद्धिक एवं वैज्ञानिक अनुशासनों का सहजानुभूति (Intuitive Experience) से पूरा मेल रखा जायगा।" मैं ऐसे बहुत-से विद्वानों को जानता हूँ जो अध्यात्म-

---

* यह पत्र १९२० के पूर्व निकलता था।

वादियों से सिर्फ इसलिए बिदकते हैं, क्योंकि उन्होंने सुन रखा है कि महात्मा लोग बौद्धिकता एवं हेतुवादी तर्कों की सत्ता को नहीं मानते। श्री अरविन्द का जीवन-दर्शन ऐसे सभी लोगों की शंकाओं का समाधान है, क्योंकि, वे भी उसी धरातल से उठकर ऊपर गये हैं जिस धरातल पर नवीन विद्याओं के संस्कार के कारण हम कौए के समान सदैव चौकन्ना एवं शंका-ग्रस्त रहते हैं। उनकी साधना का लक्ष्य वैयक्तिक मुक्ति नहीं, प्रत्युत्, सारी मनुष्यता के निमित्त इसी भूमंडल पर दिव्य जीवन का उद्‌घाटन है। यह दिव्य जीवन संसार के लिए बिलकुल नई कल्पना नहीं है। ऋषि-महर्षि, कवि और दार्शनिक अनन्तकाल से जीवन के भीतर इसकी खोज करते रहे हैं। यद्यपि अनेक अन्वेषियों ने निराश होकर यह कह दिया कि अमृत-तत्त्व हमारी किस्मत में नहीं है, किन्तु, अनेक अन्य रहस्यवादियों ने बराबर संकेत दिया है कि किसी-न-किसी मार्ग से भूतल पर अमृत-तत्त्व की उपलब्धि हो सकती है। किसी-न-किसी प्रकार हम इसी जीवन में दिव्यता लाभ कर सकते हैं। कबीर ने जल में मीन पियासी कह कर जिस सम्भावना की ओर संकेत किया है, उसी संभावना की झाँकी एलिजबेथ बैरेट ब्राउनिंग की इन पंक्तियों में भी मिलती है—

Earth is crammed with heaven
And every common bush afire with God.

दिव्य जीवन की ऐसी रहस्यात्मक झाँकियाँ साहित्य में बहुत बार प्रकट हुई हैं और उनकी संख्या वर्त्तमान युग में भी कम नहीं है।

आधुनिक युग की यह भी एक विशेषता है कि जहाँ हम भौतिकता को सत्य की आधारशिला मानकर चल रहे हैं, वहाँ हम में यह भी एहसास पैदा होता जा रहा है कि हम वस्तु की बाह्य परीक्षा से ही संतोष न करें। बल्कि, उसके भीतर डूबकर उन तत्त्वों को भी पकड़ें जो साधारण तर्क और सामान्य बुद्धि की पकड़ में नहीं लाये जा सकते। यही कारण है कि आधुनिक साहित्य के उच्चतम शिखर पर रहस्यवाद की कुहेलिका मँडराने लगी है। यानी सामान्य बुद्धि पहले जहाँ थक कर बैठ जाती थी, अब वह वहाँ से भी सहजानुभूति के

सहारे आगे बढ़ने की चेष्टा कर रही है। और यह प्रवृत्ति सिर्फ उन्हीं कवियों में देखने को नहीं मिलती जो धार्मिक अथवा आस्तिक हैं। बल्कि, यह उनका भी प्रमुख लक्षण है जो नास्तिक रहे हैं अथवा जिन्होंने खुल कर ईश्वरीय सत्ता में अविश्वास प्रकट किया है। फ्रांस का प्रसिद्ध कवि चार्ल्स बादेलेयर ने, जो एक प्रकार से आधुनिक अतिवादी चेतना का जन्मदाता कहा जाता है, स्थान-स्थान पर ऐसी प्रवृत्ति का परिचय दिया है। अपनी आत्मा को सम्बोधित करते हुए वह कहता है :—

इस घृणित जहर से दूर भागो,
उच्चता पर बहनेवाली वायु में विचरण करके
अपने आपको पवित्र करो।
मेरे मन ! उस ज्वाला का छक कर पान करो
जो शून्य में अलौकिक एवं पवित्र सुरा की तरह व्याप्त है।

मेलार्मे, समाँ, हाउसमैन, वाल्ट ह्विटमैन, यीट्स और इलियट, प्रायः, नवयुग के जो भी तगड़े कवि हुए हैं, उनका धार्मिक विश्वास चाहे जैसा भी रहा हो, किन्तु, द्रव्य के विश्लेषण में वे बुद्धि की रेखा से बहुत आगे जाते रहे हैं तथा उस सहजानुभूति से काम ले कर उन्होंने अगोचर को छूने का प्रयास किया है जिसकी सत्ता को स्वीकार करने में विज्ञान को बड़ी झिझक होती है और जिसे वह बुद्धि का ही एक रूप कह के बर्खास्त कर देना चाहता है। हाँ, यह दूसरी बात है कि अब विज्ञान भी एक सीमा पर पहुँचकर रहस्यात्मक संकेतों में अपना समाधान उपस्थित करने लगा है। *

मानव-मस्तिष्क के इस रहस्यवादी परिपाक को श्री अरविन्द भली-भाँति समझते थे और जिस स्तर के इस किनारे पर पहुँच कर विश्व के कवि और दार्शनिक वर्षों से उकता रहे थे, उस स्तर का भली-भाँति निरीक्षण करके उन्होंने विश्वास-पूर्वक अपने दिव्य जीवन के सिद्धान्त की स्थापना की है। "आर्य" के ही एक अंक में उन्होंने लिखा था कि "जिन आध्यात्मिक अनुभूतियों एवं सामान्य

* जैसे आइन्स्टाइन का दिक्काल-सम्बन्धी सिद्धान्त।

सत्यों पर हमारा प्रयास आधारित है, वे हमारे सामने पहले से ही मौजूद थे। आवश्यकता इस बात की थी कि हम उन्हें बुद्धि की भाषा में पूर्ण रूप से व्यक्त कर सकें तथा उनके निष्कर्षों को शब्दों में बाँध सकें। इसके लिए, लगातार सोचने की आवश्यकता थी, कई दिशाओं में सूक्ष्म एवं अत्यन्त कठिन चिन्तन अनिवार्य था। अतएव, तथ्य तक पहुँचने में हमें जिस कठिनाई का सामना करना पड़ा, उसमें हमारे पाठकों को भी भागीदार होना पड़ेगा।" जिस भाव-धारा का परिपाक 'लाइफ डिवाइन' में हुआ है उसका आरम्भ 'आर्य' के ही अंकों में हुआ था। 'आर्य' के जुलाई १९१८ वाले अङ्क में अरविन्द ने लिखा था कि "मनुष्य को अपनी मानवीय सीमाओं का अतिक्रमण करके ईश्वरीय दिव्यता को प्राप्त करना पड़ेगा। उसे एक प्रकार को पार्थिव अमरता की अपेक्षा है। उसके भौतिक जीवन को भी ईश्वरीय दिव्यता से संवलित होना पड़ेगा।"

किन्तु, 'आर्य' के अंकों में जिन सिद्धांतों का पूर्वाभास मिलता है, वे सिद्धांत 'लाइफ डिवाइन' में आकर भली-भाँति निरूपित हो गये। सहजानुभूति जिसका संकेत देती थी, बुद्धि जिसे भली-भाँति ग्रहण नहीं कर पाती थी, अतिमानस के जोर से वह भाषा के कलेवर में आ गया। 'लाइफ डिवाइन' सृष्टि और उस सर्वव्यापी सत्ता के वर्णन का नवीनतम प्रयास है, जिसका वर्णन संसार में अनन्त काल से होता आया है। यह ग्रन्थ हमें यह बतलाता है कि विकास की प्रक्रिया में मनुष्य अभी किस स्तर तक पहुँच सका है, हमारा बाह्य रूप क्या है और आवरण के भीतर हम कैसे लगते हैं तथा जब विकास अपनी पूर्णता को प्राप्त होगा, उस समय, हम कहाँ और किस रूप में होंगे। 'लाइफ डिवाइन' के आरंभ में ही कहा गया है कि मनुष्य आनन्द की खोज में है, वह किसी पूर्णता की ओर गतिशील है, वह निर्मल सत्य एवं ऐसे आनन्द की तलाश में है जिसमें दुःख को तनिक भी कालिमा नहीं हो। उसे एक प्रकार की गोपन अमरता की खोज हैरान कर रही है। किन्तु, संसार में दुःख-ही-दुःख हैं और मनुष्य अशान्त है। दुःखों से छुटकारा पाने के कौन से उपाय हैं?* जड़ता-

* यह जिज्ञासा सभी दर्शनों का मूल है। सिद्धार्थ ने इसी जिज्ञासा से विच-

वादियों का कहना है कि मनुष्य की यह गोपन तृषा ही मिथ्या है। इस जड़ संसार के आगे सब कुछ शून्य है। इसलिए, हमें यहीं रम कर आराम करना चाहिए। इसके विपरीत, वैरागियों का दल है, जो यह कहता है कि यह गोचर विश्व, असल में, यात्रा है। इसमें उलझना जीवन के वास्तविक ध्येय से दूर पड़ जाना है। सत्य वह नहीं है जिसे हम देखते हैं, बल्कि, वह जो हमारी आँखों से ओझल है। अतएव, मनुष्य को चाहिए कि वह संसार का त्याग करके गोतीत तत्व की उपासना में लग जाय; द्रव्य को छोड़ कर स्पिरिट की आराधना करे, रूप का तिरस्कार करके अरूप को भजे।

जड़तावादी कहता है कि दिव्य जीवन की कल्पना निरी कल्पना ही है। वह कभी पूरी नहीं होगी। अतएव, जब तक जीवित हो, पृथ्वी को स्वर्ग मान कर जियो और इसके आनन्दों का उपभोग करो। वैरागी कहता है कि यह पृथ्वी स्वर्ग बन ही नहीं सकती। स्वर्ग तो तब मिलेगा, जब हम मिट्टी के घेरे से बाहर चले जायँगे। मगर, इन दो विरोधी समाधानों के होते हुए भी जीवन के अन्तराल में एक अनवरत प्रवाह चल रहा है कि हमें इसी जीवन में स्वर्ग चाहिए जिसे पकड़ कर हम अपने साथ रख सकें। हम आत्मा की सत्ता की उपेक्षा नहीं कर सकते, क्योंकि हमारे अस्तित्व की समस्त तिमिराच्छन्न धारा ही हमारी इस बात का खंडन करती है कि विश्व में अन्तर्हित किसी सर्वव्यापी सत्य की सत्ता नहीं है। दूसरी ओर, वैरागियों के आत्महनन की प्रक्रिया का भी हम समर्थन नहीं कर सकते, क्योंकि वह दुःखदायी और अत्यन्त कठोर मार्ग है, साथ ही, सफलता के बदले उससे हमें भयंकर परिणाम भी भोगने पड़ सकते हैं। इनमें से दोनों ही मार्ग एकांगी पाये गये हैं और मानवता किसी ऐसे मार्ग के लिए तड़पती रही है जिसमें समन्वय का गहरा पुट हो, जिसमें भोग और वैराग्य, दोनों, के लिए

लित होकर संन्यास लिया था और इसी जिज्ञासा ने मानवता के सभी नेताओं को बराबर आन्दोलित रखा और आज भी रख रही है। आज यूरोपीय साहित्य में EXISTENCIALISM अथवा अस्तित्ववाद के नाम से जो नया दृष्टिकोण पनप रहा है, उसके मूल में भी जिज्ञासा काम कर रही है।

स्थान हो, जिसमें मिट्टी की गंध और आकाश की सुरभि का संतुलित योग हो तथा जो सत्य के किले तक खूब प्रशस्त होकर जा सके ।

श्री अरविन्द ने मनुष्यता को व्यथित करनेवाली इस युगव्यापिनी पीड़ा का जो निदान और समाधान दिया है, वह बड़ा ही विलक्षण है। वे मानते हैं कि आधुनिक जड़तावादी दृष्टिकोण ने जिज्ञासा से पीड़ित मनुष्य की अनेक शंकाओं का समाधान करके उसके जीवन के निचले स्तर-सम्बन्धी ज्ञान का भंडार यथेष्ट रूप से बढ़ा दिया है। इसी प्रकार, वैरागियों की वृत्ति ने मनुष्य को संसार के मोह से मुक्त होकर अज्ञात की खोज में निकल पड़ने का साहस प्रदान किया एवं आत्मा की सतह की झाँकी लेने में उसकी सहायता की। किन्तु, ये दोनों ही मार्ग सीमित और अपूर्ण हैं। सच तो यह है कि आत्मा का स्वतंत्र होकर फैलने का दावा उतना ही उचित है, जितना द्रव्य का यह आग्रह कि वह इस प्रसार का साँचा और आधार बनेगा। आधिभौतिक दृष्टिकोण और वैराग्यसाधना, ये दोनों ही एक ही वास्तविकता के दो विरोधी पहलू हैं। किन्तु, सर्वव्यापी सत्य तो वह है जो इन दोनों को अपने में समेट कर भी इन दोनों से बहुत आगे तक जाता है। फिर तो इन दोनों में से किसी का भी उसमें कोई अलग अस्तित्व नहीं रह जाता और वह सत्य अपने ही आलोक में अप्रतिम होकर चमकने लगता है। संक्षेप में, यही वह आधार है जिस पर दिव्य जीवन का महल खड़ा हो सकता है, वह महल जिसमें सत्य, शिव और सुन्दर, तीनों ही, अपने-अपने संतुलित भाग को पाकर संतुष्ट होंगे तथा इसी समन्वय के कारण श्री अरविन्द के पास जड़तावादी एवं वैरागी, दोनों ही प्रकार के लोगों के लिए कुछ देय संदेश हैं।

इस प्रकार, सर्वव्यापी सत्य वह है जिसके एक छोर पर द्रव्य है और दूसरे छोर पर आत्मा। इस दूरी को श्री अरविन्द ने आठ सोपानों में विभक्त किया है। सबसे निचला सोपान द्रव्य (Matter) है ; उसके ऊपर, क्रमानुसार, जीवन (Life), उपचेतन (Psyche), मानस (Mind) अतिमानस (Super-mind), आनन्द (Bliss) चेतनाशक्ति (Consciousness-force) और अस्तित्व (Existence) का स्थान है। अस्तित्व का ही नाम सच्चिदानन्द

अथवा शुद्ध अस्तित्व है। इस शुद्ध अस्तित्व में ही इच्छा और क्रिया शक्तियों का एकत्र वास है एवं यही आनन्द का चरम विन्दु है।

महर्षि ने इनमें से प्रत्येक नाम के भीतर एक निश्चित अर्थ रखा है तथा यह बताया है कि मनोविज्ञान के लोक में चेतना इन सब स्तरों पर भ्रमण करती है। दिव्य-जीवन-सम्बन्धी उनके दर्शन का यह भाग अत्यन्त दुरूह है और उसकी गुत्थी, कदाचित्, गुरुमुख से ही सुलझायी जा सकती है। मनुष्य के अगले विकास का लक्ष्य इसी अतिमानस के स्तर तक पहुँचना है, क्योंकि यही मानस निर्मल ज्ञान के मूल-उत्स के आमने-सामने पड़ता है। यह मानस सामान्य मस्तिष्क एवं बौद्धिक विचिकित्सा के विन्दु से बहुत ऊपर स्थित है तथा सामान्य मस्तिष्क एवं अतिमानस के बीच अज्ञानता की जो दीवार खड़ी है, उसे तोड़ने के पश्चात् ही मनुष्य अपने अतिमानस के लोक में प्रवेश पा सकता है।

बुद्धिवादी होते हुए भी श्री अरविन्द सामान्य मस्तिष्क में विश्वास नहीं करते। "लाइफ डिवाइन" में वे कहते हैं कि "मस्तिष्क उसका नाम है जो कुछ नहीं जानता है, जो जानने की कोशिश तो करता है,, किन्तु, असल में, कुछ जान नहीं पाता। उसे जो कुछ दिखलायी पड़ता है वह धूमिल दर्पण में पड़नेवाली धुँधली छाया के समान है। तब भी इस शक्ति का एक उपयोग यह है कि वह सांसारिक व्यवहार के प्रसंग में सार्वभौम सत्य की एक प्रकार की सीमित व्याख्या कर सकती है। किन्तु, सार्वभौमिक सत्य का न तो उसे परिचय प्राप्त है और न वह उसका पथ-प्रदर्शन ही कर सकती है।" "थाट्स ऐण्ड ग्लिम्प्सेज़" में भी उन्होंने, व्याजान्तर से, इसी बात को यह कहके दुहराया है कि "तर्क सहायक था, किन्तु तर्क ही बाधक भी है।" किन्तु, उनका विश्वास है कि सामान्य मस्तिष्क के स्तर पर मनुष्य अब अधिक काल तक टिकनेवाला नहीं है। विकास की अगली लहर पर चढ़ कर मनुष्य अज्ञानता के प्राचीर को तोड़ डालेगा और सामान्य मस्तिष्क के स्तर से उछल कर वह अतिमानस के चेतनास्तर पर पहुँच जायेगा, जहाँ उसे आभासपूर्वक कुछ जानने की आवश्यकता नहीं रह जायगी, जहाँ वह उस सर्वज्ञता का स्वामी हो जायगा जो अतिमानस वाले स्तर से निःसृत होती

है। उस अवस्था के आते ही संसार से वैषम्य दूर हो जायगा, द्वैत की भावना विनष्ट हो जायगी और मनुष्य इस विधि-प्रपंच के वास्तविक रहस्य का ज्ञाता हो जायगा। यही मनुष्य श्री अरविन्द की कल्पना का अतिमानव होगा जिसके अवतार के लिए उन्होंने चालीस वर्षों तक चिन्तन और समाधि की है।

काव्य-संबन्धी विचार

साहित्य के लिए यह अत्यन्त सौभाग्य की बात है कि महर्षि अरविन्द ने अपने सिद्धान्तों को केवल दार्शनिक रूप में ही अभिव्यक्त नहीं किया, बल्कि उनका तत्त्व कविताओं में भी उपस्थित किया है। यही नहीं, डॉक्टर कजिन्स की New ways in English literature नामक पुस्तक की आलोचना के बहाने "आर्य" में उन्होंने जो लेख-माला शुरू की, वह बढ़ते-बढ़ते उनके काव्य-संबन्धी अनेक विचारों और उद्भावनाओं की अभिव्यक्ति हो गई। इस लेख-माला के बड़े-बड़े पैंतीस अध्याय हैं और, अनुमानतः, रायल साइज के तीन-चार सौ पृष्ठों से कम में वह नहीं समा सकती है। इस लेख-माला का शीर्षक "कविता का भविष्य" नहीं होकर "भविष्य की कविता" अर्थात् The future Poetry है। यह लेख-माला एक तरह से अरविन्द की काव्य-संबन्धी धारणाओं का संक्षिप्त विश्व-कोष है और उसमें अंगरेजी कविता का इतिहास, कला की व्याख्या, अंगरेजी के प्रख्यात कवियों की आलोचनाएँ, कविता के भविष्य के संबन्ध में विचार, लय और गति, शैली और विषय, काव्यात्मक सत्य का सूर्य, कविता का रूप और उसकी आत्मा, आदि विषयों का अत्यन्त मार्मिक और प्रेरक विवेचन किया गया हैं। इन निबन्धों की भाषा, उनकी शैली की गंभीर भंगिमा और उनमें व्यक्त अतलस्पर्शी विचार ऐसे हैं, जिन्हें देखकर सहसा यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि अरविन्द विकास के नेता हैं अथवा साहित्य के। क्योंकि जहाँ तक मेरी पहुँच है, मैंने काव्यालोचना के इससे अधिक प्रकाशमान रूप और कहीं नहीं देखे और जब मैं यह कहता हूँ, तब उस उक्ति के घेरे में उन अनेक आलोचकों के नाम आ जाते हैं, जो प्राचीन अथवा नवीन आलोचनाओं के निर्माता कहे जाते हैं तथा जिनके विचारों के प्रकाश में कविता नई राह पकड़ती आई है और आलोचना

के मानदण्डों में परिवर्त्तन होता आया है। बड़े ही खेद का विषय है कि ये बहु-मूल्य निबन्ध अभी तक पुस्तकाकार में प्रकाशित नहीं किये जा सके हैं। तब भी मेरा विश्वास है कि जिस दिन यह ग्रन्थ-रत्न प्रकाशित होगा, उस दिन साहित्य में एक नई जागर्ति का आरंभ होगा और उन लोगों को प्रकाश का एक अप्रतिभ प्रस्रवण हाथ लग जायगा, जो साहित्य के नये मानदंडों की खोज के लिए पच्छिम के प्रकांड आलोचकों की रचना-वीथि में घूम रहे हैं।

ऊपर जीवन-दर्शन की व्याख्यावाले प्रसंग में यह संकेतित किया जा चुका है कि अरविन्द मनुष्य के व्यक्तित्व में दिव्यता भरने की कल्पना किस विलक्षणता से करते हैं। जब यह दिव्य मनुष्य अवतरित होगा, तब उसके व्यक्तित्व की आभा उसके परिवेष्टन को भी प्रभावित करेगी तथा कला और काव्य भी उसके आलोक में नवीन रूप ग्रहण करेंगे। अतएव, जिस रूप में अरविन्द भावी मनुष्य की कल्पना करते हैं, उसीके अनुरूप कल्पना से उन्होंने भावी काव्य को भी मंडित किया है और जिस प्रकार, अरविन्द की कल्पना के अति-मानव की पृष्ठभूमि बहुत दिनों से प्रस्तुत होती आ रही है, उसी प्रकार, उनकी कल्पना की भावी कविता के चिह्न भी विश्व-साहित्य में यत्र-तत्र मिलने लगे हैं।

भावुकता की दूब से उठकर धर्म की डाल पर, और धर्म की डाल से उठकर विचार के शिखर पर कविता ने अब तक, क्रम-क्रम से, तीन नीड़ बसाये हैं; और प्रत्येक नीड़ में बैठकर उसने अपने समकालीन समाज पर अमृत उँड़ेला है। फिर भी यह मानना पड़ेगा कि ये तीनों ही नीड़ कविता की ऊर्ध्वमुखी यात्रा के तीन सोपान रहे हैं और प्रत्येक सोपान अपने समय में इसलिए बना चूँकि तत्कालीन मानवीय चेतना उसी सोपान पर कविता में निखार पा सकती थी।

बहुत काल से कवियों के संबन्ध में यह बात पूछी जाती रही है कि वे कविता रचते समय चैतन्य रहते हैं अथवा कोई अज्ञात शक्ति उनसे मनमाने ढंग पर काम लेती रहती है। कुछ लोगों का कहना है कि प्रतिभासंपन्न लोगों की पह-चान यह है कि वे जो कुछ करते हैं, उसका उन्हें सम्यक् ज्ञान नहीं रहता। कुछ दूसरे लोग कहते हैं कि परिश्रम से कभी भी क्लान्त नहीं होनेवाला मनुष्य ही

प्रतिभाशाली है। किन्तु, अगर विश्लेषणपूर्वक देखा जाय तो पता चलेगा कि प्रतिभाशाली व्यक्ति की विशेषता यह होती है कि वह एक ही समय में कई स्तरों पर जागरूक और चेतन्य रहता है। विशेषतः, कवि के संबन्ध में तो यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वह एक तो, उस स्तर पर जागरूक है जिससे उसकी प्रेरणा आ रही है और दूसरे, उस स्तर पर भी, जिस पर बैठकर वह उस प्रेरणा को लिपिबद्ध करता है। साहित्य में पूर्ण सफलता के लिए इन दोनों ही स्तरों पर जाग्रत रहना अनिवार्य है; क्योंकि प्रेरणा की धारा का कलकल सुने बिना हम कुछ लिख नहीं सकते और अगर उस ध्वनि को अंकित करनेवाला हमारा यंत्र कुछ कम जागरूक अथवा अचैतन्य हो तो, स्पष्ट ही, हमारा अंकण असमर्थ होगा। कवि-कर्म की इसी कठिनाई को ध्यान में रखते हुए सुधी आलोचक श्री नलिनीकान्त-गुप्त ने कहा है कि श्रेष्ठ कलाकार जागरूक और अजागरूक में से कुछ भी नहीं होकर एक शब्द में "अतिजागरूक" होता है। किन्तु, ऊपर के स्तर का यह जागरण जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय, चारों अवस्थाओं में कायम रह सकता है। जो समाधि योगी की होती है, उसी प्रकार की समाधि कवि की भी होती है। क्योंकि रहस्यवादी कवि जिस मुद्रा में जाकर अगोचर को छूने का प्रयास करता है, वह बहुत कुछ वही मुद्रा है जिस मुद्रा में देर तक रहकर योगी चराचर और चेतन-अचेतन, सभी जीवों और वस्तुओं के भीतर निहित चेतना के साथ एकता का अनुभव करता है। काव्य की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि कवि ऊपर के स्तर पर प्रेरणा की कलकल ध्वनि से अत्यन्त एकाग्र होकर अपना कान लगाये रहे और निचले स्तर पर पूरी तटस्थता और ईमानदारी के साथ उस ध्वनि को सुयोग्य शब्दों में लिपिबद्ध करता जाय। यह कवि और कारीगर के अपने-अपने स्तर पर पूर्ण रूप से जागरूक रहने का सवाल है। मगर, इसमें बाधाएँ आ सकती हैं। कभी तो ऐसा होता है कि प्रेरणा के तूफान में कवि खुद पत्तों-सा उड़ने लगता है और उसकी कारीगरी ढीली पड़ जाती है। तथा कभी कारीगर ही अपने रंगों पर इतना आसक्त हो जाता है कि कवि की समाधि में शिथिलता आ जाती है। वस्तुतः, सच्चा कवि कोई योगी ही हो सकता है, जो

दोनों धरातलों पर जागरूक एवं साथ ही तटस्थ रह सके। प्राचीन काव्य से जो शिक्षा मिलती है और मानवीय चेतना का जैसा विकास हो रहा है, उसे देखते हुए यह उचित दीखता है कि अभिनव कवि योगी की वृत्ति को अपनाये और दो धरातलों पर समान रूप से चैतन्य रहकर अपनी सामग्री और यंत्र दोनों पर नियंत्रण रखे ; अपने पूर्वजों के समान काव्य-प्रेरणा की उद्दाम लहर में नहीं बहकर क्षण-क्षण यह ध्यान रखे कि जो कुछ वह लिख रहा है, वह ठीक वही चीज है या नहीं, जो उसकी प्रेरणा से आ रही है।

जिसे मैंने भावुकता का सोपान कहा है, वह अरविन्द के अनुसार कविता का आदि सोपान था, जब कि मनुष्य ने ज्ञान का मजा नहीं चखा था ; जब कि कवि-गण यह नहीं जानते थे कि वे क्यों और कैसे लिखते हैं ; जब कि वे सिर्फ वायु के स्पर्श का अनुभव करते थे, उसके उद्गम का उन्हें पता नहीं था। यह विश्व-काव्य के उस भाग का जिक्र है जो क्लासिक के पहले रचा गया था। क्लासिक का काल तब आया, जब मनुष्य इस कोरी भावुकता से आगे बढ़ा और संकल्प के द्वारा उसने केवल स्थूल वस्तु ही नहीं, सूक्ष्म मन को भी प्रभावित करना आरंभ किया। इसी काल में धर्म काव्य का आधार हुआ और कविता उन अगणित सिद्धान्तों, आख्यायिकाओं और कथाओं का आश्रय लेकर आगे बढ़ी जो धर्म के किसी-न-किसी रूप की अभिव्यक्ति करती थीं। क्लासिक के बाद जो काल आया, उसमें कविता के मेरुदण्ड भी विचार और विज्ञान बन गये। यही हमारा आधुनिक काल है और जिस प्रकार, मानस के स्तर पर ठहरा हुआ मनुष्य अतिमानस में प्रवेश पाकर दिव्य बननेवाला है, उसी प्रकार, उसकी कविता भी विचार से ऊपर उठकर सहजानुभूति की प्रचुरता का उपयोग करके दिव्य और सूक्ष्म रूप धारण करनेवाली है।

यदि आदि काल का कवि केवल भावुक, एवं क्लासिक युग का कवि संकल्प और इषत् आत्म-चेतना से युक्त था, तो आज का कवि आत्म-चेतना के आधिक्य से पीड़ित है। उसकी बौद्धिकता इतनी बढ़ी हुई है कि वह दो स्तरों पर जागरूक रहकर केवल रचना ही करना नहीं चाहता, बल्कि, रचना करते समय वह उसके

दोष और गुण एवं समाज पर होनेवाली उसकी प्रतिक्रिया और प्रभाव का भी मूल्य आँकता जाता है। आज के युग में आदिकालीन, अचेतन कलाकार की कल्पना भी नहीं की जा सकती। आज कलाकार भी वैज्ञानिक हो रहा है। वह जब कोई रचना करता है, तब वह सिर्फ यही नहीं सोचता कि वह क्या रच रहा है, बल्कि उसकी दृष्टि इस बात पर भी रहती है कि वह रचना किस प्रकार से की जा रही है। स्पष्ट ही, इस परिवर्त्तन के कारण रचना की स्वाभाविकता में कमी आई है, उद्‌गारों की वह गरिमा क्षीण हो रही है जो पहले थी ; किन्तु, इस बात को कोई रोक नहीं सकता। यह बौद्धिक युग का अनिवार्य धर्म है। हाँ, इसका समाधान खोजा जा सकता है और इस समाधान का स्पष्ट आभास हमें महर्षि अरविन्द के "भावी कविता" नामक निबन्ध में मिलता है।

"भावी कविता" नामक निबन्ध-माला में "काव्यात्मक सत्य का सूर्य" शीर्षक अध्याय के अन्तर्गत महर्षि ने इस प्रश्न पर विचार किया है कि कविता की आत्मा से हम किस प्रकार के सत्य की अपेक्षा रखते हैं। सत्य के सम्बन्ध में हमारी धारणाएँ इतनी विभिन्न हैं कि इस शब्द का कोई निश्चित अर्थ करना अत्यन्त कठिन है। फिर अनन्त काल से यह प्रवाद भी चला आ रहा है कि कवि सत्य नहीं, सौन्दर्य का पुजारी होता है ; वह कल्पना का प्रेमी होता है, जो कल्पना सत्य की ही उड्डीयमती दासी और सरस्वती की ज्योतिर्मयी दूतिका है। किन्तु, तब भी यह तो नहीं ही कहा जा सकता कि कला प्रकृति की अनुकृति मात्र है। असल में, कला में जो प्रेषणीयता होती है, उसके सहारे कवि उस सत्य का हमें दर्शन कराता है, जो वस्तुओं के बाह्य रूप के भीतर प्रच्छन्न है। इसके ठीक विपरीत वह सिद्धान्त है जिसके आधार पर यह कहा जाता है कि जीवन की ठोस वास्तविकता ही कविता की सामग्री है। जीवन के प्रति पूरी वफादारी निभाने के लिए यह आवश्यक है कि कवि कविता में लय का ऐसा प्रवाह भरे, जो जीवन की वास्तविक मुद्राओं की सच्ची प्रतिध्वनि का प्रतिरूप हो ; जीवन की पद-चाप जिस रूप में ध्वनित होती है, कविता की लय को उसका पूरा जवाब होना चाहिए। ऐसी कविताओं में सौन्दर्य नहीं, शक्ति प्रधान होती है। ऐसी कविताएँ

जीवन का चित्रण ही नहीं करतीं, बल्कि, उसके प्रति हमारे हृदय के आवेगों को भी तीव्र कर देती हैं। और तब वह तर्कजनित धारणा आती है जिसके अधीन हम तर्कसम्मत किसी खास कल्पना अथवा रुचि के सत्य को कविता की सामग्री मान लेते हैं। इस धारणा के कितने ही पहलू हैं, जिन्हें हम कविता और दर्शन, कविता और जीवन, कविता और जीवन की आलोचना, आदि विभिन्न सम्बन्धों के नाम से अभिव्यक्त करते हैं।

किन्तु, महर्षि कहते हैं कि इनमें से किसी भी सत्य के साथ कविता का कोई लगाव नहीं है। अपने अन्तिम विश्लेषण में, सत्य एक अनन्त शक्ति के रूप में सामने आता है। कल्पना का सत्य से कोई विरोध नहीं हो सकता ; क्योंकि वह तो सत्य की ही एक रंगीन झलक-भर है। कविता, असल में, वही सफल होती है जो सत्य की इस अनन्तता की झाँकी हमें सौन्दर्य में लपेटकर दिखला सके। कविता का सत्य दर्शन, विज्ञान अथवा धर्म का सत्य नहीं है। कवि जब अपने धार्मिक अथवा किसी प्रकार के विश्वास के लिए छन्दों में दलीलें गूँथने लगता है, तभी वह काव्य के अत्यन्त आवश्यक नियम को भंग करने का अपराधी हो जाता है। कविता स्वयं एक स्वतन्त्र धर्म और विश्वास है तथा कवि जब महासरस्वती के सम्मुख उपस्थित होता है, तब उसे अपनी अन्य सारी मानसिक पोशाकों को उतार देना चाहिये। और तब भी यह सत्य है कि दार्शनिक, धार्मिक और वैज्ञानिक की तरह कवि भी उसी वस्तु के सार को कविता के माध्यम से अभिव्यक्त कर सकता है, जिसे दार्शनिक और वैज्ञानिक अभिव्यक्त करते हैं, बशर्ते कि उसमें दार्शनिक, वैज्ञानिक एवं धार्मिक सत्यों को काव्य के सत्य में परिणत करने की क्षमता विद्यमान हो। काव्यात्मक सत्य को अन्य सत्यों से बिलकुल विभक्त करके देखने वाली इस दृष्टि को महर्षि ने अत्यन्त प्रमुखता दी है, और यह उचित भी है ; क्योंकि, यद्यपि, इस विभिन्नता के औचित्य को सब लोग स्वीकार करते हैं, किन्तु, उसका पालन अब तक विरले ही लोगों ने किया है। आज की आलोचनाओं में इस विभिन्नता पर खूब जोर देने की आवश्यकता है; क्योंकि आगामी युगों की कविता दर्शन, धर्म और विज्ञान को मथे बिना अपना लक्ष्य सिद्ध नहीं कर पायेगी तथा

इस मन्थन के बावजूद उसे इन सब से भिन्न अपनी अलग दृष्टि का विकास करना होगा और वस्तुओं के भीतर पैठकर मूल रहस्य को बेधनेवाली अपनी पतली निगाह को और भी तेज बनाना होगा। दार्शनिक शुष्क तर्कों के सूखे प्रकाश में काम करता है और सत्य के भीतर प्रच्छन्न बौद्धिक सामग्रियों का विश्लेषण उसका प्रधान कर्म है। वैज्ञानिक भी बौद्धिक तर्कों के सहारे चलता है तथा अपने गणित की नोंक से परदों को फाड़कर वह अपनी पैनी दृष्टि से तिमिराच्छन्न सत्य को ऊपर ले आता है। किन्तु, कवि का मन गतिमान जीवन की पूर्णता का उसकी लय में दर्शन करता है; वह वस्तुओं के चमत्कारी यन्त्र का नहीं, उनमें छिपी हुई आत्मा का ग्राहक है;

It sees at once in a flood of coloured light, in a moved experience, in an ecstasy of the coming of the word, in splendours of forms, in a spontaneous leaping out of inspired idea upon idea.

कविता का उद्देश्य किसी भी प्रकार के सत्य की शिक्षा देना नहीं है; सच पूछिए तो शिक्षा देने का कोई भी कार्य कविता नहीं करती; ज्ञान की साधना, धर्म की सेवा अथवा बड़े-से-बड़े नैतिक उद्देश्य की आराधना में से कोई भी क्रिया कविता का उद्देश्य नहीं है। कवि का काम केवल शब्दों में सौन्दर्य को गूँथकर निर्मल आनन्द की सृष्टि करना है। कविता हमें प्रेरणाभरी दृष्टि देती है; वह गतिमान जीवन का हमें स्पर्श कराती है और अन्त में वह इस स्पर्श के द्वारा हम में कम्पन और उल्लास भरती है, किन्तु, यह कम्पन और उल्लास केवल रोम-कूपों में ही नहीं, हमारी आत्मा के गुह्यतम स्तर पर होना चाहिये।

अंग्रेजी-कविता के ठीक पिछले युग पर दृष्टिपात करते हुए श्री अरविन्द ने कहा है कि कविता का यह युग बौद्धिकता के अतिसेवन का काल था। १९वीं शताब्दी के मध्य के अंग्रेजी-कवि विचारों के कवि थे तथा उनकी प्रेरणा समस्याओं पर चिन्तन करने से आती थी। इङ्गलैण्ड और अमेरिका के तत्कालीन महाकवियों ने बड़ी ही आवेशमयी भाषा में जीवन की आलोचना की है; दर्शन की व्याख्या और नैतिक विश्लेषण के द्वारा उन्होंने मनुष्य को बड़े-बड़े उपदेश

दिये हैं और इसमें कोई सन्देह नहीं कि उनकी रचनाएँ बड़ी ही सुन्दर एवं सुसंस्कृत उतरी हैं। ऐसा लगता है, मानों, ठोस जीवन को छोड़कर उनके सामने कोई और विषय ही नहीं था। किन्तु, यह सब होते हुए भी वे जीवन के सफल प्रतिनिधि नहीं बन सके और न उच्च काव्यात्मकता के साथ वे जीवन की आलोचना ही कर सके; उनमें वस्तुओं की तह में पैठकर देखनेवाली दिव्य दृष्टि नहीं मिलती; ऐसा भासित नहीं होता है कि वे सत्य के किसी गम्भीर एवं महान् दृश्य से आन्दोलित होकर ऊपर उठ सके हैं। इन कवियों की कविताओं का वातावरण बोझिल दीखता है और ऐसा लगता है, मानों, कोई अधिक शक्ति-शालिनी रचनात्मक प्रवृत्ति उसके भीतर से जन्म लेने की चेष्टा में बेचैन हो। आगे जो कवि आये उन्हें जीवन का कुछ अधिक सामीप्य प्राप्त था, किन्तु उन्हें भी इस वातावरण के भार के नीचे ही काम करना पड़ा और उनकी साँसों में भी जगह-जगह पर अप्रिय गाँठें नजर आती हैं। यह कविता के विकास का गतिरोध है जिसके निराकरण की व्यवस्था अवश्य की जानी चाहिए। मानवीय आत्मा की पुकार है कि नई जमीन पर जो नया जमाना उतर रहा है, उसमें, केवल कविता में ही नहीं, बल्कि, विचार और आत्मा में भी तर्क और आलोचनात्मक बुद्धि के अत्याचार में कमी की जानी चाहिए। इस अत्याचार को हटाये बिना हम जीवन की शक्ति और जिन्दगी की वफादारी के पास फिर से लौट नहीं सकेंगे।

'विजन' अथवा अदृश्य को देखने की क्षमता कवि की मुख्य शक्ति है। प्राचीन काल में कवि का अर्थ ही द्रष्टा एवं सत्य को प्रत्यक्ष करके दिखलानेवाला समझा जाता था। कवि हमारे भीतर एक आन्तरिक लोचन का उद्घाटन करता है। किन्तु, इसके लिये यह आवश्यक है कि उसकी अपनी आंतरिक दृष्टि भली-भाँति पुष्ट और विशाल हो। बड़े-से-बड़े कवियों में पारस्परिक भेद चाहे जो भी रहे हों, किंतु, एक बात में वे सब समान थे कि उनमें से प्रत्येक में किसी-न-किसी मात्रा में सहज ज्ञान (Intuition) के बल पर उस दृश्य को देखने की क्षमता विद्यमान थी जो न तो चर्मचक्षुओं से देखा जा सकता है और न जिसकी तर्क की भाषा में व्याख्या ही की जा सकती है। किंतु, आज के युग में काव्य में विचार-

शीलता का मूल्य अत्यधिक वृद्धि पर है। हम जिस युग में जी रहे हैं वह बौद्धिकता से पीड़ित युग है। उसकी प्रजाएँ जीवन और विश्व को लेकर अनेक विचारों में उलझी हुई हैं और यह भी सच है कि इस उलझन से मनुष्य जो संघर्ष कर रहा है, उसके परिणामस्वरूप उसकी बुद्धि का भाण्डार दिनोंदिन विशाल होता जा रहा है। यह इस बौद्धिकता का ही प्रभाव है कि हम अपने कवियों से भी यही अपेक्षा रखने लगे हैं कि उनके पास हमारी जिज्ञासा-पीड़ित बुद्धि के लिये कोई संदेश है या नहीं। यही कारण है कि आलोचनाओं में "कवि का दर्शन" जैसी चर्चा दिन-प्रति-दिन बढ़ती जा रही है। यह ठीक है कि एक अर्थ में कवि भी द्रष्टा और दार्शनिक होता है। किंतु, यह आवश्यक नहीं कि उसका दर्शन बौद्धिक हो अथवा उसके पास मानवता के लिये कोई बुद्धिगम्य संदेश हो।

संदेश या उपदेश देने की प्रवृत्ति संसार में नई नहीं है। और पिछले युगों में तो सत्काव्य एवं उपदेशवृत्ति के बीच का भेद लोगों पर भलीभाँति प्रकट भी नहीं हुआ था। परिणाम यह हुआ कि अत्यन्त शक्तिशाली कवियों ने भी कभी-कभी दर्शन की सरणी को संगीत में बाँधना शुरू किया; यही नहीं, बल्कि, हेसोड और वर्जिल जैसे महाकवियों ने भी कृषि के नियमों को पद्यों में लिखने में कोई हिचकिचाहट नहीं दिखलायी। लेकिन, इसका जो नतीजा निकला वह बाद की पीढ़ियों के लिये एक चेतावनी है। शायद, भारत ही एक ऐसा देश है, जहाँ ऐसे प्रयास, गीता और उपनिषत् के रूप में एक-दो बार सफल हो सके। किंतु इसे तो हम एक प्रकार के घुणाक्षर न्याय का ही परिणाम कहेंगे, अन्यथा विचारों और उपदेशों के लिये कविता का उपयोग करना एक भयंकर प्रयोग है। उपदेश की प्रवृत्ति बाद के साहित्य में भी बढ़ी है और आज भी वह न्यून नहीं हो पायी है। सच पूछिये तो आर्नाल्ड ने कविता को जो जीवन की व्याख्या कहा, श्री अरविन्द के अनुसार, कविता की उससे अधिक भयानक परिभाषा हो ही नहीं सकती। काव्य में बौद्धिक पीड़ा के और भी कितने ही लक्षण वर्त्तमान हैं, जिन्हें हमलोग भलीभांति देख रहे हैं। इसलिये, इस बात पर बार-बार जोर देना आवश्यक है कि कविता की अपनी शक्ति का निवास उसकी अदृश्य को दृश्य बनानेवाली क्षमता में है, बुद्धि

के कौशल अथवा प्राचुर्य में नहीं। कविता की खैरियत इसी में है कि वह विजन (Vision) पर अड़ी रहे। कविता के भाव, आवेग और विचार तथा उसके चित्रण और निर्माण की समस्त प्रक्रिया को कल्पना के भीतर से उठना चाहिये अथवा यदि उसका आरम्भ बाहर होता हो तब भी उसकी परिणति कल्पना में ही की जानी चाहिये। कवि को बहुत से उपदेश दिये जाते हैं और इन उपदेशों से, अक्सर, उसकी उलझन ही बढ़ती है। किंतु, तब भी एक बात है जिससे कवि को कभी भी विचलित नहीं होना है और वह यह कि उसे इसका व्रत ले लेना चाहिए कि वह उन शब्दों के परे पहुँचेगा, जो उसकी कविता में आते हैं। वह उन चित्रों का अतिक्रमण करेगा, जो उसकी उक्ति को सजीव बनाते हैं। वस्तु के जिस रूप की झाँकी वह अपनी कविता में अंकित करता है, वह रूप कवि के लिये सीमा या बंधन का निर्माण नहीं करे, प्रत्युत् कवि को अपनी दृष्टि बराबर उस रूप के परे रखनी चाहिए।

किन्तु, जीवन का हर एक पहलू युग के अनुसार बदला करता है तथा ऊपर जिस 'विजन' या कल्पना की चर्चा की गई है वह भी युग के अनुरूप ही रूप ग्रहण करता है। आदियुगीन मानव की दृष्टि आधिभौतिक दृश्यों पर थी, उसकी दिलचस्पी उसी दुनिया से थी जो उसके आस-पास फैली हुई थी एवं जीवन की जो स्पष्ट कथा थी; मनुष्यों में जो प्राथमिक आवेग और विचार थे, उन्हीं में उसे रस भी मिलता था। बाद को चलकर, वह अपनी भावनाओं को बौद्धिक रूप देने लगा, किन्तु उसके विषयों का स्तर वही रहा, जो पहले था। गोचर-मन के भीतर से कल्पना को अपील करनेवाली सबल कविता और बुद्धि के समीप जीवन की व्याख्या करनेवाले अनेक सुन्दर काव्य इन्हीं युगों की रचनाएँ हैं। इससे ऊँचा स्तर तब आता है, जब मनुष्य जीवन के पीछे काम करनेवाली प्रच्छन्न शक्तियों का परिचय कुछ अधिक सामीप्य के साथ पाने लगता है। सभी मनुष्यों की तरह कवि का चर्मचक्षु भी इन रहस्यों को देख नहीं पाता। किंतु, सहजज्ञान के सहारे वह उनका जिस रूप में अनुभव करता है, उसे संकेत की भाषा में वह इस ढङ्ग से व्यक्त करता है, मानों, यह दृश्यजगत् किसी बड़े विश्व का खण्ड हो, मानों,

हम छोटे-छोटे मनुष्य किसी महान् वास्तविकता के अंश हों। इससे भी कहीं ऊँचा स्तर वह है जहाँ वस्तुओं के भीतर छिपी हुई रूह मनुष्य के पास चली आती है तथा इस दृश्यजगत् के परे वाला विश्व उसकी आँखों के सामने निरावृत होने लगता है। किन्तु, कविता के भीतर बसनेवाली सारी शक्तियाँ तो उस दिन उन्मुक्त होंगी जब समग्र आध्यात्मिक जगत् ही कवि के अधिकार में होगा और वह उस युग और जाति का प्रतिनिधि होकर गायेगा, जो युग विराट के रहस्योद्‌घाटन के किनारे पर खड़ा होगा।

शब्द और लय में आवेश की तीव्रता भरने से ही कवि के कर्त्तव्य की इतिश्री नहीं हो जाती, उनमें उसे अपनी कल्पना की सजीवता और सघनता को भी स्थान देना चाहिए। किंतु, इसके लिए यही काफी नहीं है कि कोई कवि असाधारण रूप से दिव्य दृष्टिवाला हो, प्रत्युत् काव्य की इस सफलता का जिम्मा युग और जाति के मानसिक विकास पर भी है। इस कोटि की कविता उसी परिमाण अथवा अनुपात में लिखी जायगी, जिस अनुपात में समाज के विचार और अनुभूति का विकास होगा; जिस अनुपात में समाज में संकेतों और प्रतीकों की संख्या एवं अर्थगर्भता की वृद्धि होगी तथा जिस अनुपात में समाज के हृदय में आध्यात्मिक अनुभूतियों की पूँजी एकत्र होगी। केवल सामाजिक ही नहीं, आध्यात्मिक कवि भी अपने ही समय की उपज होता है।

जीवन जिस अविश्लिष्ट लय की लपेट में चल रहा है, कविता उसी लय की श्रव्य स्वर-लहरी है; वह जीवन के भीतर प्रच्छन्न संगीत का बाहरी नाद है; किन्तु, सदैव स्मरण रखना चाहिए कि यह नाद जीवन के अन्तराल से आता है, उसकी ऊपरी सतह से नहीं। कवि जब अपने आपके अत्यन्त समीप होता है, तब निश्चित रूप से वह दृश्य को छोड़कर अदृश्य में उतर जाता है और यहीं से वह जो कुछ बोलता है, वह सार्वभौम सत्य का गुञ्जार बन जाता है। मनुष्य-जाति अपनी यात्रा सदैव सतह पर शुरू करती है और वह बराबर वस्तुओं की तह को अपना निशान बनाये उनके भीतर धँसती जाती है और इसी क्रम से मनुष्यता आध्यात्मिक जीवन की ऊँचाई की ओर बढ़ती रहती है।

अरविन्द के मतानुसार कविता से वस्तुवाद अथवा जीवन के स्पष्ट और सीधे चित्रण की माँग करना अत्यन्त अनुचित कार्य है। वे कविता को इस योग्य नहीं मानते। उनका विश्वास है कि मानव-मस्तिष्क की कोई भी बड़ी शक्ति इस कार्य को सम्पन्न करके अपने आपसे प्रसन्न नहीं हो सकती। विशेषतः, आगामी युग की कविता तो वस्तुओं के बाह्याकार तक रुकनेवाली ही नहीं है; और वह इसलिए कि बाहर जो कुछ दीखता है, वही जीवन की सम्पूर्णता का प्रतिमान नहीं है। यह सच है कि प्राचीन काव्य में भी वस्तु के भीतर निहित अज्ञात रहस्यों की व्याख्या की गई है, किन्तु, इस व्याख्या के साधन, प्रधानतः कथा-कहानी और कृत्रिम प्रतीक रहे हैं। किन्तु, अब दिव्य सत्यों की बड़ी से बड़ी गहराइयाँ भी मानव-मन के सामने निरावृत होनेवाली हैं। अतएव, कविता में कथा-कहानी के प्रतीकों का महत्त्व दिनोंदिन कम होता जायगा और जिस विश्व के सम्बन्ध में पहले संकेत किये जाते थे, उसका अब आँखों देखा वर्णन काव्य में उपस्थित करना होगा। महर्षि कहते हैं कि सभी जीवन, असल में, एक है और एक नया मानव-मन इस एकता की अनुभूति के लिए आगे बढ़ रहा है। हमारे वैयक्तिक अस्तित्व, सारी प्रकृति, समग्र सृष्टि और स्वयं परमात्मा के बीच जो एकत्व का सूत्र परिव्याप्त है, उस सूत्र की अनुभूति ही अगले युग की वास्तविक अनुभूति होगी और जो कविता इस एकत्व को ध्वनित करेगी वह हमारे पार्थिव जीवन की वास्तविकता को न्यून करने के बदले उसे कुछ और प्रखर ही बनायेगी। उस कविता के द्वारा आनन्द और भी समृद्ध होगा, जीवन की व्यापकता और भी वृद्धि और प्रसार पायेगी तथा मनुष्य का व्यक्तित्व और भी प्राणपूर्ण एवं गतिमान हो जायगा।

The future poetry will be the voice and rhythmic utterance of our greater, our total, our infinite existence and will give us the strong and infinite sense, the spiritual and vital joy, the exalting power of a greater breath of life.

कविता को श्री अरविन्द मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया मानते हैं तथा उनका विचार

है कि काव्य के विकास अथवा उसकी प्रगति का मूल्य आँकने में यह जिज्ञासा प्रधान नहीं है कि उसकी टेकनिक किस रूप में बदल रही है, बल्कि, यह कि उसके भीतर किस धरातल की चेतना अपना विम्ब फेंक रही है। मनुष्य का मानसिक धरातल, उसके मन की दिशा, उसकी आत्मा की जागर्ति, ये ही चीजें प्रधान हैं; क्योंकि इन्हीं की अभिव्यक्ति के लिए भाषा, छन्द और शैलियाँ अभिनव रूप धारण करती हैं। इसलिए, यह आवश्यक है कि कविता मानवात्मा के उत्तरोत्तर होनेवाले विकास का साथ दे और चित्रण की सामग्रियों के मोह में पड़कर वह आत्मा की सहज अभिव्यक्ति के मार्ग में कोई रुकावट नहीं डाले।

श्री अरविन्द मानते हैं कि भावी कविता कल्पना और पाण्डित्य से नहीं, प्रत्युत्, सीधे सुसंस्कृत कवि की आत्मा से जन्म लेगी। ह्विटमैन, कारपेंटर, ए० ई० और रवीन्द्र की कविताओं में अभिव्यक्ति की जो वेदना है, वह इसी आगामी कविता की जन्म-पीड़ा की सूचना देती है*। कविता की प्रगति का इतिहास, वस्तुतः, मनुष्य के सांस्कृतिक मानस के विकास का इतिहास है। बहुत नीचे से बढ़ता-चढ़ता मनुष्य का यह मस्तिष्क अब बौद्धिक स्तर तक पहुँच गया है। प्रश्न यह है कि इस प्रगति के क्रम में मानव-मन और आगे बढ़ेगा अथवा वह मनोविज्ञान की किसी अदृष्ट झुरमुट की ओर भटककर कहीं खो जायगा। श्री अरविन्द के मतानुसार मनुष्य का अगला कदम आध्यात्मिकता की ओर होना चाहिए; क्योंकि बुद्धि के ठीक आगे वाला स्तर अतिमानस और आध्यात्मिकता का ही स्तर है। जिस धार्मिक युग को हम पीछे छोड़ आये हैं, उसे श्री अरविन्द निचले स्तर की चीज मानते हैं और उनका कहना है कि वह धार्मिकता आगामी आध्यात्मिकता का पर्याय नहीं होगी। असल में, वह धार्मिकता बौद्धिक जिज्ञासाओं और अनुसन्धानों के नीचे ध्वस्त हो चुकी है।

---

* श्री अरविन्द ने इलियट और एजरा पौण्ड की रचनाओं का विश्लेषण नहीं किया है तथा आलोचना के सिलसिले में वे उन कवियों का उल्लेख अधिक करते रहे हैं जो रोमांटिक मनोदशा से पीड़ित थे। श्री अरविन्द की अपनी रचनाओं में भी रोमांटिक भावुकता का दोष बहुत है।

आगे की आध्यात्मिकता उसकी अपेक्षा सर्वथा भिन्न, नवीन और सूक्ष्म वस्तु होगी ; प्रायः, वह उस बौद्धिकता से ही नवनीत के रूप में निकलेगी, जिसके प्रकाश में मानवता अब तक चलती रही है तथा जिसके भार के नीचे वह अब कुछ छटपटाने भी लगी है। अगर मनुष्य ने अपने सामने के आध्यात्मिक लक्ष्य को स्वीकार नहीं किया तो वह बौद्धिकता के चरखे से निकलनेवाले सूत के आवर्त्तों में पड़कर रह जायगा ; क्योंकि इस सूत्र का अब कोई और अगला छोर नहीं है। अथवा यह भी हो सकता है कि सभ्यता पीछे की ओर खिसककर बुद्धि के उस गर्त में गिर जाय, जिसे हम बौद्धिक बर्बरता की खाई कह सकते हैं।

बौद्धिकता के स्तर से निकलकर आध्यात्मिकता के शिखर तक पहुँचने में कविता मनुष्य की असीम सहायता कर सकती है, श्री अरविन्द का यह विश्वास उनके सभी निबन्धों से सहज ही फूटा पड़ता है। किन्तु, इस कविता को अत्यन्त सूक्ष्म और वेधक रूप लेना पड़ेगा। वह बहुत कुछ मंत्रों के समान सुगठित और ज्योतिपूर्ण होगी। उन्होंने एक स्थान पर यह कहा भी है कि काव्यात्मक विचार और अभिव्यक्ति के सर्वोच्च एवं सर्वाधिक सघन (Intense) माध्यम मंत्र ही हैं। मंत्रों की रचना वह करता है जिसके देखने का अर्थ प्रच्छन्न भेदों का देखना, जिसके सोचने का तात्पर्य अदृश्य और अगोचर का साक्षात्कार एवं जिसकी अनुभूति का अभिप्राय आत्मा, परमात्मा, मनुष्य, प्रकृति, विचार, अनुभूति और कार्य के बीच एकत्व की अनुभूति होती है। देखने और सुनने में भेद नहीं है ; सार्वभौम सत्य की अनुभूति में एक इन्द्रिय जाग्रत और अन्य इन्द्रियाँ सुप्त नहीं रहतीं। सार्वभौम सत्य की अनुभूति एक साथ सभी इन्द्रियों से की जाती है। कानों के लिये जो लय है, आँखों के लिये वही रूप बन जाता है। इसीलिए, मन्त्रों के द्वारा हमारा मन जिस रूप का दर्शन करता है, वही रूप संगीत बनकर हमारी सम्पूर्ण आत्मा में व्याप्त हो जाता है। किन्तु, कविता मन्त्र-पद को तभी प्राप्त करती है, जब वह अत्यन्त निगूढ़ सत्य के अन्तराल से प्रकट होती है और उस सत्य के भीतर संगीतमयता की जो अपार शक्ति है, उससे भलीभांति संवलित होती है।

श्री अरविन्द की दृष्टि में भावी कविता का अत्यन्त परिष्कृत रूप मंत्र ही होगा। किन्तु, वे यह नहीं मानते कि इस प्रकार की कविता दूर से आनेवाली अस्फुट तान के समान अस्पष्ट अथवा नीचे से बहुत ऊँचाई पर दीखनेवाली ज्योति के समान धूमिल होगी। इसके विपरीत, उनका कहना है कि यह कविता दूरस्थ को भी समीप लाकर दिखलायेगी, अतीत में जो कुछ कहा जा चुका है, उसे भी अपूर्व सौन्दर्य और चमत्कार से कहेगी तथा क्षणिक और शाश्वत का भेद नहीं मानकर वह सभी प्रकार के विषयों को एक नई विभा में नहलाकर मनुष्य के जीवन को समृद्ध करेगी। उड़कर वह बहुत ऊँचा भी जायगी। किन्तु, मिट्टी का वह तनिक भी अनादर नहीं करेगी। वह पृथ्वी को अपना वास-स्थान मानते हुए भी उन अनेक अन्य वास्तविकताओं को भी अपना विषय बनायेगी जो मनुष्य के जीवन और व्यक्तित्व पर प्रभाव डालनेवाली हैं। संक्षेप में, सान्त और अनन्त, विश्व के दोनों ही रूप उसके साम्राज्य के अन्तर्गत होंगे।

काव्य-कृतियाँ

सामान्य मानसिक स्तर से मनुष्य का अतिमानस की भूमि पर संभावित प्रवेश श्री अरविन्द के दर्शन का निचोड़ मालूम होता है और इसी के अनुरूप वे भावी कविता की भी अतिमानस के क्षरण के रूप में ही कल्पना करते हैं। संभवतः, अपनी साधनाओं के द्वारा वे उस धरातल पर पहुँचकर विराजमान हो चुके थे जो मानव-जाति का अगला निर्दिष्ट स्थान है और उस स्तर से उन्होंने काव्य की जो किरणें फेंकी हैं, वे सचमुच ही, अद्भुत और महान हैं तथा यद्यपि उस काव्य का सम्पूर्ण अर्थ सब पर नहीं खुलता, तथापि उनमें अभिव्यक्ति के लिए जो बेचैनी और उनके कथन की भंगी में जो चमत्कार है, वही उस बात का प्रमाण बन जाता है कि श्री अरविन्द किसी ऐसी अनुभूति को रूप देना चाहते हैं जो अब तक अछूती और अव्यक्त रही है।

श्री अरविन्द की कविताएँ उस अर्थ में धार्मिक नहीं हैं जिस अर्थ में हम

धार्मिक कविताओं को पहचानने के आदी रहे हैं। ये कविताएँ दार्शनिक भी नहीं कही जा सकतीं; क्योंकि श्री अरविन्द भी अन्य कितने ही सुधी आलोचकों के समान दर्शन को काव्य का पर्याय नहीं मानते। वे सामान्य अर्थ में, बौद्धिक भी नहीं हैं; क्योंकि उनके भीतर ऐसे अनेक सम्बन्धों की ओर निर्देश है जिन्हें सामान्य बुद्धि ग्रहण नहीं कर सकती। और सब से विस्मय की बात तो यह है कि इन कविताओं को हम रहस्यवाद की कोटि में भी नहीं रख सकते; क्योंकि रहस्यवादी कवियों में मस्ती, अक्खड़पन और सांकेतिकता चाहे जितनी भी मिले, उनकी वाणी किसी अधूरी अनुभूति का उद्घोष मालूम होती है। उनकी कविताओं को पढ़कर मन पर कुछ ऐसा प्रभाव पड़ता है, जैसे वे जो कुछ देखते हैं, उसे भलीभाँति समझ नहीं पाते; जैसे उनके विज़न (Vision) की झाँकी खुद उनके लिए भी धुँधली रह गई हो; जैसे वे जो कुछ कहना चाहते हैं, उसके उपयुक्त भाषा का उनके पास अभाव हो। इसके विपरीत, श्री अरविन्द की वाणी के पीछे विश्वास की प्रबलता के दर्शन होते हैं। अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियों का चित्र उपस्थित करने का उनका ढंग सर्वथा विलक्षण और नवीन है। इन अनुभूतियों के ऊपर मानवीय संकेतों, प्रतीकों और रूपकों का परिधान नहीं है। वे दैनिक जीवन के चित्रों और अलंकरणों से काम नहीं लेते। ऐसा मालूम होता है, मानों, वे अपनी निगूढ़ अनुभूतियों को बिलकुल नग्न रूप में ही उपस्थित कर रहे हों। सत्य में जो एक प्रकार की रुखाई और तिग्मता होती है, उसे वे कम करने की कोशिश नहीं करते; आदमी साहित्य में आकर जिस मिठास के लिए जीभ फैलाने का आदी हो गया है, उस मिठास का एक कण भी श्री अरविन्द की उक्ति में नहीं मिलता। वे पाठकों को प्रसन्न करने की इच्छा से, उनके दिलों को गुदगुदाकर जगाने के अभिप्राय से अथवा रंगीनी दिखाकर उन्हें अपनी ओर आमंत्रित करने के विचार से अपनी कविताओं में कभी भी किसी प्रकार के मिश्रण (adulteration) को स्थान नहीं देते। अनुभूति वे वही लिखते हैं जो सोलह आने उनकी अपनी है और उनकी शैली को भी केवल इसी का ध्यान है कि जो कुछ वह लिखना चाहती है, वह ठीक-ठीक लिखा जा रहा है या नहीं।

उनके विचार अत्यन्त सुघर, उनकी भावना पूरी तरह तराश खायी हुई और उनकी शैली शक्ति और प्रकाश से पूर्ण होती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि "भावी कविता" नामक निबन्ध में उन्होंने कवि-कर्म की जाँच जिस धरातल पर की है, उस धरातल पर उनकी कविता बहुत दूरतक खरी उतरती है।

यह कविता का सौभाग्य है कि श्री अरविन्द ने उसे अपनी अनुभूतियों का वाहन चुना और चूँकि मानव के अगले विकास की प्रक्रिया को तेज करने में उन्होंने काव्य की सत्ता को स्वीकार किया है, इसलिए, आशा की जानी चाहिए कि अगले युग में कविता एक बार फिर मानवात्मा की सब से अधिक शक्तिशालिनी अभिव्यक्ति के रूप में प्रतिष्ठित होगी। किन्तु, क्या श्री अरविन्द उसी अर्थ में कवि हैं जिस अर्थ में संसार के कोने-कोने में कवि रोज ही पैदा होते और रोज ही मरते रहते हैं? ऐसा मान लेना तो सभी मनुष्यों को ठीक उसी अर्थ में मनुष्य मान लेना है, जिस अर्थ में गाँधीजी अथवा श्री अरविन्द भी मनुष्य थे। श्री अरविन्द के काव्य और काव्य-सम्बन्धी निबन्धों से कवि का जो रूप प्रकट होता है, वैसा कवि आज कहाँ है और संपूर्ण विश्व के सारे इतिहास में कितने ऐसे कवि हुए हैं, जो श्री अरविन्द के मापदंड पर खरे उतर सकते हैं? कल्पना और उपकल्पना के सहारे, स्मृति के कोष में से फूलों और कलियों, तरुणों और तरुणियों, खद्योतों और सितारों तथा इन्द्रधनुष और बादलों को चुन-चुनकर कविता के घेरे को सौन्दर्य से खचाखच भरकर बहुत से लोग कवि कहला गये; मगर, यह तो बाजार से दो-चार हीरे, मोती और ज्यादातर रंगबिरंगे काँच के टुकड़े खरीदकर शीशमहल तैयार करने के समान है। और क्या इस महल में जीवन का वह देवता वास करेगा, जिसे बसाने के लिए साधना का सारा प्रयास है? संसार में ऐसे कवि कम हुए हैं, जिन्हें अपनी अनुभूति की सचाई पर पूरा विश्वास था और जो संसार को अमिश्रित रूप में केवल अपनी अनुभूति ही देना चाहते थे। अधिक तो ऐसे ही हुए हैं, जिनमें अनुभूति कम, रंगों का मोह और गाने की फिक्र अधिक थी; जो अपनी प्रज्वलित अनुभूति से छूकर दूसरों के हृदय को दीप्त करने से अधिक सुननेवालों

को प्रसन्न करने के लिए ही आतुर थे। जो कवि हमें अपनी तस्वीरों की रंगीनी दिखाकर तथा अपनी मीठी तान सुनाकर हम से वाहवाही लेने आता है, वह भला यह कैसे समझ पायेगा कि कवि का कर्म कविता दिखाना नहीं, प्रत्युत् कविता के भीतर से कुछ और दिखाना होता है ?

नारियों के कुन्तल-जाल और उनकी आँखों की मदिरा की अपेक्षा मनुष्य की सामाजिक मुक्ति की समस्या कहीं श्रेष्ठ और महान् विषय है ; किन्तु, सब से महान् विषय तो, शायद, यही हो सकता है कि हम कौन हैं ? कहाँ से आये हैं ? जन्म के पूर्व हम कहाँ थे और मृत्यु के पश्चात् हम कहाँ जायँगे ? तथा यह नाना नामरूपमय विश्व कहाँ से उछलकर हमारे सामने आ गया है ? किन्तु, सदियों से मनुष्य को सरसता और माधुर्य के सेवन की बान पड़ गई है। पीढ़ी के बाद पीढ़ी के कवियों और आलोचकों ने मनुष्य को यही शिक्षा दी है कि कविता नर-नारी के सामान्य प्रेम में है, कविता कामना की ज्वाला और वेदना के अश्रु में वास करती है तथा कविता के मानी फूल और चाँदनी हैं।

Poetry has been treated as the expression of human joys and sorrows—the tears of mortal things of which Virgil spoke. The savour of Earth, the thrill of the flesh has been too sweet for us and we have forgotten other sweetnesses. —N. K. Gupta

फूल और चाँदनी, नर और नारी, कामना और वेदना, कविता में इनमें से किसी के भी आगमन का निषेध नहीं है। किन्तु, इंसानियत के निचले तबके की सनसनाहट और सतह पर के बुलबुलों से खेलनेवाला कवि अगले युग में नहीं ठहरेगा। यह तो बौद्धिकता से भी निचले स्तर की क्रीड़ा है। श्री अरविन्द के मतानुसार तो अतिमानस की भूमि पर पहुँचकर दिव्यता का गान गानेवाला कवि ही अगले युग का प्रतिनिधि होगा।

'उत्तरा' की भूमिका में पं० सुमित्रानन्दन पन्त ने संसार के अन्य चिन्तकों और दार्शनिकों को ऊँट तथा श्री अरविन्द को पहाड़ कहा है। इस उक्ति से साधारणतया लोग घबराते हैं और उन्हें यह भ्रम सताने लगता है कि हो न हो,

यह संपूर्ण सत्य नहीं, प्रत्युत्, वैयक्तिक श्रद्धा की अभिव्यक्ति है। किन्तु, एक बार श्री अरविन्द के साहित्य-शिखर के पास पहुँचने पर बड़े-बड़े दिग्गजों का धीरज डोलने लगता है और ज्यों-ज्यों वे अरविन्द-साहित्य के ऊपर चढ़ने का प्रयास करते हैं, त्यों-त्यों उन्हें यह आप ही आप विदित होने लगता है कि अरविन्द, सचमुच, पहाड़ हैं—एक ऐसा ऊँचा पहाड़ जिस पर स्वर्ग से उतरनेवाली किरण सब से पहले आती है तथा जिसकी गुफाओं एवं दरारों में जीवन के अनेकानेक भेद छिपे हुए हैं। और, जैसा कि श्री सेठना ने कहा है, इस पर्वत की सबसे बड़ी चोटी कविता की ही चोटी है। श्री अरविन्द जन्मजात कवि थे तथा अपनी जवानी के दिनों में भी उन्होंने जो कविताएँ लिखीं, वे परम्परा से सर्वथा भिन्न और किसी नवीन सन्देश की आभा से आभासित थीं। एक मान्यता रही है कि मनुष्य कविता के माध्यम से अपना विकास कर सकता है, किन्तु, कविता को अरविन्द ने अपने विकास नहीं, प्रत्युत्, आध्यात्मिक अनुभूतियों के दान का माध्यम बनाया। शायद, इकबाल ने कहा था कि कविता जीवन तक पहुँचने का सबसे सीधा और कम दूरीवाला मार्ग है; मगर, अरविन्द जीवन तक कदाचित्, योग के द्वारा पहुँचे। फिर भी, अन्य असंख्य मानवों को जीवन तक पहुँचाने के लिये वे कविता का अधिक-से-अधिक आश्रय लेते गये। सर्वव्यापी सत्य का उद्गार सूर्यमण्डल से आने पर भी धुँधला होता है; जीवन के भीतर जो सब से बड़ी शक्तियाँ प्रच्छन्न हैं, वे संकेतों की भाषा में अभिव्यक्त होती हैं। यह सब के अनुभव की बात है कि जिस उद्गार से हमारे प्राणों में आलोक का ज्वार-सा उठने लगता है, उसमें स्वयं एक प्रकार की धूमिलता होती है। इसीलिये, ऐसी अभिव्यक्तियों का सहज माध्यम कविता ही हो सकती है और जिस कवि में योग की जितनी ही सघन मुद्रा का विकास होता है, उसकी वाणी उतनी ही अधिक धूमिल और धूमिल होते हुए भी आत्मा में उतना ही अधिक प्राणवान आलोड़न मचानेवाली होती है।

श्री अरविन्द को कविता, कदाचित्, पारिवारिक विरासत के रूप में मिली थी, क्योंकि उनके भाई श्री मनमोहन घोष भी अच्छे कवि थे। और, दोनों भाइयों

पर यूनान के आचार्य कवियों का पूरा प्रभाव था। यूनानी काव्य का प्रभाव तो श्री अरविन्द की कविता पर इतना अधिक पड़ा है कि कितने ही आलोचकों का विचार है कि कारीगरी और मनोदशा की दृढ़ता में वे बड़े-से-बड़े यूनानी कवियों की पंक्ति में रखे जा सकते हैं। उनकी कविताओं में आनेवाले चित्रों में जो संगतराशी मिलती है, वह, प्रायः, यूनानी संगतराशों की कला का ही पर्याय है। ढाँचे की खूबसूरती, समृद्धि की प्रचुरता में, कल्पना जहाँ क्षणभर विलास करने की ओर प्रेरित हो वहाँ भी तटस्थता एवं संयम का भाव तथा अलंकरण और रीति का सहारा लेकर काव्य में कृत्रिम सजावट लाने की प्रवृत्ति का सर्वथा अभाव, ये श्री अरविन्द की कविता के कुछ विशिष्ट गुण हैं। भारतीय-साहित्य का भी वही भाग उन पर प्रभाव डाल सका है, जो रीतिवाद के आरम्भ के पूर्व रचा गया था। यों गीता और उपनिषदों में काव्य की जो गम्भीरता मिलती है, वह श्री अरविन्द की अपनी विशेषता है। किन्तु, इससे यह नहीं समझना चाहिये कि श्री अरविन्द मृतकों के साथी एवं अतीत की गुहा में बैठे हुए पण्डित कलाकार हैं। असल में, गुजरे हुए जमाने के साथ मानवता की जो दृष्टि विलुप्त हो गयी है, उसे श्री अरविन्द ने आज के जीवन और विचारों के साथ एकाकार कर दिया है और वे जो कुछ भी बोलते हैं, उसमें विचारों, भावनाओं एवं कल्पनाओं की वे सभी अच्छाइयाँ प्रतिध्वनित होती हैं जो अतीत या वर्त्तमान में काव्य और साहित्य का शृंगार कर चुकी हैं। ऐसा कहने का कारण यह है कि जिस प्रकार की कविता श्री अरविन्द ने की है, उसकी परम्परा का विश्व में सर्वथा अभाव नहीं रहा है। किन्तु, बात यह है कि श्री अरविन्द का कवि जिस धरातल पर बसता है, उस धरातल की झाँकी पहले के कवियों को कभी-कभी ही मिलती थी और इसी झाँकी की अनुभूति उनकी कविताओं में सर्वोच्च शिखर बनकर चमकने लगती थी। मगर, जो चीज इतनी अलभ्य थी, उसका सम्पूर्ण भाण्डार ही श्री अरविन्द ने मनुष्यता को उठाकर दे दिया है और यह दान, यद्यपि, पाण्डिचेरी की साधना के दिनों में पूर्णता पर पहुँचा, किन्तु, उसकी दिशा का संकेत उनकी आरम्भिक कविताओं में भी मिलने लगा था।

अरविन्द-काव्य को एक आलोचिका ने छः भागों में विभक्त किया है, जिसका आधार, गुण नहीं, प्रत्युक्त काल है। कवि की प्रगति को आँकने का यह भी एक मार्ग है, किन्तु, इसे हम सच्चा मार्ग नहीं मानते; क्योंकि जिस प्रकार सम्पूर्ण विश्व की कविता एक ही काव्य है तथा भिन्न-भिन्न युगों में, भिन्न-भिन्न कवियों के द्वारा विरचित सारी कविताएँ उसी एक महाकाव्य के अनेक सर्ग और कड़ियाँ हैं, उसी प्रकार, प्रत्येक कवि भी जीवनभर में केवल एक ही कविता लिखता है एवं उसकी सारी कविताएँ उसी एक काव्य की विभिन्न कड़ियाँ होती हैं। जीवनभर की सारी अनुभूतियों को अगर हम एक तार में गूँथना चाहें, तो इसमें कोई कठिनाई नहीं होगी। फर्क सिर्फ यह होगा कि अनुभूतियाँ नीचे-ऊपर गूँथी जायँगी, अर्थात् उनके स्तरों में भेद होगा। और, यह भी नहीं कहा जा सकता कि कविता केवल एक ही स्तर पर पहुँचकर पूर्ण होती है : असल में, अनुभूतियाँ जिस स्तर पर जन्म लेती हैं, उनकी अभिव्यक्ति उस स्तर पर भी उतनी ही पूर्ण हो सकती है, जितनी किसी अन्य स्तर पर। काव्य की उच्चता की पहचान उसमें प्रतिफलित होनेवाली चेतना की ऊँचाई पर निर्भर करती है। किन्तु, अभिव्यक्ति की पूर्णता का दारोमदार कारीगरी की खूबी पर है। यह ठीक है कि ऊँची चेतना को अभिव्यक्त करने के लिये कारीगरी को भी ऊँचा जाना पड़ता है और जहाँ चेतना के अनुरूप टेकनिक का विकास नहीं हो पाता, वहाँ हमें काव्य में विशृङ्खलता और असमानता के दर्शन होते हैं। किन्तु, जिसे साधना का बल है, जो टेकनिक की कमजोरी को अटल मानकर बैठ नहीं जाता, उस कवि की रचनाओं में इस वैषम्य की कोई भी सम्भावना नहीं रहती। लेकिन, ऐसी बातें तो श्री अरविन्द के प्रसङ्ग में चलायी भी नहीं जा सकतीं ; क्योंकि उनके दोनों पक्ष समान रूप से बलवान हैं तथा वे जब जिस स्तर पर रहे, वहाँ की अनुभूतियों को उन्होंने बड़ी ही सफलता के साथ अङ्कित किया है तथा जीवन के सामान्य-सम्बन्धों के चित्रण में भी उन्होंने एक अद्भुत दिव्यता भर दी है।

कालक्रम के अनुसार उनका सबसे प्रथम काव्य-संग्रह Songs to Myrtilla है जिसमें संगृहीत कविताओं की रचना उस समय हुई थी जब श्री अरविन्द

अठारह-बीस के रहे होंगे। इन कविताओं के सम्बन्ध में आलोचकों का मत है कि वे अतिबौद्धिकता के रोग से पीड़ित हैं और उनके भीतर हम उस अभिव्यक्ति तक पहुँचने का आभासभर देखते हैं जो आगे चलकर अरविन्द-काव्य की विशेषता बननेवाली थी। इसके सिवा, उनमें हम यदा-कदा स्पेन्सर और एलिजबेथ-युगीन कवियों एवं केवेलियर और रेस्टोरेशन काल के कवियों की भी प्रतिध्वनियाँ सुनते हैं। इस संग्रह में कुछ राजनीतिक कविताएँ भी हैं जिनपर ड्रायडन और स्काट की शैली की छाप है। हाँ, आयर्लैण्ड को लक्ष्य करके रचित कविता में हम उस सूक्ष्म एवं गम्भीर लोच का आभास पाते हैं जो आगे चलकर उनकी "बाजी प्रभु" नाम्नी कविता में चरम विकास पानेवाली थी।

Men are fathers of their fate ;
They dig the prison, they the crown command.

इन पंक्तियों में भी, यद्यपि, अरविन्द की अपनी विशिष्टता खुलकर प्रकट नहीं हुई है, फिर भी हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि इनके भीतर वह शैली अपना जन्म ले रही थी जिसका पूरा चमत्कार हम उनकी बाद की कविताओं में देखते हैं।

इसके बाद, दो विवरणात्मक कविताओं का समय आता है जिनके नाम 'उर्वशी' (Urvasie) तथा "प्रेम और मृत्यु" (Love and Death) हैं। ये दोनों ही रचनाएँ खण्ड काव्य हैं। इनमें से एक का नायक पुरुरवा और नायिका उर्वशी तथा दूसरे का नायक रुरु और नायिका प्रियंवदा है। महाभारत की कथा में कहा गया है कि पुरुरवा और उर्वशी का वियोग इसलिए हुआ चूँकि पुरुरवा ने उर्वशी से उत्पन्न अपने पुत्र का मुख देख लिया था। इस शापजनित कारण के बदले श्री अरविन्द ने एक अधिक काव्यात्मक कल्पना से काम लिया है कि स्वर्ग की विभूति का भोग मनुष्य तभी तक कर सकता है जबतक वह अपनी नग्नता पर आवरण दिये रहे। उर्वशी ने पुरुरवा का त्याग इसलिए किया कि असावधानता के कारण पुरुरवा के निर्वसन अङ्ग पर उसकी दृष्टि पड़ गई थी। दोनों कविताएँ एक प्रकार से दुःखान्त भी हैं; क्योंकि उर्वशी की खोज में पुरुरवा आकाश को

चला जाता है और प्रियंवदा (जो यौवन-प्राप्ति के पूर्व ही मार डाली जाती है) को पाने के लिए रुरु पाताल में प्रवेश करता है। इन कविताओं के सम्बन्ध में बहुधा यह प्रश्न उठाया जाता है कि आशा और उल्लास से पूर्ण एक युवक कवि ने इन्हें दुःख में क्यों समाप्त किया। इस प्रश्न का सहज उत्तर यह है कि जिन दिनों इन कविताओं की रचना हुई, उन दिनों अरविन्द भारतीय राजनीति के ध्यान में मग्न थे और वे, कदाचित्, इस प्रश्न पर चिन्ता कर रहे थे कि इतने बड़े आध्यात्मिक देश का ऐसा भयंकर पतन क्यों हुआ। पुरुरवा के रूप में उन्होंने भारत के क्षात्रधर्म और रुरु के रूप में यहाँ की ब्राह्म शक्ति को रखा है और यह दिखलाने की चेष्टा की है कि भोग और विलास की अतिकामना से दोनों का विनाश हुआ है।

> ......at last
> Their power by excess of beauty falls.
> Thy sin, Pururavas—of beauty and love :
> And this the land divine to impure grasp
> Yeilds of barbarians from the outer shores.

श्री अरविन्द का काव्य-साहित्य काफी विस्तृत है, किन्तु, सामान्य पाठक उनकी सावित्री-काल के पूर्व की रचनाओं में ही विशेष रस लेते हैं। विशेषतः, 'उर्वशी' शृङ्गार रस का विलक्षण काव्य है। इसकी अनेक पंक्तियाँ 'सावित्री' की पंक्तियों से होड़ लेती हैं, किन्तु, बुद्धिगम्य कथाप्रसंग के भीतर रहने के कारण उनका चमत्कार हमारे सामने आसानी से खुल जाता है। "प्रेम और मृत्यु" के चित्र भी, इसी प्रकार, हमें आनन्द के सूत्र में बाँधकर बहुत ऊँचा ले जाते हैं। केवल छन्द की गति ही नहीं, काम-चेतना की दिव्यता ने भी इन दोनों कविताओं में अप्रतिभ चमत्कार उत्पन्न किया है। उदाहरण के लिये 'Love and Death' में से रुरु के प्रति काम की इन उक्तियों को देखिये,

> I am that Madan who informs the stars
> With lustre and on life s wide Canvas fills
> Pictures of light and shades, of joys and tears,

Makes ordinary moments wonderful
And Common speech a charm.

× × ×

And drive her to the one face never seen,
The one breast meant eternally for her.

× × ×

And soft glad things cluster around my name.

× × ×

But fiercer shafts I can, wild storms blown down
Shaking fixed minds and melting marble natures.

× × ×

They who abandon me. shall to all time
Clasp and possess; they who pursue, shall lose.

न जानें, किस पुरुष की कल्पना करते हुए मैंने एक बार चन्द्रमा को "विराग-लोक का रसिक" और "मधुवन का संन्यासी" कहा था। किन्तु, वह रसिक संन्यासी कहाँ है, इसका मुझे तबतक पता नहीं था। और तब, एक दिन 'उर्वशी' और "प्रेम तथा मृत्यु" नामक कविताओं के भीतर मैंने उसकी पदचाप सुनी। अरविन्द सांसारिक सौन्दर्य से पूर्ण रूप से परिचित हैं, किन्तु, उस सौन्दर्य के परे जो एक और भी विलक्षण सौन्दर्य है, अपने हृदय का प्रेम उन्होंने उसी महत्तर सौन्दर्य को अर्पित किया है। कामदेव के नाम में जो मादकता है, वह साधारण कवियों को ही तृप्त कर सकती है। अपनी माधुरी से मोह कर मदन केवल सामान्य जीवों से ही अपने जहरवाले बाण छिपा सकता है। किन्तु, योगी अन्तर्दर्शी होते हैं; उनसे छल-प्रपंच का खेल नहीं चल सकता; उनके सामने कामदेव को लज्जा के साथ स्वीकार करना ही पड़ा कि,

They who abandon me, shall to all time
Clasp and possess ; they who pursue, shall lose.

'उर्वशी' में भी इसी प्रकार की निर्मल मादकता की धारा प्रवाहित हुई है। बल्कि, इस काव्य में प्रेम की विभिन्न मुद्राओं का जैसा सजीव चित्रण हुआ है, उससे तो श्री अरविन्द प्रेम के इतने सफल कवि जान पड़ते हैं कि उन्हें कालिदास

को छोड़कर और किसी के पार्श्व में बिठाया ही नहीं जा सकता। हाँ, प्रेम के आन्तरिक हृदय को वे जिस कोमलता से पकड़ते हैं, स्वप्न की तृषा को वे जिस सजगता से तृप्त करते हैं, प्रेम की चेतना के भीतर वे जिस सूक्ष्मता से प्रवेश करके उसे एक नई विभा से आर्द्र बनाते हैं तथा प्रेमी और प्रेमिका की आँखों में वे जिस दिव्यता का जादू उत्पन्न कर देते हैं, वह सब का सब नवयुग की सुविकसित शृङ्गार-भावना की देन है। जिस समय उर्वशी और पुरुरवा का पहले-पहल साक्षात्कार होता है, उस समय का चित्र ऐन्द्रिय होते हुए भी दिव्य और पार्थिव होते हुए भी अलौकिकता से पूर्ण है तथा उसमें कारीगरी की भी अपूर्व छटा निखरी हुई मिलती है।

He moved, he came towards her. She, a leaf
Before a gust among the nearing trees,
Covwred. But all a sea of mighty joy
Rushing and swallowing up the golden sand
With a great cry and glad, Pururavas
Seized her and caught her to his bosom thrilled
Clinging and shuddering. All her wonderful hair
Loosened and the wind seized and bore it streaming
Over the shoulder of Pururavas
And on his cheek a softness.

और उर्वशी

And she received him in her eyes, as earth
Receives the rain.

× × ×

Her naked arms clasping his neck, her cheek
And golden throat averted, and wide trouble
In her large eyes bewildered with thier bliss.

यह प्रेम की पहली लहर का परंपरागत वर्णन है, किन्तु, परंपरागत होते हुए भी इस वर्णन में एक आर्द्रता है जो केवल चोटी के कलाकारों में ही मिल सकती है। दो शरीरों के आलिंगन में आत्मा के आलिंगन के रूपक की कल्पना बहुत दिनों से की जाती रही है किन्तु, शरीर के मिलन के भीतर आत्मा के मिलन की

झाँकी काव्य में थोड़े ही लोग दिखला सके हैं। श्री अरविन्द अपने युग के निर्धारित और पूर्व-निर्दिष्ट पुरुष थे, अतएव, चढ़ती जवानी में भी उनकी दृष्टि मांस के ताप को पार करके आत्मा की शीतलता तक पहुँच रही थी और वे प्रेम की पार्थिव मुद्रा में भी दिव्यता का प्रसार देख रहे थे।

Amid her wind-blown hair their faces met,
With her sweet limbs all his, feeling her breast
Tumultuous up against his beating heart,
He kissed the glorious mouth of heaven's desire.

तथा

So clung they as two ship-wrecked in a surge.

'उर्वशी' का प्रत्येक चरण प्रेम के आवर्त्तशील एवं सब को प्लावित करनेवाले महानन्द की धारा से परिपूर्ण है। उसमें एक ओर जहाँ रक्त और मांस की पुकार दिव्यता के स्तर पर चढ़कर गूँजती हुई मिलती है, वहाँ दूसरी ओर उसमें ऐसे दृश्य भी अनेक हैं जहाँ प्रेम ईश्वरत्व का प्रतिरूप बन जाता है, जहाँ प्रेम मनुष्य की स्थूलता को बहाकर उसके चारों ओर ईश्वरता की जाली बुन देता है तथा जहाँ प्रेम की अनुभूति की चोट से द्रव्य की कठोरता गलकर सोने का पानी बन जाती है। विरही पुरुरवा जहाँ उर्वशी की खोज करता हुआ हिमालय के शिखरों पर घूम रहा है, वहाँ श्री अरविन्द कहते हैं :—

He ceased and Himalay bent towards him, while.,
The mountains seemed to recognise a soul.
Immense as they, reaching as they to heaven.
And.Capable of Infinite solisude.

यहाँ पुरुरवा की वेदना में स्वयं सर्वात्मा की गूँज सुनायी पड़ती है और अपने उच्च सपनों की भाषा में कवि पर्वतों को भी प्रमुख और चैतन्य किये हुए है। 'उर्वशी' एवं "प्रेम और मृत्यु" में ऐन्द्रियता की आर्द्रता के साथ आदर्शवाद का जो आलोक आलिंगन में लिपटा हुआ है, उसे देखते हुए श्री सेठना की यह उक्ति अत्यन्त समीचीन मालूम होती है कि—

Urvasie and Love and Death are created out of a mind vibrant with an idealistic sensuousness in which body and soul mingle their fervours, a high-toned passion based on the urgent tangibilities of the flesh without the crude and the cramped which ordinarily go with the flesh-impulses.

'उर्वशी' एवं "प्रेम और मृत्यु" के बाद, रचना-क्रम की दृष्टि से 'Poems' का स्थान आता है। इस संग्रह की कविताओं में पूर्ववर्त्ती कविताओं की आवेशमयता नहीं मिलती और न उनमें रक्त और मांस का ही प्रभाती राग है। उनके भीतर हम बौद्धिकता के स्वर को प्रमुख होते देखते हैं और बौद्धिक द्रव्य से युक्त होने के कारण, बहुधा, उनकी तुलना ब्राउनिंग, टेनिसन (अंशतः), वर्ड्स्वर्थ और अंगरेजी के अठारहवीं सदी के कवियों की कविताओं के साथ की गई है। कुछ लोगों का कहना है कि 'Poems' के जमाने में कवि का काव्यावेग शायद शिथिल पड़ गया था किन्तु, यह भी संभव है कि कवि ने जान-बूझकर ही अपना स्तर बदल दिया हो और कविता की सेवा में बुद्धि को जोतने के उद्देश्य से ही वे बौद्धिक स्तर पर चले गये हों। जो भी हो, किन्तु, इस संग्रह में भी हम कवि के उस प्रयास का चमत्कार अवश्य देखते हैं जिसका उद्देश्य मनुष्य को यह बतलाना है कि वह छोटा और तुच्छ नहीं, प्रत्युत्, एक परम विशाल सत्ता का अपना अंश है तथा उसके भीतर आकाश की उच्चता और व्यापकता, दोनों का प्रच्छन्न निवास है।

> But the third Angel came and touched my eyes :
> I saw the morning of the future rise,
> I heard the voices of an age unborn.
> And from the heart of an approaching light.
> One said to man, "know thyself infinite ,
> Who shalt do mightier miracles than these,
> Infinite, moving mid infinities.
>
> [A vision of Science]

'Baji prabhu and Perseus' नामक संग्रह की कविताओं की मूल प्रेरणा राजनीति से आई है। और इन कविताओं में श्री अरविन्द की कवि-प्रतिभा बिलकुल परिपक्व रूप में सामने आती है। 'उर्वशी'-काल की रचनाओं में फिर

भी भावुकता के प्रति एक प्रकार का मोह था जो यौवन का स्वाभाविक लक्षण है : 'उर्वशी' एवं "प्रेम और मृत्यु," इन दोनों कविताओं में हम अलंकरण की पटुता का भी प्रयोग देखते हैं। किन्तु, बाजीप्रभु में काव्य के, अपेक्षाकृत इन हीन, कौशलों का प्रयोग नहीं हुआ है। यह कविता कटु नहीं, प्रत्युत् शक्तिशाली और कठोर शब्दों के ढाँचे में उतरी है तथा उसके सारे बन्द अपनी-अपनी जगह पर वज्र की खूँटियों में ठुके हुए जान पड़ते हैं। अगर उर्वशी के प्रतीक ऊषा और फूल हैं, तो बाजीप्रभु का प्रतीक दोपहरी का ताप समझा जा सकता है। इस कविता में जो दृढ़ता और तेजस्विता धूप में खड़ी ताम्र-प्रतिमा की तरह जगमगा रही है उसे देखते हुए यही कहना चाहिए कि श्री अरविन्द के प्रचण्ड राजनीतिक संकल्प ने ही इसमें आकर मूर्त्त आकार ग्रहण कर लिया था।

By men is mightiness achieved ; Baji
Or Malsure is but a name, a robe,
And covers one alone. We but employ
Bhavani's strength, who in arms of flesh
Is mighty as in the thunder and the storm.

काव्यात्मक सत्य की जो कठोरता और सुस्पष्टता हम ऊपर की पंक्तियों में देखते हैं उसका और भी निखरा हुआ रूप 'Ahana and other poems' में प्रकट हुआ। इस संग्रह की कविताओं में हम उस मेनिफेस्टो का काव्यगत उदाहरण देखते हैं जिसकी ओर श्री अरविन्दो ने अपनी "भावी कविता" नामक निबन्धमाला में संकेत किया है। इस संग्रह में रहस्यवादी संकेत और रूपक का सहारा बहुत कम लिया गया है। उसके वातावरण में विश्वास की स्वाभाविक ज्योति है तथा उसकी कविताओं को देखते हुए ऐसा लगता है, मानों सत्य अपने घर में आकर विराजमान हो गया हो। जिस प्रकार, हम पृथ्वी की ओर बड़े ही राग से प्रेरित हैं, उसी प्रकार, इन कविताओं में श्री अरविन्द अध्यात्म की भूमि की ओर प्रेरित दीखते हैं और जिस प्रकार हमारे लिए धरती के आनन्द सहज और स्वाभाविक लगते हैं, उसी प्रकार, इन कविताओं में अध्यात्म का विश्व श्री अरविन्द के लिए बिलकुल स्वाभाविक हो गया है। मैं जिन कविताओं के संबंध

में ऐसे अतिवादी उद्‌गार प्रकट कर रहा हूँ उनमें सांसारिक जीवन की मधुरिमा और तारल्य का सर्वथा अभाव है; फिर भी क्या कारण है कि मुझे उनकी प्रशंसा करनी पड़ रही है? कविता, कदाचित्, केवल वही वस्तु नहीं है जो हमें प्रसन्न करती है, जो हमारे रक्त में सनसनाहट और मांस में एक गुदगुदी का संचार करती है। उसकी सीमा, शायद, वहाँ भी नहीं है जहाँ हम कवि के स्पर्श से भीतर ही भीतर आलोड़ित होने लगते हैं। प्रत्युत, कविता मनुष्य को आविष्ट भी करती है; वह हमें समाधि में ले जाकर संसार से ऊपर भी उठाती है—एक ऐसी सहज समाधि जिसमें विचार जब बहुत शान्त रहते हैं तभी उनमें आलोड़न भी अत्यधिक होता है—एक ऐसी समाधि जिसमें बाहर की ओर खुली रहने पर भी हमारी आँखें बाहर की अपेक्षा भीतर की ओर अधिक देख पाती हैं।

Throug'ı endl;ss space and on time's iron wings
A ı hythm runs.

× × × ×

He made an eager death and called it life,
He stung himself with bliss and called it pain.

× × × ×

O Flowers, o delight on the tree tops burning.

× × × ×

Cold are your rivers of peace and their banks are leafless
and lonely.

× × × ×

Skies of monotonous calm and his stillness slaying the ages.

× × × ×

O thou golden image,
Miniature of bliss,
Speaking sweetly, speaking meekly!
Every word deserves a kiss.

ये कुछ स्फुट पंक्तियाँ हैं जो प्रसङ्ग से छिन्न हो जाने पर भी हममें समाधि की तन्मयता को जाग्रत करने में समर्थ हैं; प्रसंग में पढ़ने पर तो पुस्तक बन्द करके मानसिक पारावार के किनारे खड़ा होकर पाठक को अपने भीतर आप ही

निमग्न हो जाना पड़ता है। ऐसी अनुभूतियों के अलावे भी, इस संग्रह में अनेक ऐसे चरण और पद हैं जिनमें किसी अदृश्य लोक की रहस्यात्मक अनुभूतियों के चित्र हैं, जिनमें न जानें किस पृथ्वी और किस आकाश के विम्ब झिलमिलाते नजर आते हैं।

Through glimmering veils of wonder and delight,
World after world bursts on the awakened sight,
(The other Earths).

अब अरविन्द की उस कृति की चर्चा बच जाती है जो उनके अनेक शिखरों के बीच गौरीशंकर की तरह सबसे ऊपर विद्यमान है और जिसमें उस कवि की अदृश्य-दर्शिनी कल्पना का चमत्कार है जिसने चालीस वर्षों की गहरी और लंबी समाधि में काव्य-कला के एक-एक रेशे की परीक्षा की और इस बात का पूरा ध्यान रखकर अपनी सबसे बड़ी कृति का निर्माण किया कि किस स्तर की अनुभूति किस प्रकार की शैली में व्यक्त की जा सकती है तथा रचना की प्रक्रिया के समय जब कवि का मन खूबसूरती, मिठास और पच्चीकारी के मोह में पड़कर मूल लक्ष्य से भटकने लगता है तब कवि को योग की किस मुद्रा का सहारा लेना चाहिए। मैंने 'सावित्री' के कई भागों को पढ़ा है और कुछ भागों को एक से अधिक बार भी पढ़ा है। किन्तु, 'सावित्री' के सारे अर्थ मुझ जैसों के हाथ नहीं लगते। तब भी जितना कुछ हाथ आता है वह तन्मयता की स्थिति को उत्पन्न करने में पूर्णरूपसे समर्थ है तथा उन धुँधली पंक्तियों के भीतर से एक नयी दुनिया भी दिखलाई पड़ने लगती है। सावित्री-काव्य समय से पूर्व अवतीर्ण हुआ है अथवा सम्भव है कि उसका समय आसन्न हो। अपने निबन्ध में श्री अरविन्द ने कहा है कि उनकी कल्पना का भावी काव्य तभी लिखा जायगा, जब युग और जातियाँ उसके लिए प्रस्तुत हो गई होंगी। किन्तु, विकास के नेता-कवि की हैसियत से उन्होंने उस कविता का आरम्भ, कदाचित्, समय से कुछ पूर्व ही कर दिया। फिर भी ऐसा नहीं है कि 'सावित्री' का सारा कवित्व हमसे दूर रह जाता हो। उसके भीतर एक पौराणिक कथा का सूत्र है तथा जो

लोग श्री अरविन्द की विचार-धारा से परिचित हैं वे अपनी सामर्थ्य के अनुसार उससे आनंद और आलोक अवश्य ग्रहण कर सकते हैं।

कहते हैं, 'सावित्री' की रचना में पैंतीस वर्ष लगे हैं और यह लगभग छह बार आदि से अन्त तक फिर से लिखी गई है। इन संशोधनों का लक्ष्य काव्यात्मक दुर्बलताओं का अपहरण नहीं था, बल्कि, इस दीर्घ अवधि में श्री अरविन्द ज्यों-ज्यों विकास के पथ पर ऊपर उठते गये, त्यों-त्यों 'सावित्री' में और भी उन्नत स्तर की चेतना भरने के निमित्त उन्हें उसे फिर से लिखना पड़ा। 'सावित्री' काव्य का आरम्भ "उर्वशी" एवं "प्रेम और मृत्यु" नामक कविताओं के बाद ही और, प्रायः, उसी मनःस्थिति में हुआ था जिसका प्रमाण अब भी कहीं-कहीं वर्त्तमान है।

Measuring vast pain in his immortal mind.
(Love and Death)

Time like a snake coiling among the stars.
(Urvasie)

इन पंक्तियों में चेतना की जो धारा विलास करती हुई मिलती है उसकी छाया 'सावित्री' में भी जहाँ-तहाँ विद्यमान है। किन्तु, श्री अरविन्द जब चेतना के इस स्तर से ऊपर चढ़ गये, 'सावित्री' का आमूल संशोधन अनिवार्य हो गया। जिस स्तर पर पहले वे केवल समाधि के क्षणों में पहुँचते थे, वह स्तर जब उनके लिए स्वाभाविक हो उठा, तब यह उचित ही था कि अपने सर्वश्रेष्ठ काव्य को वे अपनी आध्यात्मिक उपलब्धि के अनुरूप बना दें। इस व्याख्या से यह निष्कर्ष ध्वनित होता है कि यदि 'सावित्री' का वह संस्करण प्रकाश में आ जाय, जिसे महर्षि ने पहले-पहल लिखा था तो, कदाचित् अरविन्द की कारयित्री प्रतिभा के विकास की रेखाएँ अधिक स्पष्ट हो जायँ। किन्तु, यहाँ यह खतरा है कि तब, शायद, 'सावित्री' उस ध्येय को चरितार्थ नहीं कर सकेगी जिसके लिए महर्षिने उसे विश्व के हाथों में अपने अन्तिम दान के रूप में छोड़ा है। और, शायद, यह इसलिए भी ठीक नहीं होगा कि 'सावित्री' जिस रूप में मनुष्य को उपलब्ध हुई है, उस रूप में वह श्री अरविन्द के सहस्रार की रचना है, उसमें चेतना के उस स्तर का सौरभ लिपटा हुआ है जिस स्तर पर पहुँचकर उसका नेता-कवि निर्वाण को प्राप्त हुआ है।

जो सुधी 'सावित्री' की गहराइयों में काफी नीचे उतर चुके हैं, उनका कहना है कि यद्यपि 'सावित्री' की कविता मंत्र-काव्य है और यद्यपि उसका वातावरण वेदों और उपनिषदों का वातावरण है, तथापि यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि 'सावित्री'-काव्य की आत्मा जिस स्तर पर भ्रमण करती है उसपर वेदों और उपनिषदों के रचयिताओं के चरण नहीं पड़े थे। जिस स्तर पर चढ़कर ऋषियों ने उपनिषदों का गान किया था, उसी स्तर पर महर्षि अरविन्द भी थे। किन्तु, इस स्तर से श्री अरविन्द ने जो-कुछ देखा, वह प्राचीन काल के ऋषियों को दिखलायी नहीं पड़ा था*।

अतीत को पुकारकर भविष्य की ओर चलने का 'सावित्री' में स्पष्ट संकेत है और यह संकेत उसके संक्षिप्त कथानक में ही परिव्याप्त मिलता है। सावित्री और सत्यवान की कथा महाभारत में आई है जिसके माध्यम से वेदव्यास ने प्रेम और मृत्यु के संघर्ष की भीषणता चित्रित की है। सावित्री ने यह जानते हुए भी सत्यवान का वरण किया था कि वह शीघ्र ही काल के कवल में पड़नेवाला है, अतएव, श्री अरविन्द ने सावित्री को जीवन-शक्ति के संकल्प की मूर्त्ति मानकर उसे अपने काव्य की नायिका चुना। सावित्री शब्द का आदिम अर्थ भी सूर्यवाचक है, अतएव, महर्षि ने सावित्री के रूप में जीवन की अपराजेय ज्योति देखी जो मृत्यु के अन्धकार को भेदने के लिए कृतसंकल्प है। सावित्री ने अपने संकल्प के जोर से अपने पति को मृत्यु के मुख में से निकाल लिया, जिसका सीधा अर्थ यह होना चाहिए कि मनुष्य चाहे तो स्वयं भी मृत्यु से बच सकता है तथा अपने प्रिय पात्रों को भी बचा सकता है। किन्तु, प्राचीन ऋषि इस सिद्धान्त में, सचमुच, विश्वास करते थे या नहीं, इसका कोई प्रमाण नहीं है। कदाचित् इस कथा के भीतर एक कल्पना का आभास मात्र है जिसे ऋषियों ने अपनी सहज

---

* ऐसे मत शुद्ध श्रद्धा की अभिव्यक्ति हैं अथवा उनका साहित्यिक महत्व भी है। इसकी परीक्षा में अभी कुछ विलम्ब है, क्योंकि जो लोग संसार के विभिन्न देशों में आज साहित्य का नयन कर रहे हैं, उनका ध्यान अभी सावित्री की ओर नहीं गया है।

ज्ञानशक्ति (Intuition) के बल पर प्राप्त किया था, किन्तु, जिसे वे व्यावहारिक रूप नहीं दे सके। वही कल्पना श्री अरविन्द के मन में भी थी और वे विश्वास करने लगे थे कि मनुष्य के आधिभौतिक ढाँचे को विध्वस्त कर देना मृत्यु के सनातन अधिकार की बात नहीं है। मनुष्य कभी मृत्यु पर भी विजय पाने योग्य हो सकता है। अपनी इसी अनुभूति की सिद्धि उन्होंने 'सावित्री' काव्य में की है और एतत्सम्बन्धी अपने सारे अनुसन्धानों को आध्यात्मिक काव्य की अलौकिक किरणों के समान उन्होंने इस अनुभूति के चारों ओर गूँथ दिया है।

यह इस महाकाव्य का कथानक है, किन्तु, कथानक से बढ़कर महत्त्वशाली तो उसका चित्रण होता है और 'सावित्री' में रूप और भाव जिस ढंग से चित्रित हुए हैं, वह अरविन्द की भी पहले की कृतियों को देखते हुए बिलकुल नवीन है। ऊपर हम 'उर्वशी' के चित्रण का उदाहरण दे चुके हैं। 'सावित्री' का आरम्भ भी 'उर्वशी'-काल में ही हुआ था, किन्तु, चेतना के स्तर-परिवर्त्तन से 'उर्वशी' और 'सावित्री' के रूप-चित्रण में कितना भेद पड़ गया है, यह 'सावित्री' के निम्नलिखित स्वरूप-वर्णन से विदित होगा।

A body like a parable of dawn
That seemed a niche for veiled divinity
Or golden temple doors to things beyond.
Her look, her smile awoke celestial sense
Even in Earth-stuff and their intense delight
Poured a supernal beauty on men's lives.

× × ×

The whole world could take refuge in her single heart.
The great unsatisfied godhead here could dwell.

× × ×

For even her crevices were secreceis of light.
At once she was the stillness and the word,
A continent of self-diffusing peace,
An ocean of untrembling virgin fire.

'सावित्री'काव्य में सौन्दर्य का जो सागर लहरा रहा है, पाठकों को उसका दर्शन कराना इस छोटे से निबन्ध में सम्भव नहीं है। उसके लिए धैर्य के साथ प्रगाढ़ अध्ययन करने एवं पद-पद पर छोटी-बड़ी तन्मयताओं में जाने की आवश्यकता है। तब भी नीचे की कुछ पंक्तियों को देखकर पाठक अनुमान कर सकेंगे कि 'सावित्री' किस धरातल की रचना है तथा जिस कवि ने कविता के आदर्श की कल्पना मन्त्र के रूप में की थी, उसके हृदय से काव्य की पंक्तियाँ किस भंगि के साथ निःसृत हुई हैं।

A thought was sown in the unsounded void,
A sense was born within the darkness's depths,
A memory quivered in the heart of time
As if a soul long dead were moved to live.

× × ×

Power laid its head upon the breasts of bliss.

× × ×

She has lured the Eternal into the arms of Time.

× × ×

In moments when the inner lamps are lit
And the life's cherished guests are left outside,
Our spirit sits alone and speaks to its gulfs.

× × ×

Then flaming from her body's nest alarmed
Her violent spirit soared at Satyavan.

× × ×

Delight shall sleep in the cloud-net of her hair
And in her body as on his homing tree
Immortal Love shall beat his glorious wings.

× × ×

Straining closed eyes of vanished memory
Like one who searches for a bygone self
And only meets the Corpse of his desire.

× × ×

And sighing she laid her hand upon her bosom
And recognised the close and lingering ache.
Deep, quiet, old, made natural to its place.

अन्त में, इस लेख को मैं श्री कृष्णप्रेमी के एक विश्लेषण के उद्धरण के साथ समाप्त करता हूँ कि अत्यन्त आदिकाल में कविता जाति का मन्त्र समझी जाती थी और कवि उसके द्रष्टा कहलाते थे। यह उस समय की बात है जबकि आत्मचैतन्य मस्तिष्क का उत्थान नहीं हुआ था और मनुष्य जहाँ एक ओर प्रकृति के समीप था, वहाँ दूसरी ओर वह परमसत्ता का भी सामीप्य अनुभव करता था। उन दिनों जो कविताएँ लिखी जाती थीं, उनका उद्देश्य अदृश्य का प्रत्यक्षीकरण यानी Revelation होता था और कविता का माध्यम अपनाने वाले सभी लोग द्रष्टा, नबी और अदृश्य के संदेशवाहक समझे जाते थे। आगे चलकर जब आत्मचैतन्य मस्तिष्क (Self-conscious Mind) का उत्थान हुआ, सहजज्ञान से देखी जानेवाली वास्तविकता खण्ड-खण्ड होकर गिरने लगी। मस्तिष्क ने जीवन की सामग्रियों को दो भागों में विभक्त कर दिया और जो भाग आधिभौतिक जीवन के लिए अधिक आवश्यक था, उसे लिपिबद्ध करने के लिये उसने गद्य के माध्यम का आविष्कार किया। इस प्रकार, कविता बेचारी अपना गौरव खोकर निःस्व एवं हृतसर्वस्व हृदय की पूँजी बन गई और उसके भीतर अतृप्त कामनाओं, अपूर्ण इच्छाओं तथा गर्वोद्धत मनुष्य की मनुहार के लिए सस्ती रंगीनियों की भरमार होने लगी। वर्जिल और दान्ते, मिल्टन और ब्लेक ने कविता को इस दैन्य से उठाकर ऊपर ले जाने की चेष्टा अवश्य की, किन्तु मनुष्य का भाव नहीं बदला। वह बुद्धि की आराधना में लीन रहने के कारण हृदय की अधिकाधिक अवज्ञा करता गया और इस प्रकार, हृदय और मस्तिष्क के बीच की खाई और भी चौड़ी होती गई। जीवन के सोते में जो जल बह रहा था वह बुद्धि की पूँजी और मस्तिष्क का अर्जन था। कविता बहुत दिनों से इस प्रवाह के ऊपर इन्द्रधनुष बनकर खड़ी थी, क्योंकि इन्द्रधनुष बनकर खड़ी रहने को छोड़कर उसके सामने और कोई चारा नहीं था।

सौभाग्य की बात है कि श्री अरविन्द ने 'सावित्री' काव्य के द्वारा हृदय और मस्तिष्क के बीच की इस खाई को पाट दिया है।

कला के अर्धनारीश्वर

नई समीक्षा का आग्रह है कि साहित्य की परीक्षा ऐतिहासिक प्रक्रिया के आधार पर मत करो, क्योंकि साहित्य की जो अपनी विशेषता है वह ,साहित्येतर-ज्ञान के द्वारा परखी नहीं जा सकती[१]। बात कुछ दूर तक सही मालूम होती है, फिर भी वह बिल्कुल सही नहीं है ; क्योंकि साहित्य न तो ऐसी कला है जो समय, परिस्थिति और समाज के प्रभावों से मुक्त हो और न कवि ही ऐसा प्राणी होता है जिस पर शिक्षा-दीक्षा और संस्कार का असर नहीं पड़ता हो। ईलियट ने जो यह कहा है कि अतीत का एक अंश वर्त्तमान बन जाता है तथा भविष्य और वर्त्तमान, दोनों ही, कुछ दूर तक अतीत में छिपे रहते हैं,[२] वह उक्ति बहुत दूर तक साहित्य पर भी लागू की जा सकती है। आज के धुँधले विचार कल प्रकाशमान होंगे और कल जो चिनगारियाँ मन्द एवं प्रच्छन्न थीं, वे ही आज किरणें बनकर चमक रही हैं। कारीगरी और संगतराशी की तरह साहित्यकला

१—Theory of Literature by R. Vellek and A. warren (chapter IX)

२—Time present and Time past,
Are both perhaps present in time future,
And time future contained in time past. (Burnt Norton)

के भी अपने कानून हैं, जिनका आश्रय लिये विना साहित्य के कलापक्ष की व्याख्या नहीं की जा सकती, किन्तु, जिस द्रव्य पर यह कारीगरी की जाती है वह बराबर समय, समाज और संस्कार के भीतर से आता है। यही नहीं, बल्कि, प्रत्येक नया द्रव्य अपनी अभिव्यक्ति में भी कुछ-न-कुछ नवीनता लिये आता है और प्रत्येक प्रभावशाली नवीन कवि हमें यह सोचने को मजबूर करता है कि कविता की वह परिभाषा काफी है या नहीं जिसे हमने पहले के कवियों को देखकर बनाया था[१]। आलोचना की बदलती हुई रूपरेखा के पीछे, असल में, उन कवियों का व्यक्तित्व काम करता है जो अपने पूर्वज और समकालीन कवियों से भिन्न होते हैं। कविता में शैली और द्रव्य के बीच विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती[२]। लेकिन, विचार की सुगमता के लिए यह कहा जा सकता है कि काव्य का प्रभाव केवल द्रव्य या भाव पर ही नहीं पड़ता, उसका प्रभाव उस द्रव्य की अभिव्यक्ति करनेवाली भाषा में भी लक्षित होता है। दरअसल, काव्य का इतिहास, बहुत दूरतक, भाषा और शैली में होनेवाले परिवर्त्तनों का इतिहास है। समय की विशेष प्रकार की ऐंठन, समाज के हृदय में गूंजने-वाले विशिष्ट भाव और वैयक्तिक एवं सामूहिक चेतना की विशिष्ट लहरें अपनी अभिव्यक्ति के लिये विशिष्ट प्रकार के माध्यम की खोज करती हैं। अतएव, जब कोई नया एवं समर्थ कवि काव्य के क्षेत्र में प्रवेश करता है तब उसके साथ केवल कुछ नये भाव ही साहित्य में नहीं आते, वरन्, अभिव्यंजना की भी एक नई अदा उसके साथ आती है। अतएव, काल के पृष्ठाधार पर साहित्य की परख, उसमें आनेवाले नये भावों की ही परख नहीं, कुछ दूर तक उन शैलियों के उद्गम की भी खोज है जो इन भावों की सुष्ठु अभिव्यक्ति के लिए रूप ग्रहण करती हैं।

ऐतिहासिक पृष्ठाधार

रवीन्द्र और इकबाल के सम्बन्ध में यह पृष्ठाधार १९ वीं सदी में होनेवाले सांस्कृतिक जागरण या रिनासाँ पर जाकर टिकता है जिस रिनासाँ का तेज इन

१—Modern Poetry & Tradition by Cleanth Brooks

२—Theory of Literature.

दोनों कवियों में प्रत्यक्ष हुआ है। इस रिनासाँ की दो प्रमुख विशेषताएँ दूर से ही दिखायी पड़ती हैं। एक तो यह कि भारत के मन पर योरोप की उद्दामता, उसकी जीवन को सत्य समझने की दृष्टि तथा परलोक की चिन्ता में इस लोक की उपेक्षा नहीं करके इसे ही स्वर्ग बनाने के भाव का विशेष रूप से प्रभाव पड़ा[१]। दूसरी यह कि इस रिनासाँ के समय भारतीय संस्कृति के कुछ प्राचीन सत्यों ने दुबारे जन्म लिया[२] और भारतवासी हिन्दू और मुसलमान, दोनों ही, अपनी प्राचीन संस्कृतियों के सार को योरोप से मिलनेवाले गतिपूर्ण ज्ञान के साथ एकाकार करके आगे बढ़े। यह सांस्कृतिक जागरण इतिहास में हिन्दू-रिनासाँ के नाम से विख्यात है, क्योंकि इसके मुख्य नेताओं में से राममोहनराय, दयानन्द, केशवचन्द्र, रामकृष्ण और विवेकानन्द, सबके सब, हिन्दू थे। किन्तु, सत्य यह है कि यह रिनासाँ केवल हिन्दू-समाज तक ही सीमित नहीं था। इसका प्रभाव मुसलमानों पर भी पड़ रहा था।

तत्कालीन मुस्लिम समाज के भीतर से, गरचे, बहुत बड़ी-बड़ी हस्तियाँ नहीं निकलीं, फिर भी रिनासाँ का जो प्रभाव मुस्लिम समाज पर पड़ रहा था, उसका प्रतिनिधित्व सर सैयद अहमद खाँ और हाली ने काफी योग्यता से किया और उनके व्यक्तित्व से मुसलमानों के बीच रिनासाँ के प्रसार में यथेष्ट सहायता मिली। इसके सिवा, वहाबी-आन्दोलन तथा अफगान के द्वारा संचालित आन्दोलन भी बहुत अंशों में सांस्कृतिक थे और उन्हें भी रिनासाँ से सम्बद्ध मानना चाहिए।

सच पूछिये तो जहाँ तक योरोप से आनेवाली विद्याओं का सवाल था, हिन्दू और मुसलमान उनसे समानरूप से प्रभावित हो रहे थे। फिर भी इस रिनासाँ का रूप एक दूसरे क्षेत्र में विभक्त हो रहा था, क्योंकि अपने प्राचीन सत्यों की खोज में अतीत की ओर देखते-देखते हिन्दू वेद की ओर भागे जा रहे थे तथा

१—Modern India & the West: Edited hy L. S. S. O Malley. लार्ड मेस्टन की भूमिका।

२—वही : सर राधाकृष्णन का लेख।

मुसलमान कुरान की ओर ; और धीरे-धीरे दोनों जातियों का जोर उन बातों पर पड़ता जा रहा था जो उन्हें एक दूसरे से अलग करनेवाली थीं, उन पर नहीं जिनसे उनके बीच की चौड़ाई कुछ कम हो सकती थी। नतीजा यह हुआ कि जब सुधरा हुआ हिन्दुत्व खुलकर प्रकट हुआ तब उसके एक हाथ में वेद और उपनिषद् तथा दूसरे में विज्ञान की मशाल थी ; एवं जब इस्लाम अपनी नींद से जगा तब उसके भी एक हाथ में विज्ञान की मशाल और दूसरे में कुरान-पाक के साथ अरबी संस्कृति का सपना था जिस संस्कृति की पवित्र मिट्टी पर इस्लाम ने जन्म लिया था।

हिन्दू-रिनासाँ के चोटी के नेताओं में से रामकृष्ण शुद्ध सन्त थे और सभी धर्मों के प्रति समभाव रखने के कारण उनके भीतर हिन्दुत्व एक विश्वधर्म के पृष्ठाधार का रूप ले रहा था[१]।

विवेकानन्द, यद्यपि, संन्यासी थे, फिर भी, उनमें राष्ट्रीयता का स्पष्ट तेज था। लेकिन, वे भी हिन्दुत्व को विश्वधर्म के पृष्ठाधार के रूप में ही उपस्थित करना चाहते थे।

राजा राममोहन राय समाज-सुधारकों में अग्रगण्य थे। किन्तु, ब्रह्मसमाज की संस्थापना के कारण इतिहास उन्हें भी एक धार्मिक नेता के रूप में अधिक याद करता है।

ये तीनों के तीनों नेता बंगाल में उत्पन्न हुए थे जहाँ की संस्कृति में वैष्णव-पदावलियों की मधुरता भली भाँति पच चुकी थी। अतएव, यह स्वाभाविक था कि जिस भूमि को इन महापुरुषों ने सींचा था उससे उत्पन्न होनेवाला प्रतिनिधि-कवि विश्वधर्म का द्रष्टा, विश्वमानवता का प्रेमी और काव्य में माधुर्य-गुण का उपासक हो तथा उसकी राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता में कोई भेद नहीं रहे। हिन्दू-रिनासाँ के इन प्रमुख नेताओं में से केवल दयानन्द ही ऐसे हुए, जिनमें कर्मठता का भी कुछ जोर था। बाकी सब के सब विशुद्ध आदर्शवादी और माधुर्य के उपासक थे। इस अनुमान का समर्थन इस बात से भी मिलता है

१—वही :

कि बीसवीं सदी में जब कर्म का व्यापक क्षेत्र तैयार हुआ, तब उसमें दयानन्द के अनुयायी तो अच्छी संख्या में आये, किन्तु, आदर्शवादियों का दल, प्रायः, किनारे पर से ही आशीर्वाद देता रह गया।

ब्रह्मसमाज का जन्म ही ज्ञान और संस्कृति के ऊँचे स्तर पर मनुष्यमात्र की एकता को प्रोत्साहित करने के लिए हुआ था तथा, आदि से अन्त तक, वह एक बौद्धिक आन्दोलन के समान था जिसके अनुयायियों की धाक उनकी संख्या के कारण नहीं, बल्कि, धनमान, पद-प्रतिष्ठा और बौद्धिक योग्यता को लेकर थी[1]। ब्रह्मसमाज की प्रेरणा सामान्य जनता की अनुभूति से नहीं आई थी और न समाज के भौतिक संघर्षों से उसका कोई सरोकार था। उसे एक बौद्धिक प्रयोग ही समझना चाहिए जिसके अधीन उसके नेता अनेक धर्मों से रस-संचय करके मनुष्यमात्र के लिए एक नूतन मधुचक्र तैयार कर रहे थे। राममोहन राय पर ईसा की नैतिक शिक्षाओं के अलावे, इस्लाम के तौहीद का भी पूरा असर था। रवीन्द्रनाथ के पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने अपने तीन वर्षों की समाधि में सूफीवाद और योरोप के विवेकमय दर्शन को मथकर एकाकार कर दिया था। स्वयं केशवचन्द्र सेन ने भी यह घोषणा की थी कि उनका आधा हृदय एशिया के साथ और आधा योरोप के साथ है[2]। अतएव, कोई आश्चर्य नहीं कि इन घटनाओं की कविता लिखने के लिए बंगाल में रवीन्द्रनाथ का जन्म हुआ जिनका द्रव्य जीवन नहीं, बल्कि, जीवन के व्योम में फैली हुई दर्शन की सुरभि हुई, जिनका आराध्य राष्ट्रीय नहीं, अन्तर्राष्ट्रीय मनुष्य हुआ तथा जिनका स्तर ब्रह्मसमाज का वही स्तर रहा जो अपनी ऊँचाई के कारण धरती की धूल और जिन्दगी की कराह की पहुँच से परे था।

सर सैयद और मौलाना हाली के सामने इस्लाम को विश्वधर्म से एकाकार

१—Their followers were strong, not in numbers, but in rank, influence and intellectual attainments.

—Modern India and the West : L. S. S. O' Malley का लेख

२—Modern India and the West.

करने की समस्या नहीं थी। ईसाइयत के आगमन से हिन्दुत्व जितना घबराया था, इस्लाम को उतनी घबराहट नहीं हुई थी। वह ईसाइयों का जाना-पहचाना हुआ धर्म था। इसके सिवा, इस्लाम अभी-अभी राज्य-सिंहासन से नीचे आया था, उसे इस बात का जरा भी तजुर्बा नहीं था कि गुलामी की वेदना कैसी होती है। इसके विपरीत, हिन्दुत्व के कई सौ वर्ष गुलामी में बीत चुके थे और अब वह और कोई साधन नहीं पाकर अपनी आत्मा की तेजस्विता से ही उन लोगों को जीतने की कोशिश में था जो उसके शरीर पर नई मुश्कें कस रहे थे।

इस्लाम के नेताओं को अगर कोई चिन्ता थी तो यह कि बदली हुई परिस्थिति में मुसलमान क्या करें। अभी कल तक वे भारत के शासक थे। मगर, अब जो परिस्थिति उनके सामने आ गई थी उससे बाहर निकलने का रास्ता था हिन्दुस्तान की अन्य जातियों से मेल और उनके कंधे से कंधा मिलाकर खोई हुई सल्तनत को वापस लाने की कोशिश करना। मगर, यह रास्ता जमहूरियत का रास्ता था जिसमें अधिकारों का उपभोग संख्या के अनुपात से ही किया जाता है और दुर्भाग्यवश, मुसलमानों को यह विश्वास नहीं हो सकता था कि प्रजासत्ता के अन्दर मुसलमानों की अवस्था एक महज "माइनारिटी" से कुछ भी अच्छी होगी। यह मेरा अनुमान है। संभव है, और भी बहुत-से कारण रहे हों। लेकिन, सच बात तो यह है कि जब हिन्दू और मुसलमान अपने पीछे की ओर देखते-देखते वेद और कुरान पर आसक्त हो रहे थे, तब हिन्दुओं की दृष्टि तो इतिहास के गह्वर से टकराकर वर्त्तमान की भूमि पर लौट आई, चूँकि, उसके आगे अब कोई मार्ग नहीं था, किन्तु, मुसलमानों को भावना एक तरह के रहस्यवाद के फेरे में पड़कर असन्तुष्ट रहने लगी और जब तब एक प्रकार के अस्पष्ट वृहत्तर इस्लाम का सपना उसे मोहित करने लगा[१]। रिनासाँ के काल की मुस्लिम जनता का कोई अच्छा हाल नहीं था। हिन्दू और मुसलमान साथ रहते आये थे, उन्होंने गदर के समय साथ मिलकर अपने समान शत्रु का सामना भी किया था और कई सौ वर्षों तक साथ रहने के कारण उनकी कुछ समान

१—A secular state for India by Lanka Sundaram.

परम्पराएँ और विरासतें भी बन गई थीं। ये सारी बातें इस चीज की दलील थीं कि हिन्दू और मुसलमान एक हैं तथा राष्ट्रीयता उनका समान धर्म है। किन्तु, फिर भी कोई बात थी जो उन्हें चौकन्ना रखती थी, दिल के भीतर कोई दर्द था जिसका उन्हें स्वयं भी पता नहीं था, उपचेतन के भीतर कोई गूँजती हुई आवाज थी जिसे वे सुन नहीं पाते थे। अतएव, रिनासाँ से जन्मे हुए मुस्लिम-समाज को एक ऐसे कवि की आवश्यकता हुई जो उसके उपचेतन की आवाज को सुनकर उसका सही मानी उसे बतला सके; जो उसकी मंजिल की परिभाषा करके उसे उस ओर बढ़ने की प्रेरणा दे सके; जो कोई ऐसा दर्शन तैयार कर सके जिससे भौगोलिक राष्ट्रीयता के बदले धार्मिक या सांस्कृतिक राष्ट्रीयता का सिद्धान्त निरूपित और पुष्ट होता हो। १९ वीं सदी के मुस्लिम-समाज ने जैसी कठिन उलझनों को लेकर अपने कवि की इन्तजारी की, वैसी उलझनों को लेकर किसी भी देश के किसी भी समाज ने किसी भी कवि की राह नहीं देखी होगी। यह काम दार्शनिकों के बूते से बाहर था, क्योंकि दर्शन के शब्दों में न तो पंख ही होते हैं कि वे तुरन्त लोगों के दिलों में पैठ जायँ और न उनसे खुशबू ही निकलती है जिससे खिचकर लोग आप से आप उसके पास चले आवें। यह काम राजनीतिज्ञों की भी शक्ति के बाहर था; क्योंकि कोई भी राजनीतिज्ञ ऐसा नहीं हो सकता जो एक शब्द में एक अध्याय और एक मिसरे में पूरी किताब कह डाले। अखबार के कालमों में भी कोई ऐसी स्पीच नहीं छपती जिसे लोग कुरआन की तरह बगल में बाँधकर साथ लेते फिरें। इकबाल ने बड़ा ही कठिन काम पूरा किया है और जो लोग यह कहते हैं कि वे कवि नहीं होकर केवल राजनीतिज्ञ थे, वे शायद, इस रूढ़ि से ग्रसित हैं कि हर हालत में साहित्य राजनीति की गन्धमात्र से दूषित हो जाता है।

शायद, यह भी इतिहास के क्रम में ही एक निश्चित बात थी कि इकबाल उन सभी कवियों से भिन्न हों, जिन्हें देखने और सुनने के मुसलमान आदी रहे थे। मुसलमानों को एक ऐसे कवि की आवश्यकता थी जो उन्हें अपने साथ हँसी-मजाक करने की आजादी नहीं दे; जिसे वे अपना गायक ही नहीं, बल्कि, इमाम भी

समझें और जो उनके ध्यान को सस्ती चीजों से हटाकर उस ओर ले जाय जहाँ इस्लाम की आरम्भिक गरिमाएँ [गरीबी का फख्र, मकसद के लिए मर मिटने की उमंग और चेतना का सूफियाना विस्तार] दमक रही थीं। इस कवि के लिए यह भी आवश्यक था कि वह संगतराश नहीं होकर जिन्दा पत्थरों का पारखी हो और कारीगरी के फेरे में वह इतना तो पड़े ही नहीं कि जब तक वह छेनी से पत्थरों की नोंक ठीक करने में लगा हो, तबतक उसके दिल की आग ही मद्धिम पड़ जाय। इकबाल के सामने जितना कठोर और महान लक्ष्य था उसे देखते हुए अचरज की बात यह नहीं दीखती कि उन्होंने साहित्य के नियमों और रीतियों की अवहेलना की; बल्कि, अचरज की बात तो यह समझी जानी चाहिए कि साहित्य की परंपराओं को तोड़कर भी वे कवि कैसे बने रहे, उनकी कविताएँ गद्यात्मक होकर क्यों नहीं रह गईं, उन में रस का अभाव और चमत्कार की कमी क्यों नहीं आई तथा उनकी पंक्तियाँ मनुष्य के हृदय को झकझोरने में इतनी समर्थ कैसे हो गईं। क्या यह क्षणस्थायी प्रभाव है और इकबाल को सौ-पचास वर्षों के बाद लोग भूल जायँगे? क्या इकबाल का तेज समकालीनता का तेज है और सनातनता के सामने वह नहीं टिक सकेगा? क्या उनकी कविताओं का बाँकपन साहित्य की वक्रोक्ति का पर्याय नहीं? क्या उनके शेरों से फूटनेवाली रोशनी वही रोशनी नहीं है जिससे कवियों के अक्षर और शब्द सैकड़ों बरस तक जगमगाते रहते हैं? कदाचित्, ऐसी चिन्ता ही फिजूल है, क्योंकि इस प्रकार का निर्णय आनेवाली सन्ततियाँ ही कर सकती हैं। यह भी संभव है कि इकबाल आज जिन गुणों के लिये प्रशंसित और पूजित हो रहे हैं, अगले जमाने में उनके बदले वे किन्हीं अन्य कारणों से प्रशंसित हों।

रवीन्द्रनाथ

रवीन्द्रनाथ का जन्म एक कलाप्रिय वंश में हुआ था जिसमें सौन्दर्य के सिवा, विश्वबन्धुत्व और औपनिषदिक ज्ञान की भी चर्चा प्रधान थी। उत्तराधिकार में उन्हें बँगला के वैष्णव कवियों की कोमलकान्त पदावलियाँ भी मिली थीं। अतएव,

आरम्भ से ही वे सौन्दर्य की उपासना की ओर बढ़ने लगे और जब उनके मुख से धार्मिक अनुभूतियाँ व्यक्त होने लगीं तब वैष्णव-कवियों का प्रभाव भी स्पष्टरूप से लक्षित होने लगा।

रवि बाबू के लिए यह बड़ा ही अनुकूल रहा कि जो परंपराएँ उन्हें विरासत के रूप में मिली थीं, उनका कोई निश्चित अथवा स्थूल उद्देश्य नहीं था और काव्य की भूमि से बाहर रहने पर भी वे बहुत कुछ कविता के ही समान तरल और सूक्ष्म थीं। मनुष्य-मनुष्य के बीच एकता, निरंजन और निराकार की उपासना, सभ्यता और संस्कृति को सुन्दर से सुन्दर और कोमल से कोमल बनाने का प्रयास, ये ऐसे कार्य नहीं हैं जिनका कोई स्थूल उद्देश्य ढूँढ़ा जा सके। यह बिल्कुल स्वाभाविक था कि रवि बाबू का कला-सम्बन्धी दृष्टिकोण भी इस परंपरा के स्वभाव से मिलता-जुलता हो। कला की परिभाषा करते हुए उन्होंने कहा है कि आत्म-रक्षा अथवा जाति-रक्षा के लिए जितने ज्ञान और प्रयास की आवश्यकता है उतना ज्ञान और प्रयास मनुष्य तथा पशु में समान रूप से पाया जाता है। किन्तु, इस आवश्यकता की परिधि से बाहर भी एक भूमि है जिसमें पशु नहीं जा सकता, केवल मनुष्य ही जाता है और अपने ज्ञान तथा प्रयास के द्वारा इस भूमि में वह जो आनन्द उठाता है वह उसके "बायोलॉजिकल" अस्तित्व या विकास के लिए तनिक भी आवश्यक नहीं है। इस आनन्द का लक्ष्य केवल आनन्द है। दृष्टान्त देकर विषय को स्पष्ट करते हुए उन्होंने यह भी कहा है कि यह बहुत कुछ वैसी ही बात है जैसे कोई व्यक्ति इतना धनी हो जाय कि अपनी जरूरतें पूरी करने के बाद भी उसके पास बहुत-सा धन बच रहे। इस धन को वह अपने किसी उपयोग में तो नहीं ला सकता; फिर भी धन की स्थिति-मात्र से अपने को धनी समझने में जो एक सुख है, वह धन के उपयोग से प्राप्त होनेवाले सुखों से भिन्न होता हुआ भी सुख ही कहा जायगा। जो अनावश्यक है, जिसका कोई उद्देश्य नहीं, वही भूमि कला की जन्मभूमि है और उसी भूमि में कला विकास पाकर फूलती-फलती है। रवीन्द्रनाथ कला को इसी रूप में मानते थे और यद्यपि "कला के लिये कला" वाले सिद्धान्त की निन्दा उनके समय में खूब हो रही थी, मगर, वे बड़ी ही निर्भीकता

के साथ इस सिद्धान्त का समर्थन करते रहे। केवल समर्थन ही नहीं, अपनी तमाम कृतियों के भीतर उन्होंने अपना जो रूप रखा है, वह निरुद्देश्य गीत गानेवाले "पलातक बालक" का ही रूप है।

संसारे सबाइ यबे सारा क्षण शत कर्मे रत,
तूई शुधू छिन्नबाधा पलातक बालकेर मतो,
मध्याह्ने माठेर माझे एकाकी विषण्ण तरुछाये,
दूर गन्धवह मन्दगति तप्तवाये
सारा दिन बाजाइलि बाँशि।

[चित्रा : एबार फिराओ मोरे।]

रवीन्द्रनाथ को विरासत में जो दुनिया मिली थी अथवा जिस विश्व की उन्होंने अपने लिए रचना की थी वह आनन्द और सौन्दर्य का विश्व था। यह वह दुनिया है जिसे धूल और धुएँ से कोई वास्ता नहीं, यह वह संसार है जहाँ लोहे और पत्थर भी पिघलकर चाँदनी बन जाते हैं। मगर, धरती का चीत्कार भी असर रखता है और कलाकार चाहे जहाँ भी जाकर छिप जाय, वह इस चीत्कार को सुने बिना नहीं रह सकता। रवीन्द्रनाथ की चेतना अत्यन्त विकसित थी, अतएव, यह चीत्कार उन्हें स्वदेशी-आन्दोलन से भी बहुत पूर्व, उन्नीसवीं सदी में ही सुनायी पड़ा था जबकि अपने आपको संबोधित करते हुए उन्होंने लिखा था—

ओ रे, तूई ओठ आजि,
आगुन लेगेछे कोथा ? कार शंख उठियाछे बाजि
जागाते जगत जने ? कोथा होते ध्वनिछे क्रन्दने
शून्यतल ? कौन अन्धकारा माझे जर्जर बन्धने
अनाथिनी मांगिछे सहाय ?

× × × ×

कवि, तबे उठे एसो यदि थाके प्राण,
तबे ताई लहो साथे, तबे ताई करो आजि दान।

बड़ो दुःख, बड़ो व्यथा, सम्मुखेते कष्टेर संसार
बड़ोई दरिद्र, शून्य, बड़ो क्षुद्र, बद्ध अन्धकार।

× × × ×

स्वर्गेर अमृत लागि तबे धन्य हबे मोर गान,
शत-शत असंतोष महागीते लभिबे निर्वाण।

[चित्रा : एबार फिराओ मोरे।]

'एबार फिराओ मोरे' नामक जिस कविता से ये उद्धरण लिये गये हैं, उससे स्पष्ट झलकता है कि रवि बाबू को देश की पीड़ाओं की बड़ी ही तीव्र अनुभूति हुई थी और उनमें यह उमंग भी पैदा हुई थी कि बड़े-बड़े आदर्शों के हवाई महल को छोड़कर नीचे के अपार लोगों के आँसू में आँसू मिलाना भी कोई हेय कर्म नहीं है। "कहो कि अपना दुःख मिथ्या है, अपना छोटा सुख भी मिथ्या है। जो व्यक्ति स्वार्थ में निमग्न होकर बड़े जगत से दूर रहता है, उसने अभी जीना नहीं सीखा।" कविता पढ़ते-पढ़ते यह आशा बँध जाती है कि जब आरम्भ इतना बेधक और क्रान्तिकारी है तब अन्त में भी कोई ठोस चीज अवश्य मिलेगी जिसकी रोशनी में इन पीड़ाओं का निदान खोजा जा सके। किन्तु, ऐसे पाठकों की आशा पूरी नहीं होती। ज्यों-ज्यों कवि कविता की समाप्ति के पास आता है, त्यों-त्यों वह साकारता से उठकर निराकारता के बीच छिपने लगता है तथा अन्त में वह केवल यह कहकर छुट्टी ले लेता है कि जीवन की सारी तृषाएँ एक महागान में तृप्ति पायेंगी। "शत-शत असन्तोष महागीते लभिवे निर्वाण"। यह रवीन्द्रनाथ की अपनी विशेषता है। वे पथ-प्रदर्शन की जिम्मेवारी लेने से घबराते हैं। मनुष्य की पीड़ाओं की ऐसी मार्मिक अनुभूति कर लेने के बाद भी, वे कर्म की प्रत्यक्ष प्रेरणा नहीं दे सकते, केवल मानवता के लिए बलिदान करनेवालों की ऊँची प्रशस्ति गाकर लौट जाते हैं। उनकी दृष्टि में कला का साम्राज्य यहीं तक है। इसके बाद की भूमि प्रचारकों की भूमि है, उपदेशकों का क्षेत्र है। कला तो अनावश्यकता की बेटी ठहरी। वह मनुष्य की आवश्यकतावाली परिधि के उसी पार रहती है। जिस लक्ष्मणरेखा के भीतर जीवन की आवश्यकताएँ घिरी हुई हैं, उसे लाँघकर भीतर

आने में कला को भय लगता है कि कहीं उसका रूप विकृत नहीं हो जाय। कवि के लिए विश्व-वेदना की अनुभूति भी स्वाभाविक है। किन्तु, इस अनुभूति से भी उसे एक प्रकार का आनन्द ही लेना है, जो कला और अभिव्यक्ति का आनन्द है।

"साहित्य की आत्मा आनन्द है—और वह भी ऐसा आनन्द जिसमें किसी भी उद्देश्य की गन्ध नहीं होती।"[१]

और जो बात रवीन्द्रनाथ कला के बारे में कहते हैं वही व्यक्तित्व के बारे में भी, क्योंकि, उनके मतानुसार कला और व्यक्तित्व एक ही वस्तु के दो नाम हैं और दोनों ही उसी भूमि में विकास पाते हैं जो भूमि अनावश्यक या Superfluous है। जब तक मनुष्य आवश्यकता की परिधि से बाहर नहीं निकलता, तब तक न तो उसकी कला का निखार होता है और न उनका व्यक्तित्व ही बन पाता है।

"वैयक्तिक मनुष्य का अस्तित्व ही उस लोक में होता है जहाँ पहुँचकर हम शरीर और मन, दोनों को, सभी प्रकार की आवश्यकताओं से मुक्त हो जाते हैं, जो लोक उपयोग और मसलहत की दुनिया से कहीं ऊँचा और महान है।"[२]

इस प्रसङ्ग को भी उन्होंने दृष्टान्तपूर्वक समझाते हुए लिखा है कि स्त्री का व्यक्तित्व माता, बहिन या सखी-रूप में नहीं, बल्कि, उसकी प्रसन्न मुद्रा में, उसकी सजधज की रंगीनी में तथा उसकी गति की भंगिमा और अदा में है।

"नारी का जो असली रूप है, वह उसकी सजधज की चित्रमयता तथा वाणी एवं गति की संगीतमयता में प्रकट होता है। नारी क्या है, इस जिज्ञासा का समाधान उसके उपयोगी होने में नहीं, बल्कि, उसकी आनन्दमयी मुद्राओं में मिलेगा।"[३]

---

१ Enjoyment is the soul of literature—the enjoyment which is disinterested. [Personality : By Rabindra Nath Tagore.]

२ Personal man is found in the region where we are free from all necessity, above all needs, both of body and mind, above the expedient and the useful. [Personality.]

३ She has to be picturesque and musical to make manifest what she truly is. She is not to bo judged merely by her usefulness. but, by her delightfulness. [Personality : what is art.)

और योद्धा का व्यक्तित्व भी उसके युद्धकौशल में नहीं होता ! युद्ध तो एक आवश्यक कृत्य है, अतएव, उसके भीतर से योद्धा के व्यक्तित्व की अभिव्यंजना संभव नहीं हो सकती । व्यक्तित्व की अभिव्यंजना के लिए उसे बाजे चाहिए, सजावट और पोशाक चाहिए ।

"योद्धा में जो योद्धा होने की एक तीव्र चेतना है उसकी अभिव्यक्ति के बिना उसका व्यक्तित्व व्यंजित नहीं हो पाता, यद्यपि, इस चेतना की अभिव्यक्ति केवल अनावश्यक ही नहीं, कभी-कभी आत्मघातक भी हो सकती है ।"[१]

जहाँ तक मुझे मालूम है, रवि बाबू के इस विचार में कभी कोई परिवर्त्तन नहीं हुआ । आज के युग में कला के सम्बन्ध में ऐसा विचार रखना संसार-भर के आलोचकों को अपने सिर के बाल नोचने का निमन्त्रण देना है । और तब भी जिस हिम्मत और सफाई के साथ रवि बाबू अपने वाक्यों का प्रमाण छोड़ गये हैं, वही इस बात का सबूत बन जाती है कि कला को वे शुद्ध आनन्द का साधन और पर्याय मानते थे ।

"कार्य से मुझे भगवान के हाथों सम्मान और गीत से उनका प्रेम प्राप्त होता है ।"[२]

इससे व्यंजित होता है कि रवि बाबू कर्म की महत्ता को अस्वीकार नहीं करते । किन्तु, दूसरी पंक्ति यह भी बतला देती है कि गान उन्हें अन्य किसी भी कर्म की अपेक्षा अधिक प्रिय है ।

और गान से रवीन्द्रनाथ का तात्पर्य केवल उन्हीं कविताओं से है जिनमें कर्म की प्रेरणा नहीं होती, जो मनुष्य को आनन्द छोड़कर और कुछ नहीं देती हैं । अनुवाद की तो कोई बात ही नहीं, रवीन्द्र गद्य की अपेक्षा अपनी कविताओं में महान हैं और कविताओं से भी बढ़कर उनकी महत्ता उनके गीतों में निखरी

---

१ He must give expression to the heightened consciousness of the warrior in him which is not only unnecessary but in some cases suicidal. (Personality : what is art.)

२ God honours me when I work.
He loves me when I sing. (Tagore's Birthday number.)

है। गीत, शायद, कविता का निचोड़ होता है। कथानक नहीं, कोई ऊँचा विचार नहीं, उपदेश और ज्ञानोद्गार नहीं, स्थिति और चरित्र-चित्रण भी नहीं, फिर भी गीत न जाने कैसे निकल आते हैं, क्यों वे कलेजे को इस कदर बेधते हैं और कैसे उनकी उम्र इतनी लम्बी होती है। बिहारी के दोहे जैसे गर्दन घुमाने, नासिका मोड़ने अथवा नृत्य की भंगिमा से घूम जाने की अदा की तसवीर लिये आज तीन सौ वर्षों से ताजे चले आ रहे हैं, उसी प्रकार गीत भी, अधिक से अधिक, कवि की किसी मनोदशा को लेकर प्रकट होते हैं, वैसी ही मनोदशा पाठकों में उत्पन्न करके प्यारे बन जाते हैं और उसी मनोदशा को ताजा रखने के कारण जीवित रहते हैं। गीतों के भीतर ज्ञान की कोई बात नहीं रहती और न उनके अर्थों का कोई निश्चित आकार ही ठीक से पकड़ में लाया जा सकता है। गीत कवि के मन की एक तरह की बेचैनी की तसवीर है। स्मृति का दर्शन, सौन्दर्य की चोट, किसी अस्पष्ट उमंग की एक लहर अथवा मन का कोई धुँधला आवेग, ऐसी कोई भी बात कवि के भीतर एक प्रकार की मनोदशा को उत्पन्न करती है जिसकी अभिव्यक्ति शब्दों की ताकत के बल पर नहीं की जा सकती, क्योंकि किसी भी भाषा में ऐसे शब्द नहीं होते जो मनुष्य की इतनी सूक्ष्म मनःस्थिति को ठीक-ठीक चित्रित कर सकें। फिर भी कवि जो शब्दों के माध्यम से ही उसे व्यक्त कर पाता है वह इसलिये कि शब्दों के साथ केवल अर्थ ही नहीं होते, उनमें गीतमयता और नाद भी होता है। असल में, गीतों में नाद और अर्थ एकाकार हो जाते हैं, जैसा कि अक्सर संगीत में हुआ करता है। अथवा यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि शब्द, जो अन्य कविताओं में वर्णन का साधन रहते हैं, गीतों में आकर खुद ही साध्य बन जाते हैं। मानना होगा कि काव्य की भूमि में सफल गीतों की रचना बहुत ही बारीक काम है, क्योंकि यहाँ कवि का चिन्तन और ज्ञान उसका सहायक नहीं होता, बल्कि, उसे केवल उन्हीं शक्तियों से काम लेना पड़ता है जो उसे अन्य प्रकार के कलाकारों से भिन्न करती हैं। रवीन्द्र की कवि-प्रतिभा अथवा उनके बहुत बड़े कलाकार होने में जिन्हें संदेह हो वे एक बार उनके गीतों के कुंज में प्रवेश करें जहाँ कविगुरु की शक्ति अपने पूरे चमत्कार के साथ विराजमान है।

अपनी शिक्षा-दीक्षा, नति और मति से रवीन्द्रनाथ जिस दुनिया के लिये तैयार हुए, वह इल्म नहीं, हुनर की दुनिया थी; वह कर्म नहीं, चिन्तन का जगत था; वह ज्ञान नहीं, गान का संसार था। रवीन्द्र-साहित्य के भीतर प्रवेश करने पर कर्म और कोलाहल का विश्व पीछे छूट जाता है। वहाँ आँसू नहीं, स्वेद नहीं, चीख और चिल्लाहट नहीं और न मध्याह्न के सूर्य का जलता हुआ ताप है। रवीन्द्र शीतलता के कवि हैं। वे मनुष्य या प्रकृति में दाह के अस्तित्व को तटस्थ भाव से नहीं देख सकते। अपनी एक कविता में रवि बाबू ने ग्रीष्मकाल की दोपहरी के जलते हुए सूर्य का चित्र खींचना चाहा है, किन्तु, दो-तीन पदों के बाद ही, आकाश में पद्मासन पर बैठे हुए शीर्ण संन्यासी के त्राटक की मुद्रा में तने हुए रक्तनेत्र तथा नीचे प्यास से फटी हुई पृथ्वी को देखकर, वे, मानों, अपनी कल्पना से आप ही घबरा उठे हैं और तुरन्त ही प्रार्थना आरम्भ कर दी है :—

हे वैरागी, करो शान्तिपाठ ;
तोमार गेरुआ वस्त्रांचल
दाउ पाति नभस्तले विशाल वैराग्ये आवरिया
जरा-मृत्यु-क्षुधा-तृषा, लक्ष कोटि नरनारि-हिया चिन्ताय विकल।

रवीन्द्रनाथ मधुरता के ऐसे उपासक हैं कि भगवान का भी माधुर्यहीन ऐश्वर्य उन्हें अधिक काल तक अपने में नहीं रमा सकता।

धूप को चाँदनी में बदलने की ख्वाहिश, मध्याह्न के जलते हुए आकाश को सांध्य सूर्य के गैरिक वसन से ढँक देने की चाह तथा कोलाहल से भरे विश्व को शान्ति की शुभ्र चादर से आवृत कर देने की कामना रवीन्द्रनाथ की अपनी विशेषता है। प्रकृति की क्रियाओं के भीतर व्याप्त जिस सनातन नियम का उन्हें पता चला है, वह नियम शान्ति का नियम है, वह नियम सामञ्जस्य और सौन्दर्य का नियम है, वह नियम मनुष्य-मनुष्य के बीच एकता और सहानुभूति की सत्ता का नियम है। जहाँ भी मनुष्य-मनुष्य का संगम है, जहाँ भी मनुष्य के व्यक्तित्व को गौरव, विस्तार और अनन्तता प्रदान करनेवाले उपकरण हैं, वे सभी स्थल रवीन्द्रनाथ के प्राणों के पहचाने हुए हैं। इसके विपरीत, जातिरक्षा, देशरक्षा, समाजरक्षा और

आत्मरक्षा के लिए किये जानेवाले सारे प्रयत्न आवश्यकता के वृत्त में पड़ते हैं। अत-एव, वे छोटे और उपेक्षणीय हैं। इस आवश्यकता की परिधि के बाहर जो अनावश्यक आनन्द की भूमि है, रवीन्द्र उसी भूमि में रहते हैं। यह वह भूमि है जहाँ कला का कोई उद्देश्य नहीं, जहाँ आदमी का विकास संघर्ष के तनाव में कसे रहने से नहीं, बल्कि, अपने हाथ से छूट जाने के कारण होता है। धूल, धूम, कोलाहल और कर्कशता से पूर्ण इस गोचर विश्व के बीच अनन्तकाल से एक और विश्व चला आ रहा है जिसे रूप नहीं है, जो उन लोगों की रचना है जो वास्तविकता को अपने व्यक्तित्व के माधुर्य से दबा सकते हैं, जिनकी कल्पना में काँटा भी फूल रऔ पत्थर भी पानी हो जाता है। वास्तविकता की उपेक्षा करके आनन्द की वायु में झूलनेवाली वह अनोखी दुनिया जिसमें बैठकर कवि सुख से यह कह सके कि :—

आज कोनो काज नय, सब फेले दिये
छन्दोबन्ध, ग्रन्थगीत, एसो तूमि प्रिये,
आजन्म साधना-धन, सुन्दरी आमार
कविता, कल्पना-लता। [मानस-सुन्दरी : सोनार तरी।]

यह कला के एक रूप की बात हुई जिसकी प्रक्रिया सौन्दर्य का विधान और जिसका लक्ष्य निरुद्देश्य आनन्द है। यह वह कला है जो हमें संसार के कोलाहल से ऊपर ले जाकर जीवन के उस रूप का दर्शन कराती है जिसमें शान्ति, सुषमा और सामंजस्य ही सामंजस्य है। मगर जिन्दगी में केवल शान्ति, सुषमा और सामंजस्य ही नहीं हैं, वहाँ संघर्ष की ज्वाला, अशान्ति का कोलाहल और वैषम्य के घात-प्रतिघात भी हैं और कला उनकी भी अभिव्यक्ति कर सकती है।

इकबाल

रवीन्द्रनाथ में भारतीय समाज की संघर्ष-भावना, हलचल और अशान्ति तथा वैषम्य के घात-प्रतिघातों की सीधी और बेधक अभिव्यक्ति क्यों नहीं हुई, इस बात की व्याख्या उस प्रसंग में की जा चुकी है जिस प्रसंग में यह बतलाया गया है कि उनके उद्भव और विकास की पृष्ठभूमि क्या थी। रवीन्द्रनाथ ने

कर्म को प्रेरित करने के उद्देश्य से कुछ भी नहीं लिखा, क्योंकि, जिन परिस्थितियों ने उन्हें उत्पन्न किया था वे कर्म की अपेक्षा ज्ञान और आनन्द के अधिक समीप थीं। किन्तु, इकबाल का जन्म एक सर्वथा भिन्न परिस्थिति के कारण हुआ था, अतएव, उनके भीतर कला भी एक सर्वथा भिन्न रूप में प्रकट हुई। वे समाज का मनोरंजन करने नहीं, बल्कि, उसके रूप को बदलने आये थे, इसलिये, यह आवश्यक था कि उनकी कला में रंगीनी कम, बेधकता अधिक हो ; मन को मोहनेवाली खूबसूरती थोड़ी, दिल को झकझोरनेवाली ताकत अपार हो तथा उसमें मम्मट की 'सद्यः परिनिर्वृत्ति' के अंश अल्प एवं 'कान्तासम्मित उपदेश' की मात्रा ज्यादा हो। कला के इन दो रूपों में कौन श्रेष्ठ और कौन हीन है, इस पर फतवा देने की कोशिश मुझे बेकार मालूम होती है, क्योंकि कविता के कलाकार को अपने आप पर उतना बस नहीं होता जितना संगीतज्ञ के समान कुछ अन्य कलाकारों को होता है। प्रेरणा की लहर पर चलनेवाला कवि पंडितों के हाथों ज्यादा नम्बर पाने के उद्देश्य से अपने आपको किसी धारा-विशेष के साथ बाँधकर नहीं रख सकता। क्रोसे की अगर कोई बात मुझे सबसे अकाट्य दीखती है तो वह यह है कि कला में विषयों का चुनाव नहीं होता। जिस प्रकार, प्रत्येक कविता लिखने के समय कवि किसी अनिर्वचनीय प्रेरणा के अधीन होता है, उसी प्रकार, उसके समस्त जीवनव्यापी भाव अथवा संदेश पूर्व से ही निश्चित रहते हैं और उन्हें छोड़कर वह अन्यत्र नहीं जा सकता। कविता लिखना हमेशा सधे हुए गले से मनचाही आवाज निकालने के समान अपने बस की बात नहीं होती। उसमें कुछ संयोग और जुएवाली भी कैफियत है जिसे कवि लाख कोशिश करने पर भी नियंत्रण में नहीं ला सकता। चाहे ऐतिहासिक प्रक्रिया के प्रभाव के कारण हो अथवा शिक्षा-दीक्षा और संस्कार के कारण, किन्तु, प्रत्येक योग्य कवि का कोई एक निश्चित क्षितिज बन जाता है जिससे उसके भाव उतरा करते हैं। उसके भीतर कोई एक शासिका-शक्ति पैदा हो जाती है जिसकी वह अवहेलना नहीं कर सकता। किसी कवि पर यह लांछन लगाना कि उसने अपने विषय

का ठीक चुनाव नहीं किया, बहुत कुछ वैसी ही बात है जैसे किसी आदमी से यह कहना कि वह अपनी इच्छा के अनुसार जन्म क्यों नहीं ले सका। और शास्त्राचार्यों के इस प्रकार के निर्णय से कुछ आता-जाता भी नहीं है। टेकनीसियन की प्रशंसा कोई अनुचित प्रशंसा नहीं होती, मगर, टेकनिक की कसौटी को ठोंक-पीटकर सदा के लिए एकरूप कर छोड़ना साहित्य में नवीनता के द्वार को अवरुद्ध करना है। कोई नया कलाकार या कवि केवल यह कह देने से कवि और कलाकार की श्रेणी से बाहर नहीं किया जा सकता कि वह उस कसौटी पर खरा नहीं उतरता है जिस पर पहले की कृतियाँ कसी जा चुकी हैं। संभव है, पहले की कृतियाँ उन परिस्थितियों के जवाब में नहीं जन्मी हों जो पहाड़ों का उन्मूलन और आसमान को समेटकर मुट्ठी में बन्द करना अपना लक्ष्य समझती हैं। संभव है, उन्हें उस भावना से पाला ही नहीं पड़ा हो जो वास्तविकता की छाती से निकलनेवाले चीत्कार को अपना गीत बनाना चाहती है। जिनके आगमन से दुनिया डावाँडोल होने लगती है, पेड़ के पुराने पत्ते झरने और मृत्यु की ठंढी राख सुगबुगाने लगती है, उनकी कृतियों को केवल टेकनिक की कसौटी पर कसकर यह फतवा देना कि वे ऊँचे या छोटे कवि हैं, बड़ी ही हिम्मत का काम है।

"कोई कृति साहित्य है या नहीं, इसका फैसला तो साहित्यिक मानदंडों से ही होता है, किन्तु, साहित्य की उच्चतम कृतियों की पहचान केवल साहित्यिक मानदंडों से ही नहीं की जा सकती।"†

समय जब अपने लिए नई तलवार बनाना चाहता है तब वह नये-नये भावों को रूप देने के लिए नये कवि और कलाकार पैदा करता है जो प्राचीन भाव-धाराओं को मोड़कर अथवा नयी भावधाराओं की ईजाद करके समय की प्रगति में सहायक होते हैं। इस दृष्टि से समय की ताकत बहुत बड़ी चीज है और वह

† The greatness of literature cannot be determinea solely by literary standard, though, we must remember that whether it is literature or not can be determined by literary standard only.
[Eliot.]

साहित्य की शैली को भी प्रभावित करती है। जब शैली की भूमि में नवीनता की आभा पड़ती हो अथवा जब कोई महान कवि या कलाकार हमसे यह माँग करता हो कि तुम काव्य-सम्बन्धी अपनी धारणा में थोड़ी तरमीम लाओ, तब उचित यही है कि हम सोच-समझकर यह संशोधन स्वीकार कर लें अन्यथा जनता और काव्यशास्त्र के बीच कोई मेल नहीं रह जायगा। शास्त्राचार्य एक चीज कहें और जनता अपनी भक्ति ठीक उलटी चीज को अर्पित करे, इससे तो अधिक शोभाजनक और सत्यसमन्वित कार्य यह होगा कि शास्त्रविद् सचाई के हृदय से निकलनेवाली नई आवाज की कद्र करें और उसे वह स्थान देने में हिचकिचाहट नहीं दिखलायें जिसकी वह अधिकारिणी है।

जिस प्रकार, रवि बाबू के कलाविषयक विचार उनके शान्तिप्रेम और विश्ववाद-विषयक विश्वासों से प्रभावित हैं, उसी प्रकार, इकबाल के कला-सम्बन्धी सिद्धान्त उनकी संघर्ष-प्रियता से जन्मे हैं। इकबाल यह नहीं मानते कि शान्ति और निश्चेष्टता मनुष्य के स्वाभाविक धर्म हैं। वे यह भी नहीं मानते कि कला अथवा कलाकार का व्यक्तित्व उस भूमि में उत्पन्न होता है जो Superfluous या अनावश्यक है। इस सम्बन्ध में उनकी उक्तियों से जो सार ध्वनित होता है वह, कदाचित्, इस प्रकार रखा जा सकता है कि मनुष्य का व्यक्तित्व शान्ति नहीं, संघर्ष से विकसित होता है और कला इसी संघर्ष की अभिव्यक्ति है। इस प्रकार, इकबाल के मतानुसार, कला जीवन से निकलकर फिर जीवन को ही प्रभावित करती है। अतएव, कला की उन्नति और विकास की पहली शर्त यह है कि कलाकार का जीवन उन्नत और शक्तिशाली हो। जो जाति जितनी बड़ी है, उसकी कला भी उतनी ही ऊँची और महान होती है। कला एक प्रकार की निर्झरिणी है जो हमारे हृदयों से फूटकर फिर हमें ही अभिषिक्त करती है। इसलिए, अगर हमारी भीतरी हालत ठीक नहीं है तो जो रोग इस निर्झरिणी के साथ बाहर निकलता है वही फिर लौटकर हममें वापस आ जाता है। ऐसी अवस्था में कला जीवन का अभिशाप हो जाती है और वह जातियों को और भी कमजोर बना देती है।

जिस प्रकार, अपने स्तर पर रवीन्द्रनाथ ने कला और व्यक्तित्व के बीच अन्योन्य सम्बन्ध का होना स्वीकार किया है, उसी प्रकार, एक भिन्न दिशा में इकबाल भी कला और व्यक्तित्व को एक दूसरे से सम्बद्ध मानते हैं। "असरारे-खुदी" नामक अपने फारसी काव्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि की व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा है कि "सभी जीवन का रूप वैयक्तिक होता है, विश्वजीवन जैसी किसी चीज का वजूद नहीं है। स्वयं परमात्मा भी एक व्यक्ति है, यद्यपि, उसका व्यक्तित्व अन्य सभी व्यक्तित्वों से अनोखा और भिन्न है। यह सारी सृष्टि व्यक्तियों के एक बृहत् समूह के समान है और हम सब उस महान और अनूठे व्यक्तित्व का अनुकरण कर रहे हैं।" परमात्मा के महान् व्यक्तित्व में अपने व्यक्तित्व के लय कर देने को सभी धर्मों ने मनुष्य का चरम लक्ष्य माना है, किन्तु, इकबाल इस दर्शन को स्वीकार नहीं करते। वे कहते हैं, मनुष्य को अपने भीतर ईश्वरीय गुणों का विकास करना चाहिए जिससे कि वह खुद भी ईश्वर के समान हो जाय। 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' यह वेदान्त की भी घोषणा है। किन्तु, इकबाल इस अवस्था से भी आगे बढ़कर मनुष्य से यह कहना चाहते हैं, कि तू अपने आप का इतना विकास कर कि तू इस दुनिया में नहीं, बल्कि, यह दुनिया ही तुझ में खो जाय और स्वयं भगवान की इच्छा तेरी इच्छा में विलीन हो जाय।

खुदी को कर बलन्द इतना कि हर तकदीर से पहले,
खुदा बन्दे से खुद पूछे बता तेरी रजा क्या है ?

[बाँगे-दरा]

जँचते नहीं कंजश्को-हमाम इसकी नजर में,
जिबरीलो-सराफील का सैयाद है मोमिन।

[बाले-जिबरील]

काफिर की ये पहचान कि आफाक में गुम है,
मोमिन की ये पहचान कि गुम इसमें हैं आफाक !

[बाले-जिबरील]

मनुष्य का यह विकास केवल शान्ति-सेवन और निवृत्ति की आराधना से नहीं हो सकता। इसके लिए तो उसे निरन्तर संघर्ष करना चाहिए। जीवन के विकास का मार्ग निवृत्ति नहीं, प्रवृत्ति है। वास्तविकता से पीठ फेर लेना अपने पौरुष का आप ही अपमान करना है। व्यक्तित्व तो उसे कहते हैं जो इस वास्तविकता को अपने भीतर खींच कर पचा ले।

"मनुष्य का नैतिक और धार्मिक आदर्श निवृत्ति नहीं, प्रवृत्ति है और अपने इस आदर्श की प्राप्ति के लिए उसे अधिक से अधिक वैयक्तिक, औरों से अधिक से अधिक भिन्न और निराला होना पड़ता है।"[१]

जीवन बहुत सारी बाधाओं से घिरा हुआ है। जिन्दगी बहुत-सी शर्तों के अधीन है। सृष्टि में सबसे अधिक स्वतन्त्र व्यक्ति परमात्मा है। अतएव, परमात्मा तक पहुँचने के लिए हमें भी अपनी बाधाओं से मुक्त होना चाहिए। परमात्मा की कामना, असल में, अपनी मुक्ति की ही कामना है। इसलिए, मानवजीवन को स्वाधीनता अथवा मुक्ति के लिए किया जानेवाला अनवरत प्रयास समझना चाहिए।

और चूँकि जीवन का धर्म चेष्टा और प्रयास है, इसलिए, इकबाल व्यक्तित्व को संघर्ष अथवा तनाव की स्थिति कहते हैं और यह मानते हैं कि व्यक्तित्व की सत्ता तभी तक कायम रहती है जब तक यह तनाव ढीला नहीं होता।

"जिसे हम व्यक्तित्व कहते हैं, वह एक संघर्ष की अवस्था है और जब तक यह अवस्था बनी रहती है तभी तक मनुष्य में व्यक्तित्व का भी तेज रहता है।"[२]

जभी यह संघर्ष शिथिल होने लगता है, आदमी का व्यक्तित्व भी मन्द पड़ने लगता है। अपने भीतर संघर्ष की यह अवस्था पैदा करना मनुष्य की

---

१. The moral and religious ideal of man is not self-negation, but self-affirmation and he attains to this ideal by becoming more and more individual, more and more unique. [Secrets of the Self by R. A. Nicholson : भूमिका-भाग]

२. Personality is a state of tension and can continue only if that state is maintained. [Secrets of the Self by Nicholson]

सब से बड़ी सफलता है और जो चीजें इस तनाव को कायम रखती हैं, वे ही हमें अमरता की ओर ले जाती हैं तथा जो चीजें उसमें शैथिल्य उत्पन्न करती हैं, वे हमें मृत्यु की ओर ले जाती हैं। व्यक्तित्व का यही तनाव, निरन्तर संघर्ष में लीन रहने की यही मनःस्थिति इकबाल के सारे दर्शन का आधार है और इसी कसौटी पर वे कला, धर्म, नैतिकता और राजनीति, सभी का मूल्य आँकते हैं।[१]

इकबाल कहते हैं कि मनुष्य के सभी प्रयासों का लक्ष्य अपने जीवन को गौरवपूर्ण, सबल और समृद्ध बनाना है। आदमी की जितनी भी कलाएँ हैं, उन्हें इस एक लक्ष्य की अधीनता स्वीकार करनी ही चाहिए, क्योंकि सभी कलाओं की केवल एक कसौटी है कि उनमें जीवनदायिनी क्षमताओं का कितना प्राचुर्य है। इकबाल के मतानुसार सबसे बड़ी कला वह है जो हमारे भीतर सोई हुई इच्छा-शक्ति को जगाकर उसे कार्य की ओर प्रेरित करती है तथा हमारी शिराओं में चेतना भरकर हमें वीरतापूर्वक जीवन की कठिनाइयों का सामना करने को तैयार करती है। इसके विपरीत, जो भी कला हममें आलस्य भरती अथवा कल्पित सौन्दर्य के भुलावे में डालकर हमें जीवन से दूर ले जाती है, वह हीनता, विनाश और मृत्यु की कला है।

"जो भी चीजें हममें आलस्य और निद्रा का संचार करती हैं; जो भी चीजें हमारी आँखों से उस वास्तविकता को ओझल करती हैं, जिसे अधिकार में लाये बिना जीवन टिक नहीं सकता, वे सब की सब मृत्यु और विनाश लानेवाली हैं।"[२]

"कला के लिए कला"वाले सिद्धान्त का तिरस्कार करने में इकबाल को उतनी भी झिझक नहीं है जितनी झिझक कलावादियों को उसे स्वीकार करने में होती है। जो कला जीवन को प्रेरणा नहीं देती, उसे वे कथमपि स्वीकार करने के पक्ष में नहीं हैं।

---

१. That which fortifies personality is good, that which weakens it is bad- [Serets of the Self.]

२. All that brings drowsiness and makes us shut our eyes to reality around, on the mastery of which abone life depends, is a message of decay and death. [Secrets of the Self ; भूमिका-भाग]

"कला में अफीम-सेवन के लिए गुंजाइश नहीं होनी चाहिए। 'कला के लिए कला' का सिद्धान्त पतनशीलता का प्रपंचपूर्ण आविष्कार है और उसका ध्येय भुलावे में डालकर हमें अशक्त बनाना है जिससे कि हमारे हाथों का अधिकार दूसरों के हाथ में चला जाय।"[१]

निरुद्देश्यता, वायवीयता और कर्महीनता के साथ कला का जो परंपरागत संबन्ध रहा है और कला के जिस अपार्थिव रूप पर पंडितों और आलोचकों का अत्यधिक जोर रहा है, शायद, उसी को देखते हुए इकबाल ने जगह-जगह पर यह इंगित किया है कि मैं कवि नहीं हूँ, मेरी वाणी को केवल कविता के रूप में ग्रहण मत करो। जिस प्रकार, रवीन्द्र में धरती की पीड़ाएँ भी निराकार सुषमा का रूप धारण कर लेती हैं, उसी तरह, इकबाल में आकर सारी खूबसूरती का मकसद आदमी के भीतर कोई बड़ा भाव जगाना हो जाता है। रवीन्द्रनाथ की 'आज कोनो काज नय सब फेले दिये' वाली मुद्रा कहीं-कहीं इकबाल में भी मिलती है।

दुनिया की महफिलों से उकता गया हूँ या रब,
क्या लुत्फ अंजुमन में जब दिल ही बुझ गया हो? [बाँगे-दरा]

इस कविता में इकबाल एक शुद्ध कलाकार की तरह अपने हाथ से छूटे हुए-से प्रतीत होते हैं और वे घूम-घूमकर उन सुषमाओं का रस लेते हैं जो रवीन्द्र की अनावश्यक भूमि की सुषमाएँ हैं, जिनका उद्देश्य केवल आनन्द का दान है, जो आदमी को भुलाकर जिन्दगी से दूर ले जाने की ताकत रखती हैं और जिन पर सदियों से शुद्ध कलावादियों का समुदाय जी जान से लट्टू रहा है।

पानी को छू रही हो झुक-झुक के गुल की टहनी
जैसे हसीन कोई आईना देखता हो।
मेहदी लगाये सूरज जब शाम की दुल्हन को,
सुर्खी लिये सुनहरी हर फूल का कबा हो।

---

१. There should be no opium-eating in art. The dogma of art for the sake of art is a clever invention of decadence to cheat us out of power. [Secrets of the Self : भूमिका-भाग]

पच्छिम को जा रहा हो कुछ इस अदा से सूरज,
जैसे कोई किसी के दामन को खींचता हो।
जुल्मत झलक रही हो इस तरह चाँदनी में,
ज्यों आँख में सेहर की सुरमा लगा हुआ हो। [बाँगे-दरा]

मगर, ये सुषमाएँ इकबाल के मकसद पर परदा नहीं डाल सकतीं। जो चीज उनके दिल को जितना ही हिलकोरती है, वह उनके उद्देश्य को भी उतना ही तेज बनाती है। ये सुन्दरताएँ, शायद, मोहनी हैं जिन्हें दिखलाकर वे लोगों को अपने दिल की बात सुनने को तैयार करते हैं। ये छवियाँ, शायद, मम्मट की कल्पना की 'कान्ताएँ' हैं जिनके मुख से वे अपना दर्द लोगों के दिलों तक पहुँचाना चाहते हैं। 'एबार फिराओ मोरे' में रवीन्द्रनाथ ने स्थूल को लेकर क्रान्तिकारी की तरह आरम्भ किया, किन्तु, अन्त तक जाते-जाते वे निराकार की भूमि में चले गये। इसके प्रतिकूल, वर्त्तमान कविता को इकबाल कवि की तरह से आरम्भ करके उसे देशभक्त की तरह समाप्त करते हैं। यह उन दिनों की रचना है जब इकबाल खाँटी देशभक्त थे और जब अपने वतन की किस्मत पर रोने से बढ़कर उनके लिए और कोई प्यारा काम नहीं था। खूबसूरती की इस महफिल में घूमते-घूमते न जाने क्या सोचकर वे रो पड़ते हैं और जिस नज़्म में आनन्द और खुशी की ऐसी घटा उठी थी, वह नाले या रुदन में समाप्त हो जाती है।

दिल खोलकर बहाऊँ अपने वतन पै आँसू,
सरसब्ज जिसके नम से बूटा उमीद का हो।
इस खामुशी में जायें इतने बलन्द नाले,
तारों के काफले को मेरी सदा दरा हो।
हर दर्दमन्द दिल को रोना मेरा रुला दे,
बेहोश जो पड़े हैं, शायद उन्हें जगा दे। [बाँगे-दरा]

इकबाल ने जो खुलकर सोद्देश्य कला के पक्ष का समर्थन किया उससे इकबाल की मुखालफत करनेवाले आलोचकों के हाथ में एक तलवार तो अनायास ही आ गई; मगर, सब कुछ होते हुए भी हम उनकी सचाई से इनकार नहीं कर सकते।

अपनी रचनाओं से वे सहज ही यह प्रभाव उत्पन्न करते हैं कि उनमें कोई प्रज्वलित सत्य छिपा हुआ है जो बाहर आना चाहता है, उनके सामने कोई लक्ष्य है जिसे वे, शीघ्र से शीघ्र, प्राप्त करना चाहते हैं। महाकवि अथवा महान कलाकार कहलाने में जो सुख है, वह उनका ध्येय नहीं है।

जीना वो क्या जो हो नफसे-गैर पर मदार,
शुहरत की जिन्दगी का भरोसा भी छोड़ दे। [बाँगे-दरा]

काव्यकला का माध्यम उन्होंने इसलिये नहीं चुना कि आनन्दविधायक कलाकारों की पंक्ति में उन्हें इज्जत की जगह हासिल करनी थी, बल्कि, इसलिए कि उन्हें मुस्लिम-समाज का हृदय झकझोरकर उसे जाग्रत करना था और आदमी के दिल पर कब्जा करने की 'शार्टकट राह" कविता ही है। सिद्धान्त के स्तर पर कला को साधन तो सभी मानते हैं, मगर, आचार्यों की एक कमजोरी है कि वे कला को साध्य समझ लेने को भी कोई बड़ा दोष नहीं मानते। इकबाल ने कला को जीवन से कभी भी ऊपर नहीं माना। असल में, व्याख्या उन्हें जीवन की करनी थी, कला उसमें सहायता देने को आई। उनका आनन्द केवल अभिव्यक्ति का आनन्द नहीं है, वे उस अभिव्यक्ति को लोगों तक पहुँचाना भी चाहते हैं और कला का महत्त्व वे यह मानते हैं कि वह इस काम को बखूबी अंजाम दे सकती है। और उनका यह विश्वास बहुत सही निकला है ; क्योंकि रुदन और गर्जन, दोनों का, उनकी कला ने पूरी सफलता से वहन किया है। इकबाल के गरजते हुए भावों का साथ उनकी कला ने किस सहजता से दिया है, इसका उदाहरण 'शिकवये खुदा' का वह अंश है जहाँ इकबाल इस्लाम की गत गरिमाओं की याद करते हैं और उनका रुदन कला से मिलकर कितना रंगीन हो सकता था, इसका उदाहरण 'तस्वीरे-दर्द' की ये पंक्तियाँ हैं जिनमें उनके दिल की कचोट इन्द्रधनुष की सतरंगी साड़ी पहनकर सामने आई है।

उठाये कुछ वरक़ लाले ने, कुछ नरगिस ने, कुछ गुल ने,
चमन में हर तरफ बिखरी हुई है दास्ताँ मेरी।

उड़ा ली कुमरियों ने, तूतियों ने, अन्दलीबों ने,
चमनवालों ने मिलकर लूट ली तर्जे-फुगाँ मेरी।
टपक अय शमआ, आँसू बन के परवानों की आँखों से,
सरापा - दर्द हूँ, हसरत-भरी है दास्ताँ मेरी।
हुवेदा आज अपने जख्मे-पिनहाँ करके छोड़ूँगा,
लहू रो-रो के महफिल को गुलिस्ताँ करके छोड़ूँगा।
जलाना है मुझे हर शम-ए-दिल को सोजे-पिनहाँ से,
तेरी तारीक रातों को चिरागाँ करके छोड़ूँगा।
पिरोना एक ही तसबीह में इन बिखरे दानों को,
जो मुश्किल है तो इस मुश्किल को आसाँ करके छोड़ूँगा।

[बांगे-दरा]

भाषा और भाव, जब दोनों एक दूसरे से मिलने के लिए बेकरार होते हैं, तभी साहित्य में ऐसी अनमोल पंक्तियाँ लिखी जाती हैं। कलावादी की राय में यह कला का चमत्कार समझा जायगा और विषयवादी कहेंगे कि इसमें भाव की तीव्रता का चमत्कार है। परन्तु, सचाई यह है कि जब तक भाव और भाषा का भलीभाँति मेल नहीं हो जाय, तब तक काव्य में वह चमत्कार नहीं आता जिसे खकर रसिक मग्न और आलोचक मूक हो जाते हैं।

जिस प्रकार, रवीन्द्र का कला-सिद्धान्त उनके जीवन-दर्शन में गुँथा हुआ है, उसी प्रकार, इकबाल के भी कलासम्बन्धी विचार उनके दर्शन से ही आये हैं। मगर, दोनों महाकवियों के दृष्टिकोण में बड़ा हो भेद है। रवीन्द्र शान्ति के प्रेमी, सुन्दरता के पुजारी और भगवान के विनम्र भक्त हैं। उनकी अन्तिम कामना है, शान्ति के समुद्र में बहते हुए परमात्मा की शरण में पहुँच जाना।

सम्मुखे शान्ति-पारावार,
भासाओ तरणी हे कर्णधार !

मगर, इकबाल की कल्पना संघर्ष से तनी हुई उद्दाम पुरुष की कल्पना है, और आदि से अन्त तक अङ्गारों की तरह जीकर वे भगवान के पास भी इसी रूप

में पहुँचना चाहते हैं, जिससे भगवान से उन्हें अपनी खता की माफी करानी नहीं पड़े, उलटे, भगवान ही उनसे पूछे कि बता, तुम्हारी क्या इच्छा है। और इकबाल की सौन्दर्यभावना भी उनकी संघर्ष और शक्तिवाली भावना से अलग नहीं है। वे किसी भी ऐसे सौन्दर्य को स्वीकार नहीं करते जिसके भीतर सुन्दरता के साथ शक्ति का भी मेल नहीं हो, जिसके चारों ओर जिन्दगी की चिनगारियाँ नहीं छिटक रही हों।

न हो जलाल तो हुस्नो-जमाल बेतासीर,
निरा नफस है अगर नग्मा न हो आतिशनाक। [बाले-जिबरील]

और तो और, इकबाल कहते हैं कि अगर मुझे नरक में जाना पड़ा तो वहाँ भी मैं उस आग को तो कभी बर्दाश्त नहीं करूँगा, जिसके शोले बेबाक और तेज नहीं हों।

मुझे सजा के लिए भी नहीं कबूल वह आग,
कि जिसका शोला न हो तुन्दो-सरकशो-बेबाक। [बाले-जिबरील]

रवीन्द्र कण-कण में परमात्मा की विभूति का दर्शन करनेवाले रसस्निग्ध कवि हैं तथा वे आकाश के संदेश को पृथ्वी की पहुँच में लाते हैं।

एई ये तोमार प्रेम ओगो हृदयहरण,
एई ये पाताय आलो नाचे सोनार वरण। [गीतांजलि]
चित्त आमार हारालो आज मेघेर माझखाने,
कोथाय छूटे चलेछे से कोथाय के जाने? [गीतांजलि]

प्रकृति में परमात्मा की विभूतियों के दर्शन इकबाल ने भी किये हैं और उनके चित्रण से इकबाल की सूफियाना मुद्रा काफी खुशनुमा और रङ्गीन भी हुई है। मगर, उनके कला-सम्बन्धी सिद्धान्तों को समझने में वे कविताएँ सहायक नहीं होतीं जिनमें अनन्तता की झिलमिलाहट अथवा कल्पना की रङ्गीनी आशकार हुई है। इस प्रसंग में तो उनकी वे रचनाएँ ही उपयोगी और महत्त्वपूर्ण हैं जिनमें उनके व्यक्तित्व का तनाव झलकता है, जिनमें वे मिट्टी की आग को आकाश की ओर भेजते हैं और पुरुष को यह संदेश देते हैं कि जहाँ भी कोई जोखिम और विरोध है, वहीं तुम्हारी क्रिया का भी क्षेत्र है।

मेरी नवाये-शौक से शोर हरीमे-ज़ात में,
ग़ौग़ाये-हाये-अल्ममा बुतकदा-वो-सिफात में,
हूरो-फरिश्ते हैं असीर मेरे तखैयुलात में।
मेरी निगाह से खलल तेरी तजल्लियात में। [बाले-जिबरील]
... ...
खतर-पसन्द तबीयत को साजगार नहीं,
वो गुलिस्ताँ कि जहाँ घात में न हो सैयाद। [बाले-जिबरील]

ऊपर के एक प्रसङ्ग में कहा जा चुका है कि १९वीं सदी का मुस्लिम-समाज अपनी तमाम उलझनों के निदान के लिए एक कवि की राह देख रहा था और वह कवि इकबाल के व्यक्तित्व में आया। अतएव, इकबाल को एक तरह से जिन्दगी की जरूरतों ने पैदा किया था। उनका दर्शन केवल पुस्तकीय दर्शन नहीं था। किताबों के साथ-साथ उन्होंने जिन्दगी का भी दूध पिया था और अपने जीवन-दर्शन का विधान करते हुए वे बराबर इस बात से अवगत रहे कि उन्हें, प्रधानतः, दुरवस्था में पड़े हुए मुस्लिम समाज का उद्धार करना है। अतएव, इस राह में जो-जो बाधाएँ आईं, उन्हें उन्होंने बड़ी ही बेरहमी से कुचल डाला। प्लेटो का निवृत्ति-मार्ग, हिन्दुत्व का मायावाद, बौद्धमत का शून्यवाद और मुस्लिम कवियों का रहस्यवाद, ये सभी चीजें इकबाल को बाधक मालूम हुईं और उन्होंने इन सबके प्रभाव से इस्लाम को मुक्त करने का ध्येय अपने सामने रख लिया। "असरारे खुदी" में प्लेटो के सिद्धान्तों का जो खण्डन उन्होंने किया है वह अनुवाद में भी बड़ा ही तेजस्वी और बेधक दीखता है।[1] इसी प्रकार का प्रहार उन्होंने हाफिज पर भी किया, क्योंकि उनका विश्वास था कि हाफिज-जैसे कवियों की गजलों के कारण भी इस्लाम के पौरुष का ह्रास हुआ है। जीवन की नश्वरता का चित्र खींचकर मनुष्य को अकर्मण्य अथवा विरक्त बनानेवाला दर्शन इकबाल की दृष्टि में मृत्यु का दर्शन है। अपने इस पक्ष का समर्थन करते हुए उन्होंने लिखा है कि :—

१—देखिये Secrets of the Self. Chapters VI & VII.

"प्लेटो का मैंने जो विरोध किया है वह, असल में, दर्शन के उन सभी सिद्धान्तों का विरोध है जो जीवन की जगह मृत्यु को अपना आदर्श मानते हैं। जीवन की सबसे बड़ी बाधा द्रव्य अथवा प्रकृति है। मगर, ये दर्शन इस मूलबाधा से ही आँखें फेर लेते हैं और मनुष्य को उसे जीतकर आत्मसात् करने के बदले उससे पीठ फेरकर भाग खड़े होने की सलाह देते हैं।"[१]

इसी प्रकार, हाफिज-जैसे मादक कवियों का अनुकरण करनेवाले कलाकारों के लिए भी उनके पास सिर्फ उपेक्षा, व्यंग्य और भर्त्सना के ही शब्द हैं।

इश्को-मस्ती का जनाज़ा है तखैयुल इनका,
इनके अन्देशये-तारीक में कौमों के मजार।
चश्मे-आदम से छिपाते हैं मोकामाते-बलन्द,
करते हैं रूह को खाबीदा बदन को बेदार।
हिन्द के शायरो ? सूरतगरो ? अफसाना नबीस ?
आह ! बेचारों के आसाब पै औरत है सवार।

[बाले-जिबरील]

संघर्ष और तनाव का कवि होने के कारण हम इकबाल को किसी असन्तोष की वृत्ति से बेचैन पाते हैं। कोई चीज है जिसकी जुस्तजू उन्हें सोने नहीं देती, कोई दृश्य है जिसे वे सब को दिखलाना चाहते हैं, उनके भीतर कोई आग है जिसे वे सबके दिलों में पहुँचाने को बेकरार हैं।

जवानों को सोजे-जिगर बख्श दे,
मेरा इश्क, मेरी नजर बख्श दे।
मेरी नाव गिरदाब से पार कर,
ये साबित है, तू इसको सैय्यार कर।

---

१. My criticism of Plato is directed against those philosophical systems which hold up death rather than life as their ideal-systems which ignore the greatest obstruction to life, namely matter. and teach us to run away from it instead of absorbing it.

[Secrets of the Self : भूमिका-भाग]

मेरे दीदये-तर की बेखाबियाँ,
मेरे दिल की पोशीदा बेताबियाँ,
मेरा दिल, मेरी रज्मगाहे-हयात,
गुमानों के लश्कर, यकीं का सबात ;
यही कुछ है साकी, मताये-फकीर,
इसीसे फकीरी में हूँ मैं अमीर।
मेरे काफले में लुटा दे इसे,
लुटा दे किनारे लगा दे इसे।

[साकीनामा : बाले-जिबरील]

ऐसी पंक्तियाँ कारीगरी से नहीं गढ़ी जातीं, वे तभी लिखी जाती हैं जब कलाकार के दिल में प्रेरणा की लहर और बेचैनी की आग होती है। सच पूछिये तो यह निरी कारीगरी से बहुत ऊपर की चीज है। यह वह अवस्था है जब जिन्दगी की धारा को बदलनेवाले कवि के भीतर नबी या पैगम्बर की मुद्रा प्रकट होती है और वह तीर की तरह समाज के हृदय को चीर डालना चाहता है।

संघर्ष और निरन्तर संघर्ष, सफर और जिन्दगी भर का सफर, यह इकबाल की कविता से बारबार ध्वनित होनेवाला एक संदेश है। वे मनुष्य को कहीं भी बैठने की इजाजत दे नहीं देते। आदमी का काम चलना है, तबतक चलना जबतक आगे की राह शेष हो।

तू रह नवर्दे-शौक है, मंजिल न कर कबूल,
लैला भी हमनशीं हो तो महमिल न कर कबूल।

[टीपू की वसीयत : बाले-जिबरील]

तथा

सितारों से आगे जहाँ और भी हैं,
अभी इश्क के इम्तिहाँ और भी हैं।
तू शाहीं है, परवाज है काम तेरा,
तेरे सामने आसमाँ और भी हैं। [बाले-जिबरील]

रवीन्द्र और इकबाल, दोनों, दो शिखरों के वासी हैं। किसी ने खूब कहा है कि रवीन्द्र शान्तिनिकेतन में रहते थे, किन्तु इकबाल ने अपने रहने का घर ज्वालामुखी के मुख पर बनाया था। यह उक्ति और किसी की नहीं, सआदत अली खाँ नामक एक मुस्लिम आलोचक की है[१] जिन्हें, शायद, यह भय था कि जिस दिन यह ज्वालामुखी फटेगा, इकबाल हवा में उड़ जायेंगे। ज्वालामुखी को फटे कई साल हो गये, मगर, यह विस्फोट इकबाल को हवा में नहीं उड़ा सका, वे तो अपने ही "स्प्लिंटर्स" पर चढ़कर लोगों के दिलों में जा पहुँचे हैं और वहाँ उस रूप में पूजित हो रहे हैं जिस रूप में कवियों की पूजा तब होती थी जब कि दुनिया आज की तरह जवान नहीं थी। रवीन्द्र और इकबाल को लेकर शैली और द्रव्य का झगड़ा उठाना भी बेकार है, क्योंकि, द्रव्य की समृद्धि रवीन्द्र में भी कम नहीं है और इकबाल की उक्तियाँ जो हम सबों को अभिभूत करती हैं, वह इस कारण नहीं कि हम उनके दार्शनिक दृष्टिकोण को स्वीकार करते हैं, बल्कि इसलिए कि उनमें साहित्य का चमत्कार है। शायद, रवीन्द्र और इकबाल से मिलनेवाले दो प्रकार के आनन्द दो रसों की भिन्नता का द्योतन करते हैं और, यद्यपि, विश्लेषण के समय इकबाल की कविताओं में रस-निष्पत्ति की सभी सामग्रियों को ढूँढ़ निकालना जरा कठिन काम होगा, लेकिन मैं मानता हूँ कि रवीन्द्र की रचनाओं में श्रृङ्गार का वातावरण है तथा उसका प्रधान फल चित्त की द्रुति और विकास है। इसके विपरीत, इकबाल की रचनाओं का वातावरण वीर रस का वातावरण है तथा हमारे चित्त पर उसका प्रभाव ओज और दीप्ति के रूप में पड़ता है। मगर, सच्ची बात यह है कि साहित्य में श्रृंगार का स्थान वीर रस से हमेशा ही ऊँचा रहा है। यह भी कि रवीन्द्र विश्वभर के कवि हैं और उनकी कविताओं से भारतवर्षसे बाहर के लोगों को भी उतना ही आनन्द मिल सकता है जितना भारतवासियों को। मगर, इकबाल, प्रधानतः, अपने धर्म के कवि हैं और उनकी कविताओं का एक संदेश तो सिर्फ उन्हीं के लिए है जो उनके धर्मबन्धु हैं। एक अन्य रूप में देखने पर रवीन्द्र और इकबाल के बीच वही भेद झलकता

१—Iqbal : the Poet and his message By Dr. S. Sinha Page 239.

है जो ताण्डव और लास्य में है। ताण्डव की उत्पत्ति शिव से हुई थी जब वे सती की मृत्यु से क्षुब्ध थे। लास्य का जन्म पार्वती से हुआ, जब वे प्रेम के कारण प्रसन्न थीं। ताण्डव की उत्पत्ति पहले हुई, लेकिन, वह नीरस और शुष्क निकला, तभी पार्वती ने कृपा करके लास्य का आविष्कार किया। कहते हैं, पुरुष भी पहले बना था, किन्तु, मानवता का पूरा चमत्कार उसमें नहीं निखर सका, तभी ब्रह्मा को लाचार होकर नारी-मूर्त्ति की रचना करनी पड़ी। तब से सभ्यता का रथ नारी और नर, दोनों के संतुलित योग से चलता रहा है। सत्य दोनों में से किसी एक के तिरस्कार में नहीं, प्रत्युत्, दोनों के समुचित सहयोग में है। जहाँ लास्य हो वहाँ ताण्डव भी रहेगा, जहाँ ताण्डव है वहाँ लास्य को भी स्थान मिलना चाहिए। क्योंकि,

> विश्वे या किछु महान, सृष्टि-चिर-कल्याण-कर,
> अर्धेक तार करियाछे नारी, अर्धेक तार नर। —नजरुल